श्रीसर्वोदय तीर्थ ग्रन्थ

प्रणता:—

आचार्य श्री १०८ अभिनन्दनसागर महाराज

प्रकाशक:—

प्यारेलाल जैन

फर्म:—

रामनारायण देवीसहाय, अलवर।

प्रति १०००

वी० नि० सं० २४८३

सन् १९५६

मूल्य

स्वाध्याय मात्र

श्रीसर्वोदय तीर्थ ग्रन्थ (पूर्वार्द्ध)

की

विषयानुक्रमणिका

प्रथमोऽध्यायः समाप्तः

द्वितीयोऽध्यायः १०८ से २०३ पृष्ठ तक

द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः

तृतीयोऽध्यायः २०४ से ३०३

तृतीयोऽध्यायः समाप्तः

नोटः—समयोचित पद्य मालिका अजैन कृत होने से कथंचित उसमें अर्थ का अनर्थ का प्रसंग आ गया है। अतः सुशिक्षित श्रावक श्राविकाओं को सूचना दी जाती है कि इसको जैनागम समझकर अर्थ का अनर्थ ग्रहण न करें।

प्रस्तावना

प्रिय विज्ञ पाठको ! मैं भी सर्वज्ञ देवकी कृपासे आज आपके सम्मुख श्रीसर्वोदय तीर्थ ग्रन्थकी विस्तृत प्रस्तावना उपस्थित करता हूँ। यह ग्रन्थ सर्वज्ञ-प्रणीत होनेसे इसका नाम भी सार्थकही सर्वोदय तीर्थ रक्खा गया है।

इस ग्रन्थके निर्माता "स्याद्वादवारिधि, वादिगजकेसरी, चारित्रशील-शिरोमणि, योगिसम्राट्, विश्ववंद्य, तपोनिधि, प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद, आचार्य-प्रवर श्रीअभिनन्दनसागरजी महाराज हैं।

परमपूज्य गुरु देवका परिचय एवं माहात्म्य—

शुभे कोल्हापुरे प्रान्ते महाराष्ट्राख्यमण्डले।
धनधान्यादिसम्पन्नं राजते नसलापुरम् ॥ १ ॥

भावार्थः—पुनीत ऐसे बम्बई प्रान्तान्तर्गत कोल्हापुर राजधानी नगरीमें समस्त ऐश्वर्यसम्पन्न एवं विविध प्रकारके धनधान्यादिकोंसे परिपूर्ण शोभायमान नसलापुर नामक एक ग्राम है, उसमें सम्यग्दर्शन विभूषित आचार्यकुलोत्पन्न, तार्किक-चूडामणि, विद्वद्वर्य आचार्यवर्यका जन्म हुआ था, सन् १९०९ में। जन्मतासे ही उदासीनावस्था होनेसे सद्विद्या उपार्जनार्थ द्वादश वर्षतक इन्होंने अध्ययन किया। सन् १९४३ में न्यायतीर्थ एवं शास्त्रीय परीक्षामें उत्तीर्ण होकर उमरके ३४ वर्षकी अवधि तक बालब्रह्मचारी रहकर सन् १९४४ में जिन-दीक्षा ली है।

इनके दीक्षा गुरु आचार्य-श्रेष्ठ महावीरकीर्तिजी हैं एवं पूज्यपाद आचार्य महावीरकीर्तिजी के दीक्षा-गुरु परमपूज्य आचार्य-प्रवर आदिसागरजी थे; इस प्रकार "श्रीवर्धमानस्वामी" अंतिम तीर्थंकर देव सर्वज्ञ वीतराग परमभट्टारकके निर्वाण जानेके पश्चात् पांच श्रुतकेवली हुए, उनमें अंतके श्रुतकेवली श्रीभद्रबाहु स्वामी हुए। वहां तक तो द्वादशांग शास्त्रके प्ररूपणसे व्यवहार-निश्चयात्मक-मोक्षमार्ग यथार्थ प्रवर्तता ही रहा, पीछे कालदोषसे अंगोंके ज्ञानकी व्युच्छित्ति होती गई। कितने ही मुनि शिथिलाचारी हुए उनमें कतिपय श्वेतपट (श्वेताम्बर) हुए। उन्होंने स्वेच्छाचार पुष्ट करनेके लिये जुदे अर्थात् दिगम्बर-संप्रदाय-विरुद्ध सूत्र बनाये। उनमें शिथिलाचार पोषनेकी अनेक कथायें लिखकर अपना संप्रदाय दृढ किया। वह अब तक प्रसिद्ध है। तथा जो जिन सूत्रकी आज्ञामें रहे, उनका आचारभी यथावत् रहा एवं प्ररूपणाभी यथावत् रही वे ही दिगम्बर कहलाये।

उनके संप्रदायमें श्रीवर्धमानके निर्वाण (मोक्ष) पधारने पर छहसौ तिरासी वर्ष वाद दूसरे भद्रवाहु स्वामी आचार्य हुए। उनकी परिपाटीमें कितने एक वर्ष पश्चात् मुनि हुए और उन्होंने ही सिद्धान्तों की प्रवृत्ति की।

एक षट्खंडागमके विषयके ज्ञाता धरसेनाचार्यथे, जो सोरठ देशके गिरिनगरकी चन्द्रगुफामें ध्यान करतेथे, वे आचारांगके पूर्ण ज्ञाताथे। उन्हें इस वातकी चिन्ता हुई कि उनके पश्चात् श्रुतज्ञानका लोप हो जायगा, अतः उन्होंने महिमानगरीके यति सम्मेलनको पत्र लिखा जिसके फलस्वरूप वहांसे दो ऋषी उनके पास पहुँचे। आचार्यवर्यने उनकी वुद्धिकी परीक्षा करके उन्हें सिद्धान्त पढ़ाया। ये दोनों श्रमण पुष्पदंत एवं भूतवलीथे। धरसेनाचार्यने इन्हें सिखाया तो उत्तमतासे अर्थात् ज्यों ही आषाढ़ शुक्ला एकादशीको अध्ययन पूरा हुआ त्यों ही वर्षा-कालके निकट समीप होते हुए भी उन्हें उसी दिन अपने सानिध्यसे अलग करदिया। दोनों शिष्योंने गुरुकी आज्ञा शिरोधार्य मानकर उसका यथायोग्य प्रतिपालन किया एवं वहांसे शुभागमनकर अंकुलेश्वरमें चातुर्मास किया।

सौराष्ट्र देशके गिरिनगरके समीप ऊर्जयन्त शिखरराजकी चन्द्रगुफाके निवासी धरसेनाचार्यका उल्लेख आया है।

गुणधरधरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः।
न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात्॥ १५१॥

अर्थात् गुणधर तथा धरसेनाचार्यकी पूर्वापर गुरुपरम्परा हमें विज्ञात नहीं है, क्योंकि, उसका वृत्तान्त न तो हमें किसी आगममें प्राप्त हुआ या किसी आचार्यने वतलाया।

किन्तु नन्दि संघकी प्राकृत पट्टावलीमें अर्हद्वलि, माघनन्दि एवं धरसेन तथा उनके पश्चात् पुष्पदन्त और भूतवलिको एक दूसरेके उत्तराधिकारी वतलाया है जिससे ज्ञात होता है कि धरसेनके दादागुरु अर्हद्वलि और गुरु माघनन्दि थे।

नं० ४७१ के शिलालेखमें शुभचन्द्र त्रैविद्यदेवके गुरु माघनन्दि सिद्धान्तदेव कहेगये हैं। शिलालेख नं० १२६ में विना किसी गुरु–शिष्य सम्वन्धके माघनन्दिको जगत्प्रसिद्ध सिद्धान्तवेदी कहा है। यथा:–

नमो नम्रजनानन्दस्यन्दिने माघनन्दिने।
जगत्प्रसिद्धसिद्धान्तवेदिने चित्प्रमोदिने॥ ४॥

ये दोनों आचार्य हमारे पट्खण्डागमके रचयिता हैं। प्रस्तुत ग्रन्थमें

इनके प्रारम्भिक नाम व गुरु परम्पराका कोई परिचय नहीं पाया जाता। आचार्य पुष्पदन्त और भूतवलिके सम्बन्धमें धवलाकारने केवल इतना ही कहा है कि जब महिमानगरीमें सम्मिलित यति-संघको धरसेनाचार्यका पत्र मिला तब उन्होंने श्रुतरक्षासम्बन्धी उनके अभिप्रायको समझकर अपने संघमेंसे दो साधु चुनेगये जो विद्याग्रहण करने एवं स्मरण रखनेमें समर्थ थे, जो अत्यन्त विनयवान थे, जिनका देश, कुल और जाति शुद्ध था और जो समस्त कलाकुशलोंमें पारंगत थे। उन दोनोंको धरसेनाचार्यके पास गिरिनगर (गिरनार) भेज दिया। धरसेनाचार्यने उनकी परीक्षा की। एकको अधिकाक्षरी तथा दूसरेको हीनाक्षरी विद्या वताकर उनसे उन्हें षष्ठोपवाससे सिद्ध करने को कहा।

जव विद्याएँ सिद्ध हुई तो एक वड़े-वड़े दांतोंवाली और दूसरी कानी-देवीके रूपमें प्रगट हुई। इन्हें देखकर चतुर साधकोंने जानलिया कि उनके मन्त्रोंमें कुछ त्रुटि है। उन्होंने विचारपूर्वक उनके अधिक और हीन अक्षरोंकी कमी-वेशी करके पुनः साधना की, जिससे देवियां अपने स्वाभाविक सौम्य-रूपमें प्रकट हुई। उनकी इस कुशलतासे गुरुने जानलिया कि ये सिद्धान्त सिखाने के योग्य पात्र हैं। फिर उन्हें क्रमसे सव सिद्धान्त पढ़ा दिया। यह श्रुताभ्यास आषाढ़ शुक्ला एकादशीको समाप्त हुआ और उसी समय भूतोंने पुष्पोपहारों द्वारा शंख, तूर्य एवं वादित्रोंकी ध्वनिके साथ एककी बड़ी पूजा की। इसीसे आचार्यश्रीने उनका नाम भूतवलि रक्खा। दूसरेकी दंतपंक्ति अस्त-व्यस्त थी, उसे भूतोंने ठीक करदी, इससे उनका नाम पुष्पदन्त रक्खा गया। ये ही दो आचार्य पुष्पदन्त और भूतवलि षट्खण्डागमके रचयिता हुए हैं।

उसके पश्चात् जो आचार्य हुए उन्होंने उन्हीं सूत्रोंको पढ़कर उनकी टीका विस्ताररूपसे धवल, महाधवल, जयधवल आदि सिद्धान्त रचे। उनको पढ़कर श्रीनेमिचन्द्र आदि आचार्योंने गोंमटसार, लब्धिसार, क्षपणासार आदि शास्त्रोंकी प्रवृत्ति की। यह तो प्रथम सिद्धान्तकी उत्पत्ति है। इनमें तो जीव और कर्मके संयोगसे हुआ जो आत्माका संसार-पर्याय उसका विस्तार गुण स्थान मार्गणारूप संक्षेपसे वर्णन है। यह तो पर्यायार्थिक नयको प्रधानकर कथन है।

दूसरे गुणधराचार्य हुए हैं जिन्हेंभी द्वादशांग श्रुतका कुछ ज्ञान था। उन्होंने कषायप्राभृतकी रचना की। इसका आर्यमंक्षु और नागहस्तिने

एकाकीति । एकाकी असहायः । सङ्गरहित इति यावत् । 'सङ्गात्संजायते कामः' इत्यादिसङ्गजनितकामादिपरम्परायाः अनर्थहेतुत्वादितिभावः । 'एकादाकिनिच्चासहाये' इत्याकिनिच्प्रत्ययः । कुतः । निः स्पृहः विषयाभिलाष शून्यः । अतएव शान्तः रागाद्यनुपहतचित्तः । शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितोभूत्वा । था दिश अतः पाणिरेव पात्रं भिक्षापात्रं यस्य स तथोक्तः । तथा दिश एवाम्बराणि यस्य स तथोक्तः सन् । अहमिति शेषः । हे शम्भो ! कर्मणां सञ्चित-प्रारब्धानां निर्मूलने समूलविध्वंसने क्षमः समर्थः कदा भविष्यामि । कर्मबन्धात्कदा मोक्ष इत्यर्थः । 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि यस्मिन्दृष्टे परावरे' इतीश्वरसाक्षात्कारमन्तरा कर्मक्षयाभावात्तदर्थं त्वं प्रत्यक्षो भवेति भावः । अनुष्टुप् ॥

अथैवं भूतानां शिवप्रसादान्मोक्षमार्गोऽविलम्बेनैव सुलभो भवतीति निगमयति—

पाणिं पात्रयतां निसर्गशुचिनां भैक्षेण संतुष्यताम्
यत्र क्वापि निषीदतां बहुतृणं विश्वं मुहुः पश्यताम् ।
अत्यागेऽपि तनोरखण्डपरमानन्दावबोधस्पृशा-
मध्वा कोऽपि शिवप्रसादसुलभः संपत्स्यते योगिनाम् ॥ ९० ॥

पाणिमिति । पाणिं करतलमेवपात्रं भोजनभाजनं कुर्वतां पात्रयताम् । पात्रशब्दात् 'तत्करोति' इतिण्यन्तािल्लटः शत्रादेशः । निसर्गशुचिना स्वभाव-परिपूतेन भैक्षेण भिक्षाकदम्बकेन संतुष्यतां सन्तोषं प्राप्नुवताम् । 'भिक्षादिभ्योऽण' । 'भैक्षं भिक्षाकदम्बकम्' इत्यमरः । यत्र क्वापि यस्मिन्कस्मिन्प्रदेशे । स्मशाने वनेवेत्यर्थः । निषीदताम् । उपविशतामित्यर्थः । मुहुः पौनःपुन्येन विश्वं प्रपञ्चं बहुतृणं ईषदसमाप्तं तृणम् । तृणकल्पमित्यर्थः । 'विभाषा सुपो बहुच्पुरस्तात्तु' इति बहुच्प्रत्ययः प्रकृतेः पूर्वं भवति । 'स्यादीषदसमाप्तौ तु बहुच्प्रकृतिलिङ्गकः' इति प्रकृतिवचनात्प्रकृतिलिङ्गता । पश्यतां आकलयताम् । तथा तनोरत्यागेऽपि देहसम्बन्धशून्यत्वाभावेऽपि अखण्डोऽपरिच्छिन्नो यः परमानन्दो ब्रह्मानन्दः तस्य अवबोधं स्पृशन्ति अनुभवन्तीति तथोक्तानाम् । जीवन्मुक्तत्वादितिभावः । 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' इति क्विन्प्रत्ययः । योगिनां ध्याननिष्ठानां शिवप्रसादेन सुलभः सुलभ्यः कोऽपि अनिर्वाच्यः । अध्वा मोक्षमार्ग इत्यर्थः । संपत्स्यते संपन्नो भवति । युग्मकम् ।

अर्थात् मैं एकाकी संगरहित कब होसकूंगा क्योंकि संसारसंगसे काम पैदा होता है और कामसे संसार 'आचन्द्रार्कवत्' अर्थशः जब तक आकाशमें सूर्य

और चन्द्रमा रहेंगे तब तक काम और संसार इन दोनोंके भाव उत्तरोत्तर बढ़ते ही रहेंगे। कौन समर्थ हो सकता है ? इनको शमन करनेके लिये अर्थात् कोई भी नहीं। आसन्नभव्यही कालादि लब्धिको पाकर 'बीजांकुर न्यायवत्' संसारका नाशकर मोक्ष जासकता है। निःस्पृहः=अर्थात् विषय, कषायरूपी अभिलाषाओंसे रहित होनेसे अपनेमें योग्यतानुसार शान्तता आजाती है। अर्थशः रागद्वेषमोहादि शत्रुओंका उपशम होनेसे यह अलौकिक सौम्यगुण प्रगट होजाता है इससे साधु साम्यवादी होकर अपने हस्तरूपी पात्रको भिक्षापात्र समझकर, समचित्त होकर दिगम्बर अवस्थाको स्वीकार करके हे शम्भो ! मैं अनादि कालसे संचित कर्मोंका समूल विध्वंस करनेकेलिये समर्थशाली कब होसकता हूँ ऐसा विचार करता हुआ अंतिम पुरुषार्थसे आत्मसाक्षात्कार मोक्षको पाता है। इस शम्भुका नामही रूपान्तरसे तीर्थंकर सर्वज्ञ भगवान् होता है। अर्थात् शरीरका त्याग नहीं करने परभी जो आत्मामें परमानन्द प्राप्त होता है उसीका नाम जीवन्मुक्तावस्था है। यही एक अद्वितीय मार्ग योगियोंका मोक्ष कहलाता है। इसके लिये ही समस्त मुमुक्षु साधुओंका अहर्निश प्रयास अनादिसे अभीतक एवं अनन्त काल तक चलेगा।

गुरुका लक्षण निम्न प्रकार—

अथेदानीं श्रद्धानगोचरस्य तपोभृतः स्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरत्नस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥ १० ॥

विषयेषु स्रग्वनितादिष्वाशा आकांक्षा तस्या वशमधीनता। तदतीतो विषयाकांक्षा रहितः। 'निरारम्भः' परित्यक्तकृष्यादिव्यापारः। 'अपरिग्रहो' वाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितः। 'ज्ञानध्यानतपोरत्नः' ज्ञानध्यानतपांस्येव रत्नानि यस्य एतद्गुणविशिष्टो यः स तपस्वी गुरुः 'प्रशस्यते' श्लाध्यते ॥ १० ॥

अर्थात् अभी आदरणीय तपस्वी गुरुका स्वरूप कैसा होना चाहिये इस विषयमें कहाजाता है——समस्त विषयकषायोंसे रहित एवं पुष्पमाला, स्त्री, चन्दनादिपर जिनकी आशा तिलतुषमात्रभी नहीं रही है अर्थात् कर्माधीनताही संसार कहलाता है किन्तु जिन तपस्वियोंका आरम्भ नहीं होनेसे आकिंचन्य (अपरिग्रह) ही धन रहा ऐसे साधु निरंतर ज्ञान, ध्यान और तपमेंही मग्न रहते हैं इसलिये उनको तपस्वीरत्न कहते हैं।

इति परापरगुरुप्रवाहगुणगणसंस्तवस्य मङ्गलस्य प्रसिद्धेर्वयं तु स्वभक्तिवशादेवं निवेदयामः—

येनाशेषकुनीतिवृत्तिसरितः प्रेक्षावतां शोषिताः
यद्वाचोप्यकलङ्कनीतिरुचिरास्तत्त्वार्थसार्थद्युतः[१]।
स श्रीस्वामिसमन्त भद्रयतिभृद्भूयाद्विभुर्भानुमान्
विद्यानन्दघनप्रदोऽनघधियां स्याद्वादमार्गाग्रणीः ॥

(१) तत्त्वार्थसमूहद्योतिकाः।

अर्थशः इस प्रकार 'परगुरु' तीर्थंकर अर्हद्भगवान् सर्वज्ञदेव, 'अपर-गुरु' गणधर, श्रुतकेवली, पूर्वाचार्य इत्यादि इन परापरगुरुओंका जो अव्याहत प्रवाह यही एक गुणोंका समुदाय मंगलमय प्रसिद्ध होनेसे इनका संस्तवन करके स्वभक्तिवशात् अर्थात् भक्ति प्रवाहरूपी वाग्गंगासे द्रवित होकर मैं (विद्या-नन्दाचार्य) अंतिम मंगलस्वरूपसे निवेदन करता हूं। जिससे समस्त दुर्नीति रूपी नदियों के जलप्रवाहसे 'प्रेक्षावतां' अर्थात् स्याद्वादियोंका जो स्यात्कारलां-छनरूपी वृक्ष, उसको सुखानेका जोकुजलप्रवाहका प्रयास था, उसके लिये तार्किकचूड़ामणि अकलंकाचार्यके वाचारूपी स्याद्वादन्यायके जलप्रवाह ही नष्टप्राय करनेकेलिये अद्वितीय कारण है। वही हेतु तत्त्वार्थसमूहको प्रकाशित करनेमें सूर्यप्रकाशके समान है।

तथा भगवान् समन्तभद्राचार्यके आप्तमीमांसाकी टीकारूपसे जो मैने यह अष्टसहस्री नामक स्याद्वादमार्गका अग्रगण्य न्यायग्रन्थ वनाया। इससे यही सिद्ध होता है कि, स्वामि समन्तभद्राचार्य सूर्यके समान हैं तथा अकलंकाचार्य चन्द्रमाके समान हैं और विद्यानन्दाचार्य चन्द्रमाके किरणके समान हैं। इसप्रकार परस्परमें ये तीनों आचार्य प्रामाणिक माने जाते हैं।

इस श्लोकमें रत्नत्रयका स्वरूप वतलाया जायगा। यथा—

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥ १ ॥

'चरणं' हिंसादिनिवृत्तिलक्षणं चारित्रं। 'प्रतिपद्यते' स्वीकरोति। कोऽसौ ? 'साधु' भव्यः। कथम्भूतः ? अवाप्तसंज्ञानः। कस्मात् ? 'मोहतिमिराप-हरणे' मोहो दर्शनमोहः स एव तिमिरं तस्यापहरणे यथासम्भवमुपशमे क्षये क्षयोपशमे वा। अथवा मोहो दर्शनचारित्रमोहस्तिमिरं ज्ञानावरणादि तयोरप-हरणे। अयमर्थः—दर्शनमोहापहरणे दर्शनलाभः। तिमिरापहरणे सति दर्शन-लाभादवाप्तसंज्ञानः भवत्यात्मा ज्ञानावरणापगमे हि ज्ञानमुत्पद्यमानं सद्दर्शनप्रसादात्

सम्यग्व्यपदेशं लभते तथाभूतश्चात्मा चारित्रमोहापगमे चरण प्रतिपद्यते। किमर्थ ? 'रागद्वेषनिवृत्त्यै, रागद्वेषनिवृत्तिनिमित्तम्।

अर्थात् मोहरूपी 'तिमिर' अन्धेराका नाश होनेसे सम्यग्दर्शनके लाभसे सम्यग्ज्ञान पैदा होजाता है तथा उससे रागद्वेषोंकी निवृत्ति होजानेसे सम्यक्चारित्र प्राप्त होजाता है इसप्रकार इन तीनों रत्नत्रयोंकी प्राप्तिसे साधु अपने आत्म-कल्याण करनेमें समर्थ होकर अनादि प्रवाहसे चला हुआ जो बीजांकुरन्याय उसका नाश करनेमें साधुही साक्षात् कारण हैं। अन्यथा भरतचक्रवर्तिके समान सम्यग्दृष्टि निर्मोही ग्रहस्थभी इस संसारका नाश करनेमें परंपरासे समर्थ होजाते हैं।

'साधु' शब्दका समर्थन कियाजाता है अर्थात् साधुका अर्थ भव्य ऐसा होता है 'रत्नत्रयाविर्भावो जीवो भव्यः' जिस जीवको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों रत्नत्रय प्रकट होजाते हैं वे भव्य हैं ऐसा सिद्धान्त है। जिनकल्पीसाधु तद्भवमोक्षगामी हुआ करते हैं और स्थविर-कल्पी साधु परंपराके न्यायसे मोक्ष सिद्ध करते हैं।

गुरुदानस्य लक्षणम्।

नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन।
अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम्॥ ११३॥

दानमिष्यते। कासौ ? प्रतिपत्तिः गौरवं आदरस्वरूपा। केषां ? आर्याणां सद्दर्शनादिगुणोपेतमुनीनां। किं विशिष्टानां ? अपसूनारम्भाणां सूनाः पंचजीवघातस्थानानि। तदुक्तम्। यथा——

खण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भः प्रमार्जनी।
पञ्चसूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति॥ १३॥

खंडनी उलूखलं, पेषणी, घरट्ट, चुल्ली—चुलूकः, उदकुम्भः—उदकघटः, प्रमार्जनी वोहारिका। सूनाश्चारम्भाश्च कृष्यादयस्तेऽपगता येषां तेषां। केन प्रतिपत्तिः कर्तव्या ? सप्तगुण समाहितेन। यथा—

श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा सत्यम्।
यस्यैतेः सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति॥

इत्येतैः सप्तभिर्गुणैः समाहितेन तु दात्रा दानं दातव्यं। कैः कृत्वा ? नव पुण्यैः—

पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदयमच्चणं च पणमं च।
मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धी य नवविहं पुण्णं ॥
एतैर्नवभिः पुण्यैः पुण्योपार्जनहेतुभिः ॥

इत्थं दीयमानस्य फलं दर्शयन्नाह—

गृहकर्मणापि निचितं कर्मविमार्ष्टि खलु
गृहविमुक्तानामतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि ॥ ११४ ॥

विमार्ष्टि स्फेटयति। खलु स्फुटं। किं तत्? कर्म पापरूपं। कथं भूतं? निचितमपि उपार्जितमपि पुष्टमपि वा। केन? गृहकर्मणा सावद्यव्यापारेण। कोऽसौ कर्तृ? प्रतिपूजादानं। केषामपि? अतिथीनां न विद्यते तिथिर्येषां तेषां। किं विशिष्टानां गृहविमुक्तानां गृहरहितानां। अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं दृष्टान्तमाह—रुधिरमलं धावते वारि अलंशब्दो यथार्थं अयमर्थो रुधिरं यथा मलिनमपवित्रं च वारि कर्तुनिर्मलं पवित्रं च धावते प्रक्षालयति तथा दानं पापं विमार्ष्टि।

साम्प्रतं नवप्रकारेषु प्रतिग्रहादिषु क्रियमाणेषु कस्मात् किं फलं सम्पद्यत इत्याह:—

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा।
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥ २५ ॥

तपोनिधिषु यतिषु। प्रणतेः प्रणामकरणादुच्चैर्गोत्रं भवति। तथा दानाद्दर्शनशुद्धिलक्षणाद्भोगो भवति। उपासनात् प्रतिग्रहणादिरूपात् सर्वत्र पूजा भवति। भक्तेर्गुणानुरागजनितान्तःश्रद्धाविशेषलक्षणायाः सुन्दररूपं भवति। स्तवनात् श्रुतजलधीत्यादिस्तुतिविधानात् सर्वत्र कीर्तिर्भवति।

नन्वेवं विधं विशिष्टं फलं स्वल्पं दानं कथं सम्पादयतीत्याशंकाऽपनोदार्थमाह——

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले
फलति च्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम् ॥ २६ ॥

अल्पमपि दानमुचितकाले पात्रगतं सत्पात्रे दत्तं शरीरभृतां संसारिणामिष्टं फलं बह्वनेकप्रकारसुन्दररूपं भोगोपभोगादिलक्षणं फलति। कथं भूतं? छायाविभवं छायामाहात्म्यं विभवं सम्पत् तौ विद्यते यत्र। अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं क्षितीत्यादिदृष्टान्तमाह—क्षितिगतं सुक्षेत्रे निक्षिप्तं यथा अल्पमपि वटबीजं बहुफलं फलति। कथं? छायाविभवं छाया आतपनिरोधिनी तस्या विभवः प्राचुर्यं यथा भवत्येवं फलति।

अर्थात् नवधाभक्ति सम्मिलित एवं सप्तगुणोंसे भूषणभूत होकर अत्यन्त विशुद्ध परिणामसे दाता सत्पात्र (साधु) को दान देसकता है। 'प्रतिपत्तिः' अर्थात् आदरसत्कार करना चाहिये 'केषां' किनको आर्य (मुनियोंको) वे कैसे हैं? रत्नत्रयादिगुणोंसे विभूषित हैं अतः ऐसे यतियोंकी पूज्यभावसे श्रद्धा, भक्ति वगैरह कीजाती है। उनमें वैशिष्ट्य क्या है? पंचपापोंसे रहित एवं आरम्भादि जीवघातिक्रियाओंसे दूरवर्ति होनेसे उपरिनिर्दिष्ट गुणोंसहित होकर दाता आहारादि दान देकर लौकिक और पारमार्थिक सुख कमा सकता है।

इसप्रकार दान देनेवाले दातारको कौनसा फल मिलेगा? ऐसा प्रश्न उपस्थित होनेपर आचार्य उत्तर देते हैं कि—

जन्मजन्मान्तरमें दाताके द्वारा उपार्जित कियागया कर्म दान देनेसे नष्ट होजाता है। दृष्टान्त—जिसप्रकार रक्तसे मलिन हुआ कपड़ा शुद्ध पानीके प्रयोगसे साफ (निर्मल) होजाता है उसीप्रकार गृहस्थधर्ममें संचित हुआ कर्म आहारदानके पुण्यप्रभावसे दूर कियाजाता है अर्थात् विध्वंस किया जाता है।

इसीप्रकार नवधा भक्ति एवं सात गुण सम्मिलित होकर दान देनेवाले दाताओंको साक्षात्कौनसा फल मिलेगा? इसका उत्तर इस श्लोकानुसार है—अर्थात् उच्चगोत्रमें दाताका जन्म होगा एवं विनयशाली होकर नमोऽस्तु आदि करनेसे 'केषां' किनको? तपोनिधि ऐसे यतिजनोंको, अनेक प्रकारके भोगोपभोग प्राप्त होते हैं। ऐसे यतिराजोंकी उपासना करनेमात्रसे अखिल भारतवर्षमें सर्वत्र उपासककी पूजा होती है। तथा उनके गुणानुरागजनित आन्तरंगिक श्रद्धाविशेषादि गुणोंसे दाताको अतिशय सुंदरस्वरूप प्रकट होजाता है। एवं यतिराजोंकी स्तुति, प्रशंसा आदि करनेसे दाताकी सर्वत्र अजरामर सत्कीर्ति फैल जाती है।

इस प्रकार स्वल्पदानमात्रसे इतना श्रेष्ठ फल दाताको कैसे प्राप्त होता है? ऐसी शंका उचित नहीं होनेसे उसका निरसन किया जाता है। जैसे वटवृक्षका बीज बहुतही छोटा होता है किन्तु योग्य कालानुसार जमीनमें बोनेसे उसका अंकुर पैदा होकर एक बडा भारी विशाल वृक्ष होजाता है। वैसे ही शास्त्रानुकूल समयोचित योग्य दाता; योग्य पात्रको आहारदान देनेसे ऐसा उत्कृष्ट फल मिलजाता है। इस विषयमें क्या आश्चर्य है? इसका नाम ही दानमाहात्म्य कहलाता है।

श्रीसर्वोदयतीर्थग्रन्थका महत्व—

स्याद्वादविद्याविशदप्रसादः प्रमेयरत्नाकरनामधेयः ।
तर्कप्रबन्धो निरवद्यविद्यापीयूषपूरो वहतिस्म यस्मात् ॥ १० ॥
सिद्धचङ्कं सर्वोदयतीर्थं सत्शास्त्रं निबन्धोज्ज्वलं
यस्त्रैविद्यकवीन्द्रमोहनमयं स्वश्रेयसेऽरीरचत् ।
योऽर्हद्वाक्यरसं निबन्धरुचिरं शास्त्रं च सर्वोदयं
निर्माय न्यदधान्मुमुक्षुविदुषामानन्दसान्द्रे हृदि ॥ ११ ॥

सिद्ध-चङ्कं सिद्धिः सिद्धशब्दोऽङ्कश्चिह्नं सर्गप्रान्तवृत्तेषु यस्य तत् । निबन्धोज्ज्वलं स्वयंकृतनिबन्धनेन स्फुटप्रतिभासं । अरीरचत् रचयतिस्म । अर्हद्वाक्यरसं जिनागमनिर्यासभूतं निबन्धरुचिरं । स्वयंकृतज्ञानदीपिकाख्यपंजिकया रमणीयं सर्वोदयतीर्थं सर्वोदयतीर्थाख्यं न्यदधात् स्थापयतिस्म ॥११॥

अर्थात् समस्त विद्याओंमें स्याद्वादविद्या श्रेष्ठतम है इस विद्याका महत्व अत्युत्तम है क्योंकि अर्हद्भट्टारक सर्वज्ञतीर्थंकरमुखोद्भूत होनेसे इसका विषद रीतिसे प्रसाद (प्रचार) होरहा है एवं यह स्याद्वादरूपी केवल ज्ञानगर्भित सद्विद्याको ही प्रमेयरत्नाकर नामसे घोषणा कीजाती है । अर्थात् 'प्रमेय' का अर्थ किया जाता है कि, प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रमाणोंसे जानने योग्य वस्तु-स्वरूपको प्रमेय कहते हैं । एवं 'रत्नाकर' का अर्थ सागर ऐसा होता है इसी सागर (समुद्र) से स्वाति नक्षत्रानुसार पानी वरसनेसे समुद्रमें अमूल्य (कीमती) मोति पैदा होते हैं तद्वत् अर्हद्भगवानके मुखकमलसे निर्गतहुए दिव्यध्वनिके उपदेशसे भव्यजीवोंके हृदयं-कमलमें साक्षात् रत्न तैयार होते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र ऐसे तीनों रत्न भव्योंको प्राप्त होकर अनादिकालसे वीजांकुरन्यायसे चलता हुआ संसार सादिसांतमें आकर निरंतरके लिये ही समाप्त होजाता है ऐसा स्याद्वादका स्वरूप है । जिससे तर्क अर्थात् न्यायकारोंका स्यात्कार कथञ्चित् अनेकान्त धर्म, उसके प्रवन्धरूपसे आया हुआ निर्दोष विद्यारूपी अमृत उसका आस्वादन करनेसे अर्थात् पान करनेसे आत्मानुभव होकर अन्तरात्मा; परमात्मा वनकर सम्पूर्ण कर्मोंका क्षयकर सिद्ध भगवान् होजाता है ।

जिस कारणसे सर्वोदयतीर्थग्रन्थ सिद्धहोकर अपने सत्स्वरूपको प्रकाशित कररहा है । और जो त्रैविद्य अर्थात् भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्कालीन जन्म, जरा, मरणरूपी पिशाच यही एक मोह नामक शत्रु उसका विध्वंस करनेमें

कवियोंके जो इन्द्र अर्थात् अर्हन्त भगवान् वे ही अनादि मोहका नाश करसकते हैं और अर्हन्तभगवान् ही अर्थकर्ता होनेसे इनकी दिव्यध्वनी सुनकर गणधर भगवान् अंतर्मुहूर्तमें द्वादशांग शास्त्रकी रचना करते हैं अतः सर्वज्ञ प्रभु अर्थकर्ता और गणधर भगवान् ग्रन्थकर्ता कहलाते हैं। और जो अर्हद्भगवान्के वाक्यरसका समुदाय वही जिनागम कहलाता है। उसी जिनागमका सार लेकर पूज्यपाद आचार्यवर्य श्री अभिनन्दनसागरजी महाराजने अपनी विद्वत्तासे श्री सर्वोदयतीर्थ-ग्रन्थराजकी रचना की है। यह ग्रन्थराज विद्वज्जनोंको परमादरणीय होगा और साधुजनोंके लिये आत्मकल्याणकारक होकर 'आचन्द्रार्कवत्' जबतक आका-शमें सूर्य, चन्द्रमा रहें तबतक अखण्डविजयी रहेगा ऐसा हमारा अटल सिद्धान्त है।

यथा च विशेषसामान्यविषक्तभेदविधिव्यवच्छेदात्मको विषयः प्रतीतिबलाद्वाक्यस्य व्यवस्थापितस्तथा वाक्यमपि परमागमलक्षणं तदात्मक-मेवेति प्रतिपादयन्ति—

सर्वान्तवत्तद्‍गुणमुख्यकल्पम् ।
सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ॥
सर्वापदामन्तकरं निरन्तम् ।
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥ ६२ ॥

युक्त्यनुशासनेऽपि सर्वोदयतीर्थस्य स्वरूपमायाति यथा—

टीका—सर्वे च तेऽन्ताश्चेति स्वपदार्थवृत्तेर्मत्वर्थीयः प्रत्ययो युज्यतेऽन्य-पदार्थवृत्तेः परत्वेऽपि सर्वशब्दादौ तदपवादाज्जात्यर्थादिवत्, सर्वेऽन्ताः यस्य तत्सर्वान्तमपि परत्वाद्बहुव्रीहौ सति तेनैव मत्वर्थस्य प्रतिपादनात् मत्त्वर्थीयो न स्याद्वीरपुरुषको ग्राम इति यथा, सर्वशब्दादेस्तु पदादन्यत्र बहुव्रीहिरी-त्यपवादवचनात्सर्वशब्दादेः पदस्य कर्मधारय एव भवति यथा सर्ववीजी कर्षकः सर्वकेशी नट इति तेन सर्वान्ताः सन्त्यस्मिन्निति सर्वान्तवत्तीर्थमिदं परमा-गमवाक्यमिति सम्बन्धनीयं। तरति संसारमहार्णवं येन निमित्तेन तत्तीर्थ-मिति व्युत्पत्तेः। सर्वान्ताः पुनरशेषधर्मा विशेषसामान्यात्मकद्रव्यपर्याय-व्यक्तिविधिव्यवच्छेदाः प्रतिपत्तव्याः समासतस्तैरेवानन्तानामपि धर्माणां संग्रहात्। तत्र स्यादस्त्येव वाक्यं स्वरूपादि चतुष्टयादिति विधि धर्मवाक्यं, स्यान्नास्त्येव पररूपादि चतुष्टयादिति व्यवच्छेदधर्मवाक्यं स्वरूपं तु वहिर्वाक्यस्य

परस्परापेक्षया पदसमूहो निराकांक्षः सहभुजामिव नानाप्रवक्तृकाणां क्रमभुवामपि समूहस्य व्यवहारसिद्धेः प्रत्यासत्तिविशेषसद्भावात्। अन्तर्वाक्यस्य तु पूर्वपूर्वपदज्ञानाहितसंस्कारस्यात्मनोऽन्त्यपदज्ञानात्समुदायार्थप्रतिभासस्तद्व्यतिरिक्तस्य स्फोटस्य प्रागेव प्रतिक्षिप्तत्वात्तदेतद् द्विविधमपिवाक्यं स्वरूपत एवास्ति न पुनः पररूपतः सर्वात्मकत्वप्रसङ्गात्, पररूपत एव च नास्ति न पुनः स्वरूपतः सर्वाभावप्रसङ्गात्। ततो वस्तुत्वसिद्धिः स्वपररूपोपादानापोहनात्मकत्वाद्वस्तुनः तथा स्वद्रव्यं शब्दस्य तद्योग्यपुद्गलद्रव्यं शब्दात्मनो वाक्यस्य पुद्गलपर्यायत्वव्यवस्थितेः। पर्यायोस्यानादिनिधनस्यहि कार्यद्रव्यरूपो गुणरूपः क्रियारूपो वानाद्यपर्यन्तद्रव्यस्य स्याद्वादिभिरभिधीयते। तत्र पुद्गलद्रव्यपर्यायः शब्दो द्रव्यमनित्यमिति तावन्निश्चीयते, द्रव्यं शब्दः क्रियागुणयोगित्वात्पृथिव्यादिवत्, क्रियावांश्च शब्दः प्रवक्तृदेशाद्देशान्तरप्राप्तिदर्शनात् सायकादिवत्तथा संख्यासंयोगविभागादिगुणाश्रयत्वेन प्रतीयमानत्वात् गुणवानपि शब्दः प्रसिद्धः पृथिव्यादिवदेव। न हि शब्देषु संख्या न प्रतिभासते कस्यचिदेकं वाक्यं द्वे वाक्ये त्रीणि वाक्यानीत्यादि संख्याप्रत्ययस्यावाध्यमानस्य प्रतीयमानत्वात्, तथा क्षकारादीनां संयुक्ताक्षराणां प्रतीतेः संयोगोपि शब्दानां प्रतीयत एव, क्षकारादेर्जात्यन्तरस्योत्पत्तेरसंयोगात्मकत्वपरिकल्पनायां दण्डपुरुषसंयोगोऽपि माभूत्तथा दण्डिनोजात्यन्तरस्य द्रव्यस्य प्रादुर्भावादिति सर्व प्रतीतिवाधितमनुषज्यते। ततः प्रतीतिमवाधितामिच्छद्भिः शब्दः क्रियागुणयोगी तथा प्रतीतेरभ्युपगन्तव्यः। एतेन न क्रियागुणयोगी शब्दोऽवरगुणत्वात्तन्महत्ववदित्यनुमानं प्रत्युक्तं पक्षस्य प्रत्यक्षानुमानवाधितत्वात्कालात्ययापदिष्टत्वाच्च हेतोः शब्दस्याकाशगुणत्वासिद्धेश्च। आकाशविशेषगुणः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सत्याकाशात्मककरणग्राह्यत्वात्। यो यदात्मककरणग्राह्यः सतद्विशेषगुणो दृष्टो यथा पृथिव्यात्मककरणग्राह्यो गन्धः पृथिवीविशेषगुणः आकाशात्मकश्रोत्रग्राह्यश्च शब्दस्तस्मादाकाशविशेषगुण इत्यनुमानादाकाशविशेषगुणत्वसिद्धिरित्यपि न सम्यक्, सत्प्रतिपक्षत्वादनुमानस्य। तथा हि नाकाशविशेषगुणः शब्दः सामान्यविशेषवत्वे सति वाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वाद् गन्धादिवदिति प्रतिपक्षानुमानस्य सत्यस्य सद्भावः, तथा न गुणः शब्दः संस्कारवत्वाद्वाणादिवदित्यनुमानस्य च प्रतिद्वंद्विनः संप्रत्ययात्। संस्कारवत्त्वमसिद्धं शब्दस्येति चेत् न, वेगस्य संस्कारस्य शब्देषु भावात् वक्तृव्यापारादुत्पन्नस्य शब्दस्य यावद्वेगं प्रसर्पणात्। शब्दस्य प्रसर्पणमसिद्धं शब्दान्तरारम्भकत्वादिति चेत्, स तर्हि वक्तृव्यापारादेकः शब्दः

प्रादुर्भवत्यनेको वा ? यद्येकस्तर्हि कथं नानादिक्कान्नानाशब्दानारभेत स-कृदितिचिन्तनीयं। सर्वदिक्कनानाताल्वादिसंयोगजनितवाय्वाकाशसंयोगानाम-समवायिकारणानां भावात्, समवायिकारणस्य चाकाशस्य सर्वगतत्वात्, सर्व-दिक्कनानाशब्दानारभते सकृदेकोऽपि शब्द इति चेत्; नैवं, तेषां शब्दस्यारम्भक-त्वस्याप्यनुपपत्तेः। यथैव ह्याद्यः शब्दो न शब्दान्तरजस्ताल्वाद्याकाशसंयोगा-देवासमवायिकारणादुत्पत्तेस्तथा सर्वदिक्कशब्दान्तराण्यपि न शब्दारब्धानि ताल्वादिव्यापारजनितवाय्वाकाशसंयोगेभ्य एवासमवायिकारणेभ्यस्तेषामुत्पत्ति-घटनात्, तथोपगमे च संयोगाद्विभागाच्छब्दाच्च शब्दस्योत्पत्तिरिति सिद्धान्त-व्याघातः। शब्दान्तराणां प्रथमः शब्दोऽसमवायिकारणं तत्सदृशत्वादन्यथा तद्विसदृशशब्दान्तरोत्पत्तिप्रसंगो नियामकाभावादिति (केचि) चेत्, न प्रथम-शब्दस्य शब्दान्तरसदृशस्यान्यशब्दादसमवायिकारणादुत्पत्तिप्रसंगात्तस्याप्यपर-पूर्वशब्दादिति शब्दसन्तानस्यानादित्वापत्तिः। यदि पुनः प्रथमः शब्दः प्रवक्तृ-व्यापारादेव प्रतिनियतादेवोत्पन्नः स्वसदृशानि शब्दान्तराण्यारभत इति मतं तदा तत एव प्रवक्तृव्यापारात्प्रतिनियतवाय्वाकाशसंयोगेभ्यस्तत्सदृशानि शब्दान्त-राणि प्रादुर्भवन्तु किमाद्येन शब्देनासमवायिकारणेनेति न शब्दाच्छब्दस्योत्पत्ति-र्घटते, नैकः शब्दः शब्दान्तराणामारम्भकः सम्भवति। अथाऽनेकः शब्दः प्रथमत उत्पन्नः शब्दान्तराणि नानादिक्कान्यारभते इति द्वितीयः पक्षः कक्षीक्रियते तत्राऽप्येकस्मात्ताल्वाद्याकाशसंयोगात्कथमनेकः शब्दः प्रादुर्भवेदहेतुकत्वप्रसंगा-देकस्मादेकस्यैवोत्पत्तेः शेषस्य हेत्वभावात्। न चानेकताल्वाद्याकाशसंयोगः प्रसूयते यतोऽनेकः शब्दः स्यात्। प्रादुर्भवन्वा कुतश्चिदाद्यः शब्दोऽनेकः स्वदेशे शब्दान्तराण्यारभते देशान्तरे वा ? न तावत्स्वदेशे देशान्तरेषु तच्छ्रवणविरोधात् भिन्नदेशस्थश्रोतृजनश्रोत्रेषु समवायाभावात्, तत्रासमवेतस्याप्यनेकस्य शब्दान्त-रस्य श्रवणे श्रोत्रस्याप्राप्यकारित्वापत्तेः, शब्दान्तरारम्भपरिकल्पनावैयर्थ्याच्चा-द्यस्यैव शब्दस्य नानादिक्कैर्योग्यदेशस्थैः श्रोतृभिः श्रवणस्योत्पत्तेः, अनेकाद्यशब्दपरिकल्पनावैयर्थ्याच्च तस्यैकस्यैव स्वदेशे प्रादुर्भूतस्य नाना-श्रोतृभिरुपलम्भात् स्वदेशे सतोरूपस्य नानादृष्टिभिरुपलम्भवत्। स्यान्मतं, नायनरश्मयः प्राप्यरूपमेकदेशवर्त्यपि नानाद्रष्टृजनानां रूपोपलम्भं जनयन्ति न पुनरप्राप्य येन रूपोपलम्भो दृष्टान्तः शब्दोपलम्भस्याप्राप्तेरेव श्रोत्रैः साध्यत इति तदपि न श्रेयः। श्रोत्रविवर्त्तविशेषैः प्राप्तस्यैव शब्दस्योपलम्भप्रसङ्गात्। शक्यं हि वक्तुं नानादेशस्थजनकरणानि प्राप्य शब्दमेकमुपलम्भयन्ति सकृन्नाना-दिग्देशवर्तिभिः प्रतिपत्तृभिरुपलभ्यमानत्वाद् रूपवदिति। गन्धेन व्यभिचार

इति चेत् न, तस्यापि पक्षीकृतत्वात्, सोऽपि कस्तूरिकादिद्रव्यवर्ती नानादिग्देशवर्तिभिर्जनैरुपलभ्यमानः स्वस्वघ्राणकरणैः कथञ्चित्संप्राप्त एवोपलम्भहेतुर्घटते गन्धस्य देशान्तरस्थजनघ्राणेषु गमनासम्भवाद्गुणस्य निष्क्रियत्वाद् गन्धपरमाणूनां गमनेऽपि तत्समवेतगन्धस्यानुपलभ्यमानत्वात्, अनेकद्रव्येण समवायाद्रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिरित्यनुवर्त्तमाने, एतेन गन्धरस स्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातमिति वैशेषिकैरभिधानात्। गन्धद्रव्यावयविनामुपलब्धिलक्षणप्राप्तानां देशान्तरेषु गमने तु मौलकस्तूरिकादिद्रव्यव्ययप्रसंगस्तस्यैव सर्वदिक्कं खण्डावयविरूपावयवानां तदारम्भकानां गमनात्। यदि पुनर्न कस्तूरिकादिद्रव्यस्य परमाणवो गन्धसमवायिनो गच्छन्ति नाऽपि खण्डावयविनस्तदारम्भकावयवास्ततो गन्धद्रव्यान्तराणामुत्पत्तेरिति मतं, तदाऽपि तदारम्भकैः पार्थिवैः परमाणुभिर्भवितव्यं द्व्यणुकादिभिर्वाऽनुपलम्भैरेवोपलब्धिलक्षणप्राप्तानां पार्थिवावयविनामुपलब्धिप्रसंगात्। न चानुपलब्धिलक्षणप्राप्तैः पार्थिवद्रव्यैरारब्धेषु द्रव्यान्तरेषु समवेतस्य गन्धस्योपलब्धिर्युज्यते परमाणुसमवेतगन्धवदिति न गन्धद्रव्यान्तराणि कस्तूरिकादिगन्धद्रव्यमारभन्ते यतः प्राप्तान्येव दूरस्थप्रतिपत्तृघ्राणतद्विषयतामनुभवेयुर्घ्राणेन्द्रियविवृत्तिभिस्तु गत्वा गन्धस्य ग्रहणे प्रोक्तदोषानवकाश इति श्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनानि गत्वा स्वविषयज्ञानं जनयन्ति बाह्येन्द्रियत्वाच्चक्षुर्वदन्यथा तेषामप्राप्यकारित्वप्रसंगात्। ततो न व्यभिचारः शब्दस्य नानादिक्कजनकरणैर्ग्रहणसाधनस्योक्तहेतोरिति नाद्यादनेकस्मादपि शब्दाच्छब्दान्तरोत्पत्तिसम्भवतीति सर्वदिक्कपरापरशब्दप्रसर्पणं यावद्वेगमभ्युपगन्तव्यं। तथा च संस्कारारव्यगुणयोगित्वं नासिद्धं यतः सूक्तमिदं न स्यात् 'न गुणः शब्दः संस्कारवत्त्वाद्बाणादिवदिति'। पुद्गलद्रव्यपर्यायात्मकत्वे तु गन्धादिवदित्यभ्यनुज्ञायमाने न किञ्चिद्बाधकमस्ति। ननु च न स्पर्शवत् द्रव्यगुणः शब्दोऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सत्यकारणगुणपूर्वकत्वात्सुखादिवदिति बाधकसद्भावान्न पुद्गलद्रव्यपर्यायित्वं शब्दस्य व्यवतिष्ठते सुखादेरपि तथाभावप्रसंगादिति कश्चित् सोऽपि स्वदर्शनपक्षपाती, परीक्ष्यमाणस्याकारणगुणपूर्वकत्वस्यासिद्धत्वात्, कारणगुणपूर्वकः शब्दः पुद्गलस्कन्धपर्यायित्वाच्छायातपादिवत्, पुद्गलस्कन्धपर्यायः शब्दोऽस्मदादिबाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्तद्वत्। न घटत्वादिसामान्येन व्यभिचारस्तस्यापि समानपरिणामलक्षणस्य पुद्गलद्रव्यपर्यायत्वसिद्धेः तदसिद्धमेवाकारणगुणपूर्वकत्वं शब्दस्य न साध्यसिद्धिनिबन्धनं कारणगुणपूर्वकत्वेन साधनात्। हेतुविशेषणं चास्मदादि प्रत्यक्षत्वे सतीति व्यर्थमेव। परमाणुरूपादिव्यभिचारनिवृत्त्यर्थं तदिति चेत् न, परमाणुरूपादीनामपि

वर्णस्य षट्प्रकारस्य रसस्यानुष्णाशीतस्य पाकजस्य स्पर्शस्य च पार्थिवघ्राणेन्द्रियग्राह्यत्वप्रसंगात्तथा शीतस्पर्शस्य शीतस्य च रूपस्याप्यरसनेन्द्रियवेद्यत्वं तैजसस्य चोष्णस्पर्शस्य तैजसचक्षुर्वेद्यत्वं कथं विनिवार्येत ? तन्नियमकल्पनायामिति यस्य यस्मादिन्द्रियाद्विज्ञानमुत्पद्यते तस्य तदिन्द्रियग्राह्यत्वं व्यवतिष्ठते तथा प्रतीतेरतिलंघयितुमशक्तेः केवलमिन्द्रियस्य प्रतिनियतद्रव्योपादानत्वं साध्यते प्रतिनियतगुणग्राहकत्वादिति तदेतदसारं, प्रतिनियतद्रव्योपादानत्वस्य घ्राणादीनां साधयितुमशक्यत्वात् । पार्थिवं घ्राणं रूपादिषु सन्निहितेषु पार्थिवगन्धस्यैवाभिव्यंजकत्वान्नागकर्णिकाविमर्दककरतलवदित्यनुमानस्य सूर्यरश्मिभिरुदकसेकेन चानेकान्तात् । दृश्यते हि तैलाभ्यक्तस्य सूर्यमरीचिभिर्गन्धाभिव्यक्तिर्भूमेस्तूदकसेकेनेति । तथा रसनेन्द्रियमाप्यमेव रूपादिषु सन्निहितेषु रसस्यैवाभिव्यंजकत्वाल्लालावदित्यत्रापि हेतोर्लवणेन व्यभिचारात्तस्यानाप्यत्वेन रसाभिव्यंजकत्वसिद्धेः । तथा चक्षुस्तैजसमेव रूपादिषु सन्निहितेषु रूपस्यैवाभिव्यंजकत्वात्प्रदीपादिवदित्यत्रापि हेतोर्माणिक्योद्योतेन व्यभिचारात् । न च माणिक्यप्रभा तैजसी मूलोष्णद्रव्यवती प्रभा तेजस्तद्विपरीता भूरितिवचनात् । तथा वायव्यं स्पर्शनं रूपादिषु सन्निहितेषु स्पर्शस्यैवाभिव्यंजकत्वात्तोयशीतस्पर्शव्यंजकवाय्ववयववदित्यत्राऽपि कर्पूरादिना सलिलशीतस्पर्शव्यंजकेन हेतोर्व्यभिचारात्, पृथिव्यप्तेजः स्पर्शाभिव्यंजकत्वाच्च स्पर्शनेन्द्रियस्य पृथिव्यादिकार्यत्वप्रसंगाच्च वायुस्पर्शाभिव्यंजकत्वाद्वायुकार्यत्ववत् एतेन चक्षुषस्तेजोरूपाभिव्यंजकत्वात्तेजः कार्यत्ववत् पृथिव्यप्समवायिरूपव्यंजकत्वात्पृथिव्यप्कार्यत्वप्रसंगः प्रतिपादितः । रसनस्य चाप्यरसाभिव्यंजकत्वादप्कार्यत्ववत्पृथ्वीरसाभिव्यंजकत्वात्पृथिवीकार्यत्वप्रसंगश्च तथा नाभसं श्रोत्रं रूपादिषु सन्निहितेषु शब्दस्यैवाभिव्यंजकत्वात्, यत्पुनर्न नाभसं तन्न शब्दाभिव्यंजकं यथा घ्राणादि, शब्दस्याभिव्यंजकं च श्रोत्रं तस्मान्नाभसमित्यनुमानस्याप्यप्रयोजकत्वात् नभो गुणत्वासिद्धेः शब्दस्य समर्थनात् नभसि समवेतस्य ग्रहणासम्भवात् । ततो नेन्द्रियाणि प्रतिनियतभूतप्रकृतीनि व्यवतिष्ठन्ते प्रमाणाभावात् प्रतिनियतेन्द्रिययोग्यपुद्‌गलारब्धानि तु द्रव्येन्द्रियाणि प्रतिनियतभावेन्द्रियोपकरणत्वान्यथाऽनुपपत्तेर्भावेन्द्रियाणामेवस्पर्शनादीनां स्पर्शादिज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषलक्षणानां स्पर्शादिप्रकाशकत्वसिद्धेरिति पौद्‌गलिकः शब्दः पौद्‌गलिकद्रव्येन्द्रियाभिव्यंग्यत्वात्स्पर्शरसगन्धवर्णवत्, न पुनर्वायवीयो नभो गुणो वा सर्वगतामूर्त्तनित्यद्रव्यं वा प्रमाणाभावात् । प्रपंचतः प्रतिपादितं चैतत् तत्त्वार्थालंकारे प्रतिपत्तव्यं । तेन शब्दस्य द्रव्यं पुद्‌गलाख्यं वहिरंगस्य निश्चीयते, तथा च स्वद्रव्यतः शब्दात्मकं वाक्यमस्ति न परद्रव्यतः सर्वात्मकत्वप्रसंगात्, परद्रव्यतश्च नास्ति

वाक्यं न पुनः स्वद्रव्यतस्तस्याद्रव्यात्मकत्वप्रसंगादिति विधिप्रतिषेधात्मकं वाक्यं सिद्धम् । तथा स्वक्षेत्रकालाभ्यामस्ति वाक्यं न परक्षेत्रकालाभ्यां सर्वक्षेत्रकालात्मकत्वप्रसंगात् परक्षेत्रकालाभ्यामेव नास्ति न पुनः स्वक्षेत्रकालाभ्यां, तस्याक्षेत्रकालत्वापत्तेः । तदेवं सामान्यतो विधिनिषेधात्मकं वाक्यं सर्वान्तवत्कथ्यते सर्वान्तानां विधिनिषेधाभ्यां संग्रहात्, तदनात्मकस्य कस्यचिदन्तस्यासम्भवात् । विशेषतस्तु भेदाभेदात्मकं द्रव्यपर्यायव्यक्त्यात्मकत्वात्, तत्र द्रव्यं शब्दः क्रियावत्त्वाद्वाणादिवदिति शब्दयोग्यपुद्गलद्रव्यार्थादेशाद् द्रव्यत्वसिद्धिः, तथा पर्यायः शब्दः प्रादुर्भावप्रध्वंसवत्वाद्गन्धादिवदिति श्रवणज्ञानग्राह्यशब्दपर्यायार्थादेशादिति पर्यायत्वसिद्धिः । तथा विसदृशपरिणामविशेषात्मकं सदृशपरिणामसामान्यात्मकं च वाक्यं शब्दद्रव्याणां शब्दपर्यायाणां च नानात्वात्परस्परापेक्षया समानेतरपरिणामसिद्धेर्गन्धादिद्रव्यपर्यायवदिति सर्वान्तवद्वाक्यं सिद्धं द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषेषु सर्वान्तानामन्तर्भावात्सर्वस्यान्तस्य तत्स्वभावानतिक्रमात् ।

नन्वेवं द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मकस्य सर्वान्तवत्त्वे वाक्यस्य युगपत्तथा व्यवहारप्रसंग इति न शंकनीयम् तद्गुणमुख्यकल्पमिति वचनात् । द्रव्यस्य हि गुणत्वकल्पनायां पर्यायस्य मुख्यत्वकल्पनात्पर्यायो वाक्यमिति व्यवहारः प्रवर्तते पर्यायस्य तु गुणकल्पनत्वे मुख्यकल्पं द्रव्यमिति वाक्ये द्रव्यत्वव्यवहारः प्रतीयते तथा सामान्यस्य गुणकल्पत्वे विशेषस्य मुख्यकल्पत्वाद्विशेषो वाक्यमिति व्यवह्रियते, विशेषस्य च गुणकल्पत्वे सामान्यस्य मुख्यकल्पनात्सामान्यं वाक्यमिति व्यवहारात्, सुनिर्णीतासम्भवद्बाधकप्रमाणात्सर्वान्तवद्वाक्यं निश्चीयते संकरव्यतिकरव्यतिरेकेण सर्वान्तानां तत्र व्यवस्थानाद्विरोधादीनां तत्रानवकाशात्परस्परापेक्षत्वात् । न चैवं परस्परनिरपेक्षमपि सर्वान्तवद् वाक्यं कल्पयितुं शक्यं "सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्ष" मिति वचनात् । न हि विधिनिरपेक्षो निषेधोस्ति कस्यचित्कथञ्चित्क्वचिद्विधीयमानस्यैवान्यत्राऽन्यदान्यथानिषेध्यमानत्वदर्शनात्, नाऽपि निषेधनिरपेक्षो विधिरस्ति सर्वस्य सर्वात्मकत्वप्रसंगात् । तथा न द्रव्यपर्यायौ मिथोऽनपेक्षौ विद्येते तद्भावविरोधादिति सर्वान्तशून्यं च मिथोनपेक्षं वाक्यं सिद्धं; तद्विषयत्वात्परस्परनिरपेक्षाणां सर्वेषामन्तानामेकत्वादीनां निरूप्यमाणानां सर्वथाऽप्यसम्भवात् ।

तेन यदुक्तं धर्मकीर्तिना—

भावा येन निरूप्यन्ते तद्रूपं नास्ति तत्त्वतः ।
यस्मादनेकमेकं च रूपं तेषां न विद्यते ॥ इति

कारणगुणपूर्वकत्वसिद्धेः परमाणूनां स्कन्धभेदकार्यत्वात् तद्गुणपूर्वकत्वव्यवस्थितेः परमाणुरूपादीनामितिनिर्णीतप्रायं। यदप्युक्तं न स्पर्शवद् द्रव्यगुणः शब्दोऽस्मदादि प्रत्यक्षत्वे सत्ययावद् द्रव्यभावित्वात्सुखादिवदिति, तदप्ययुक्तं विरुद्धत्वात्साधनस्य। तथाहि स्पर्शवद् द्रव्यगुणः शब्दोऽस्मदादि प्रत्यक्षत्वे सत्ययावद् द्रव्यभावित्वाद् रूपादिविशेषवत्, नात्रसाधनविकलमुदाहरणं रूपादिविशेषाणां यावत्पुद्गलद्रव्यमभावात् पूर्वरूपादिविनाशादुत्तररूपादिविशेषप्रादुर्भावात्। नापिसाध्यविकलं रूपादिविशेषाणां स्पर्शवद् द्रव्यगुणत्वावस्थितेः सुखादिभिर्व्यभिचारः साधनस्येति चेत्, नास्मदादिप्रत्यक्षत्वे सतीति विशेषणात्। न च सुखादयः शब्दवदस्मदादीनां बहूनां प्रत्यक्षाः स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण तु कस्यचित् सुखादयः स्वस्यैव प्रत्यक्षा न पुनर्नानास्मदादीनामिति न तैर्व्यभिचारः। स्वस्याप्यस्मदादिग्रहणेन गृहीतत्वात् स्वप्रत्यक्षत्वमप्यस्मदादि प्रत्यक्षत्वं सुखादीनां प्रत्यक्षसामान्यापेक्षयास्मदादि प्रत्यक्षत्ववचनादिति चेत्, तथापि न सुखादिभिर्व्यभिचारः, स्याद्वादिभिः सांसारिकसुखादीनां कथंचित्स्पर्शवद् द्रव्यगुणत्वस्य प्रतिज्ञानात्। यथैवह्यात्मपर्यायाः सुखादयश्चिद्रूपसमन्वयास्तया सद्वेद्यादिपौद्गलिककर्मद्रव्यपर्यायाश्च, स्वपरतंत्रीकरणरूपसमन्वयादौदयिकभावानां कर्मद्रव्यस्वभावत्वसिद्धेः। मुक्तसुखज्ञानदर्शनादिभिस्तु गुणैरस्पर्शवद् द्रव्यात्मगुणैर्न व्यभिचारस्तेषामस्मदाद्यप्रत्यक्षत्वादस्मदादि विशिष्टयोगिप्रत्यक्षविषयत्वात्तेषामयावद् द्रव्यभावित्वाभावाच्चानन्तत्वेन यावदात्मद्रव्यं भवनशीलत्वात्। ततो निरवद्यमेव विरुद्धसाधनत्वमेतस्य हेतोरिति स्पर्शवद् द्रव्यपर्याय एव शब्दः प्रतीतिबलात्सिद्धः। शब्दयोग्यपुद्गलानां सर्वत्र भावादन्यथा क्वचित्ताल्वादि कारणसद्भावेऽपि शब्दपरिणामानुत्पत्तिप्रसंगात्। न च शब्दपरिणामनिमित्तसन्निधौ क्वचित्कदाचिच्छब्दानुत्पत्तिः स्यात्स च शब्दपरिणामो नैक एव नाना श्रोतृभिः श्रवणविरोधात्। श्रोत्रस्याप्राप्यकारित्वान्न तद्विरोध इति चेत्; न, तस्याप्राप्यकारित्वे कर्णशष्कुल्यन्तः प्रविष्टमशकशब्दग्रहणायोगात् चक्षुषोऽप्राप्यकारिणः तारकाप्राप्तांजनादिग्रहणादर्शनात्तथा चेदमभिधीयते—नाप्राप्यकारि श्रोत्रं प्राप्तशब्दग्रहणात्स्पर्शनादिवत्, यत्पुनरप्राप्यकारि तन्न प्राप्तविषयग्राहिदृष्टं यथा चक्षुरिति निश्चितव्यतिरेकादनुमानादप्राप्यकारित्वप्रतिषेधः श्रोत्रस्य श्रेयानेव। ननु चाप्राप्यकारिणा मनसा प्राप्तस्य सुखादेर्ग्रहणाद् व्यभिचार इति चेन्न सुखादेरात्मनि समवेतस्य मनसा प्राप्त्यभावात्। मनसा संयुक्ते पुंसि सुखादेः समवायात् संयुक्तसमवायप्राप्तिरिति चेत् न, दूरस्थैरपि मनसः प्राप्तिप्रसंगात्, मनसा संयुक्तस्यात्मनस्तैः संयोगात्संयुक्तसंयोगस्य प्राप्तित्वात्, साक्षात्तैरप्राप्ति-

र्मनस इति चेत्, सुखादिभिरपि साक्षात्प्राप्तिः किमस्ति ? परम्परयातैर्मनसः प्राप्तिस्तु न प्राप्यकारित्वं साधयति दूरार्थैरिवेति सर्वत्राऽप्यप्राप्यकारित्वे मनसस्ततो न तेन व्यभिचार इति श्रेयानेव श्रोत्रस्य प्राप्यकारित्वसाधनो हेतुः। येत्वाहुः शब्दोऽप्राप्त एवेन्द्रियेण गृह्यते दूरादित्वेन गृह्यमाणत्वाद्रूपवदिति। तेऽपि न परीक्षकाः, गन्धेन व्यभिचारात् साधनस्य। गन्धद्रव्यस्य गन्धाधिष्ठानस्य दूरादित्वेन गृह्यमाणत्वान्न तेन व्यभिचार इति चेत् न, शब्दस्यापि तदधिष्ठानभेर्यादि दूरादित्वेन दूरे शब्दो दूरतरे दूरतमेवेति ग्रहणादुपचारात्, दूरादित्वेन गृह्यमाणत्वस्य हेतोः परमार्थतोऽसिद्धत्वापत्तेः। ततः प्राप्त एव शब्दो विवादापन्नः परिगृह्यते शब्दत्वात्कर्णशष्कुल्यन्तः प्रविष्ट मशकशब्दवदिति प्राप्यकारि श्रोत्रं सिद्धम्। तथा चैकस्य शब्दस्य युगपन्नाना देशस्थजनश्रोत्रैः प्राप्त्यसम्भवान्नाना शब्दपरिणामाः सर्वदिक्काः प्रजायन्ते स्वप्रतिबन्धककुड थाद्यसम्भवे स्वावरोधकनलिकाद्यसम्भवे च स्वप्रतिघातकघनतरकुड्यादिविरहे च सति गन्धपरिणामवत्, समानाश्च सर्वे गवादि शब्दविवर्त्ताः समानताल्वादिकारणप्रभवत्वात्समानकस्तुरिकादि द्रव्यप्रभवगन्धविवर्त्तवत्, शब्दोपादानपुद्गलानां सर्वशब्दपरिणामसमर्थानां सर्वत्र सद्भावेऽपि प्रतिनियतहेतुवशात्प्रतिविशिष्टशब्दपरिणामाश्च निश्चीयन्ते, गन्धोपादानपुद्गलानां सर्वेषां सर्वत्र सर्वगन्धपरिणामसमर्थानां सम्भवेऽपि प्रतिनियतहेतुगन्धवशात्प्रतिविशिष्टगन्धपरिणामवत्।

ननु च वायव एव शब्दोपादानं तेषां सर्वत्र सर्वदा सद्भावादन्यथा व्यञ्जनादिना तदभिव्यक्तेरयोगाद्वेगवद्वाय्वन्तरेणाभिघाताच्चेति केचित्। तेऽपि वायवीयं शब्दमाचक्षाणाः श्रोत्रग्राह्यं कथमाचक्षीरन् तस्य स्पर्शनग्राह्यत्वप्रसंगात्स्पर्शवत्। तथाहि वायवीयस्पर्शनेन्द्रियग्राह्यः शब्दो वाय्वसाधारणगुणत्वात्, यो यदसाधारणगुणः स तदिन्द्रियग्राह्यः सिद्धो यथा पृथिव्यप्तेजोऽसाधारणगुणो गन्धरसरूपविशेषगुणः प्रार्थिवाप्यतैजसघ्राणरसननयनेन्द्रियग्राह्यः, वाय्वसाधारणगुणश्च शब्दस्तस्माद्वायवीयस्पर्शनेन्द्रियग्राह्य इति श्रोत्रपरिकल्पना वैयर्थ्यं प्राप्द्येत। यदि पुनराकाशसहकारि करणत्वाच्छब्दस्याकाशसमवायेन श्रोत्रेण ग्रहणमुररीक्रियते तदा स्पर्शस्यापि श्रोत्रग्राह्यत्वप्रसंगस्तस्याप्याकाशसहकारिवायूपादानत्वाच्छब्दवत्। गन्धादीनां च श्रोत्रवेद्यत्वं स्यादाकाशसहकारिपृथिव्याद्युपादानत्वात्। न ह्याकाशं कस्यचिदुत्पत्तो स्वोपादानात्सहकारि न भवेत्, सर्वोत्पत्तिमतां निमित्तकारणात्कालादिवत्। स्यान्मतं, नाऽयं नियमोऽस्ति यो यदसाधारणगुणाः स तदिन्द्रियग्राह्य इति पार्थिवस्य पंचप्रकारस्य

तत् स्याद्वादिनामभिमतमेव।

तदेतत्तु समायातं यद्वदन्ति विपश्चितः।
यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा॥

इत्यादिवत्—

परस्परनिरपेक्षाणां केनचिद्रूपेणार्थानां व्यवस्थापयितुमशक्यत्वात्। ततः सर्वापदामन्तकरं तवैव परमागमलक्षणं तीर्थं सकलदुर्नयानामन्तकरत्वात्तत्कारण-शारीरिकमानसिकविविधदुःखलक्षणानामापदामन्तकरत्वोपपत्तः। मिथ्यादर्शन-निमित्ता हि सर्वाः प्राणिनामापद इति सर्वमिथ्यादर्शनानामन्तकरं तीर्थं सर्वापदा-मन्तकरं सिद्धं। तत एव निरंतं केनचिन्मिथ्यादर्शनेन विच्छेत्तुमशक्तेरविच्छेदत्व-सिद्धेः। तथा सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव सर्वेषामभ्युदयकारणानां सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्रभेदानां हेतुत्वादभ्युदयहेतुत्वोपपत्तेः। सर्व उदयोऽभ्युदयोऽस्मादिति सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैवेति वचनात्। परेषां तदसम्भवः सिद्ध एव।

ननु परोऽप्येवं ब्रूयान्नैरात्म्यवादिन एव तीर्थं सर्वोदयं सर्वापदामन्तकरं न पुनः परेषामिति। तदुक्तम्—

साहंकारे मनसि न शमं याति जन्मप्रबन्धो।
नाहंकारश्चलति हृदयादात्मदृष्टौ च सत्याम्॥
अन्यः शास्ता जगति च यतो नास्ति नैरात्म्यवादा-
न्नान्यस्तस्मादुपशमविधेस्त्वन्मतादस्ति मार्गः॥

इति तथाऽन्यः परमात्मवादी ब्रूयात्परमब्रह्मण एव तीर्थं सर्वोदयं न परेषां नैरात्म्यवाद्यादीनां तत्र संशयहेतुत्वात्। तथा चोक्तम्—

योलोकाञ्ज्वलयत्यनल्पमहिमा सोऽप्येष तेजोनिधि-
र्यस्मिन्सत्यवभाति नासति पुनर्देवोंऽशुमाली स्वयम्।
तस्मिन्बोधमयप्रकाशविशदे मोहान्धकारापहे।
येऽन्तर्यामिनि पूरुषे प्रतिहताः संशेरते ते हताः॥

एवमन्योपीश्वरवादीश्वरादेरेव तीर्थं सर्वोदयमिति स्याद्वादितीर्थमनेकधा द्वेष्टि।

भावार्थः—जिसप्रकार विशेष सामान्य इन दोनोंके परस्पर भेदसापेक्षतासे विधिका स्वरूप जाननेयोग्य जो विषय है वह अपनी आत्मबलसे ही वाक्यकी व्यवस्थाकी है, तथा वाक्यही परमागमका लक्षण है उसकाही स्वरूप प्रतिपादन करनेके लिये भगवान् श्रीसमन्तभद्राचार्य अग्रिमश्लोकसे दिग्दर्शित करते हैं।

'सर्वान्तवत्' अर्थात् तीर्थ ऐसा अर्थ होता है यह तीर्थही परमागमका वाक्य है जिस कारणसे अनादिजन्य जन्म, जरा, मरण यही एक भवरूपी समुद्र इससे पार होनेका पुरुषार्थ करनाही साक्षात् तीर्थ है और अन्य तीर्थयात्रा करनेसे कोई लाभ नहीं है क्योंकि निमित्तसे नैमित्तिक उपादान कारण कार्य रूपमें आजाय तो ही बाह्य तीर्थसे लाभ होसकता है अन्यथा आकाशके पुष्पके समान बेकार है।

एवं सामान्य विशेपात्मक द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक इन उभय नयोंके वजहसे अखिल अनन्तधर्मोंका समावेश किया है। अर्थात् स्वद्रव्य, काल, क्षेत्र, भाव इन चतुष्टयोंकी अपेक्षासे अपने स्वरूपभूत चार अवयवोंसे संपूर्ण पदार्थ कथंचित् अस्तिरूपही हैं। तथा कोई शब्द यों निषेध करनेमें प्रवृत्त रहा है। जैसे कि स्वरूप आदिके विपर्यास यानी पर-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंसे संपूर्ण पदार्थ कथंचित् नास्ति रूपही हैं। विधि और निषेधके क्रमसे उस द्वैतपनकी विवक्षासे संपूर्णपदार्थ कथंचित् अस्ति नास्ति उभयरूपही हैं। अथवा अस्तित्व और निषेधकी युगपत् कथनविवक्षा होने पर वह वस्तु अवक्तव्य ही है। तथा यथा-योग्य उचित नयकी विवक्षा करनेसे यानी स्वरूप चतुष्टय और एक समयमें दोनोंके कहनेकी अपेक्षासे वस्तु कथंचित् अस्त्यवक्तव्य रूपही है। एवं उचित नयकी योजनासे ही यानी परचतुष्टय और युगपत् कथनकी विवक्षासे वस्तु कथंचित् नास्त्यवक्तव्य ही कही जाती है। तथा स्वचतुष्टय और परचतुष्टय एवं युगपत् कथनकी अर्पणा करनेसे वस्तु कथंचित् अस्ति नास्त्यवक्तव्य स्वरूप ही है। इस प्रकार धर्मोंके अविरोधसे शब्दोंकी प्रवृत्ति द्वारा सात भंगोके समुदायकी योजना हो जाती है।

अर्थात् पुद्‌लद्रव्य अनादि अनिधन है और उसका जो पर्याय शब्द वह द्रव्यरूप होनेसे अनित्य है ऐसा निश्चय किया जाता है। तथा द्रव्य जो है वह शब्दरूपसे क्रियास्वरूपी होनेसे पृथिवीके समान है अर्थात् क्रियावान् शब्द प्रवक्ताके उपदेशके प्रभावसे देशसे देशान्तर तक प्राप्त हो जाते हैं। तथा संख्यावान् शब्द एवं संयोगी शब्द इस प्रकार इन दोनोंका विभाग करनेसे गुणोंके आश्रयसे गुणवान् भी कहलाता है एवं पृथिवी आदिके समान गुणवान् शब्द जगत्‌में प्रसिद्ध है।

तथा शब्दोंमें संख्याओंका भी प्रतिभास नहीं होसकता है ऐसी बात नहीं है--क्योंकि यह एक वाक्य है या ये उभय वाक्य हैं अथवा ये तीन वाक्य हैं इत्यादि संख्या प्रत्यय अबधित होनेंसे परस्पर शब्द-व्यवहार पाया जाता है। एव 'क्षकार' आदि संयुक्ताक्षरोंका संयोगभी प्रतीत होता है इसी प्रकार इनकी जात्यन्तरोंसे उत्पत्ति मानने पर आपसमें असंयोगात्मकत्वकी परिकल्पनासे पुरुप

और दंडका संयोगभी नहीं मानना चाहिये । एवं दंडके संयोगसे दंडीपुरुषका नामोल्लेख किया जाता है इन दोनोंमें अत्यन्त भेद होनेसे परस्पर दो भिन्न द्रव्यों का सम्मेलन अनिवार्य है । तव प्रतीतीको निर्दोषवादियोंके लिये शव्द क्रिया-गुणवान् है ऐसा अवश्य मानना न्याय संगतही होजायगा । इस स्याद्वादी न्यायसे शव्द क्रियावान् नहीं है अर्थात् अक्रियावान् है ऐसा यदि होजाय तो अनुमानप्रमाण-का भी निराकरण निश्चित होगा और प्रस्तुतपक्ष प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणसे वाधित होनेसे कालात्ययापदिष्टत्व नामक हेतु दोपसे शव्द आकाशगुणी नहीं होसकता है अर्थात् हेतु असिद्ध है । और आकाशका विशेप गुण शव्द है क्योंकि सामान्य-विशेषात्मक होनेसे आकाशात्मक करणग्राह्य है जो जिसका करणग्राह्य होता है वह उसीका ही विशेप गुणी कहलाता है ऐसा देखा गया है । जैसे पृथिव्यात्मक विशेप गुण गंध है यह उसका ही करण (इन्द्रिय) ग्राह्य होने पर पृथिवीका विशेष गुण मानाजाता है । उसी प्रकार शव्द भी आकाशात्मक श्रोत्रग्राह्य होनेसे आकाशकाही विशेप गुण मानागया है इस अनुमानसे शव्द आकाशका विशेष गुण है ऐसा सिद्ध होगया तो भी तुम्हारा कहना युक्ति संगत नहीं है ।

अव स्याद्वादी कहते हैं कि शव्द आकाशका विशेषगुण नहीं है क्योंकि वह सामान्य विशेपात्मक होने पर वाह्येन्द्रियके प्रत्यक्षग्राही है गंधादिकके समान ऐसा प्रतिपक्षभूत अनुमान प्रमाणका सत्यसद्भाव सिद्ध है । तथा शव्द आकाशका गुण नहीं है क्योंकि संस्कारवान् होनेसे वाणादिकके समान है ऐसा अनुमान प्रमाण प्रतीत होता है । यदि तुम कहोगे शव्दका संस्कारत्वही असिद्ध है ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि वेगका जो संस्कार है वह शव्दमें वक्ताके व्यापारके वजहसे प्राप्त हो जाता है जव तक वक्ताका वक्तृत्व रहेगा तव तक शव्दका प्रसर्पण चलता है । यदि शव्दका प्रसर्पण ही असिद्ध है ऐसा कहोगे तो वह शव्द वक्ताके व्यापारसे एक ही पैदा होता है या अनेक ? यदि एक ही पैदा होगा तो कैसे नाना दिग्देशान्तरोंमें पहुंचेगा इस विषय पर तुमको पूरा विचार करना न्यायसंगत होगा । अर्थात् सर्वदेशान्तरोंमें तथा सभी तात्वादिकोंके संयोगसे उत्पन्न शव्द वायु आकाशादिकोंके साथ इसका कोई भी समवायी संवंध नहीं देखा गया है । क्योंकि समवायीभूत आकाशमात्र सर्वगतव्यापी होनेसे । अत: सभी दिग्देशोंमें एक ही शव्द नाना शव्दोंको युगपत् पैदा करलेता है यह भी तुमारा कहना योग्य नहीं है । क्योंकि शव्दके आरम्भकत्वकी ही सिद्धि नहीं है । जिस प्रकार आद्यशव्द अन्य शव्दान्तर ताल्वादि आकाश संयोगोंसे उत्पन्न नहीं हो सकता है क्योंकि शव्द आकाशका गुण नहीं होनेसे उसी प्रकार संपूर्ण दिशा विदिशाओंमें भी परस्परमें

ऐसा कश्चित् एकान्त वादी कहता है वह भी स्वदर्शनका पक्षपाती है। परीक्षा करनेमात्रसे अकारण गुणपूर्वकत्वहेतुकी असिद्धि होजाती है शब्द कारण गुणपूर्वक होनेसे पुद्गलस्कन्धका पर्याय है और छाया, आतप आदि दृष्टान्त हैं। पुद्गल-स्कन्धपर्यायी शब्द हमारे वाह्येन्द्रियसे प्रत्यक्ष हैं तथा घटत्वादि सामान्यसे व्यभि-चार दोष नहीं आसकता है। उसका समान परिणाम लक्षणसे पुद्गलपर्यायत्व सिद्ध होजाता है। तव कोई अपना मत प्रकट करते हुए कहता है कि शब्द अकारण गुणपूर्वक होनेसे साध्यसिद्धि नहीं हो सकती है। अतः हेतुविशेपणसे हमारे प्रत्यक्ष होनेसे परमाणुरूपादिकके व्यभिचारदोष नहीं आसकते हैं और परमाणु रूपादिकोंमें भी कारण गुणपूर्वकत्वकी सिद्धि है। परमाणुओंका स्कन्ध-भेद कार्य होनेसे शब्दमें आकाश गुणकी व्यवस्था वन जाती है क्योंकि परमाणु रूपादिक हैं ऐसा सिद्ध होगया अतः शब्द स्पर्शके समान द्रव्यका गुण नहीं है अर्थात् हमारे प्रत्यक्षत्व होनेसे सुखादिकोंके समान ऐसा तुमारा कहना भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि तुमारे साधनमें विरुद्धनामक दोष आजाता है।

तथा स्पर्शके समान द्रव्यगुणी शब्द है क्योंकि हमारे ज्ञान प्रत्यक्ष होनेसे रूपादि विशेषके समान प्रमाणसे जाना जाता है यहां पर दिया हुआ उदाहरण साधन दूषित नहीं होसकता है। रूपादि विशेषोंका साध्य विकलत्व नहीं है इसलिये स्पर्शके समान द्रव्यगुणत्वकी व्यवस्था कीजाती है। तथा शब्दके समान हमारे लोगोंके सुखादिक प्रत्यक्ष नहीं हो सकते हैं। स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे किसीको भी सुखादिक विपय अपने आपको प्रत्यक्ष हो जाते हैं इससे कोईभी व्यभिचार नहीं आसकता है। स्याद्वादीयोंने भी सांसारिक सुखको कथंचित् स्पर्शके समान द्रव्यगुणत्व माना है। जैसे आत्माके पर्याय सुखादि चिद्रूपके समन्वय हैं वैसे सातावेदनीयजनित पौद्गलिक कर्म द्रव्य पर्याय हैं। ये परस्परमें कार्य कारण रूप होनेसे औदयिक भावोंमें कर्म द्रव्य स्वभावत्वकी सिद्धि होजाती है। तथा मोक्षके सुखदायक ज्ञान दर्शनादिकोंमें द्रव्यात्मगुणोंसे व्यभिचार नहीं आसकते हैं अवएत हमारा दियाहुआ हेतु निर्दोष है क्योंकि स्पर्शके समान द्रव्य पर्यायी शब्द है ऐसे अनुमानसे सिद्ध होगया।

तथा शब्दयोग्य पुद्गलोंका सर्वत्र सद्भाव सिद्ध है यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो ताल्वादि कारण सद्भावमें शब्द परिणामकी अनुत्पत्ति होनेका प्रसंग आयगा। तथा शब्द परिणामके निमित्तभूत क्वचित्, कदाचिद् भी नाना श्रोतृओंमें विरोध उपस्थित नहीं होसकता है क्योंकि श्रोत्र अप्राप्यकारी होनेसे शब्दका विरोधी नहीं हो सकता है ऐसा कहना ही ठीक नहीं है। यदि श्रोत्रको अप्राप्यकारी

माननेसे कानके भीतर प्रवेश किये हुए मच्छरोंके शब्दोंका भी ग्रहण नहीं हो सकेगा क्योंकि चक्षु अप्राप्यकारी न्यायसे सिद्ध होसकता है अन्यथा चक्षु अञ्जन संस्कारसे तारकादिकोंका भी रूपावलोकन नहीं करसकेगा किन्तु ऐसा नहीं हो सकता है। श्रोत्रमात्र अप्राप्यकारी नहीं है प्राप्त किये हुए शब्दोंको ग्रहण करता है और जो अप्राप्यकारी होगा वह प्राप्त विषयको ग्रहण नहीं कर सकता है जैसे चक्षु ग्रहण करेगा वैसे श्रोत्र नहीं करेगा इस प्रकार निश्चित व्यतिरेकानुमानसे श्रोत्रके अप्राप्य-कारित्वका निषेध किया है।

कोई शंका करता है कि मन अप्राप्यकारी होता हुआ भी प्राप्य सुखादि-कोंको ग्रहण करता है इसलिये व्यभिचारदोष आयगा यहभी ठीक नहीं है क्योंकि सुखादिकविषय आत्माके साथ होनेसे मनसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। मनसे युक्त पुरुषमें सुखादिकों का सद्भाव होने से संयुक्त समवायकी प्राप्ति निश्चित है। ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि दूरवर्ति सुखादिकों का भी मनसे ग्रहण होने लगेगा किन्तु ऐसा नहीं हो सकता है। तथा आत्माके साथ मनका संयुक्त संयोग होनेसे मनभी अप्राप्यकारी ही है ऐसा कहोगे तो सुखादिकभी साक्षात्प्राप्त होसकते हैं या परंपरासे हो सकते हैं। एवं मनसे प्राप्त किये गये वस्तुओं को भी प्राप्यकारी हेतुसे सिद्ध नहीं करसकते हैं क्योंकि दूरवर्ति चीजों का भी मनसे यदि ग्रहण होने लगेगा तो व्यभिचार दोष आयगा किन्तु ऐसा नहीं होसकता है। श्रोत्रके लिये प्राप्यकारित्व हेतु दिया गया है यह उचित नहीं है।

फिर शंकाकार प्रश्न करता है कि शब्द अप्राप्त इन्द्रियसे ही ग्राह्य है अर्थात् दूरवर्ति वस्तुओं से ग्रहण करने योग्य होनेसे क्योंकि रूपके समान ऐसा कहने वाला भी परीक्षक नहीं है गन्ध द्रव्यसे तुमारे साधन में व्यभिचार दोष आ जाता है। गन्ध द्रव्यका आधार गन्ध ही होने से दूरसे ही गन्ध द्रव्य को ग्रहण किया जाता है इसलिये व्यभिचार नहीं आसकता है यह भी ठीक नहीं है क्योंकि शब्द भी उपचार से दूरवर्ति वस्तुओं को ग्रहण करलेते हैं किन्तु इस विषय में पारमार्थिक दृष्टिसे असिद्धत्व नाम की आपत्ति आजाती है।

इसलिये प्राप्तयुक्त शब्दको वादविवाद में परिग्रहण किया जाता है क्योंकि शब्दत्वात् हेतु होने से कानमें घुसे हुए मच्छरादिकों के शब्दों के समान यह दृष्टान्त दिया गया है अतः श्रोत्रप्राप्यकारी सिद्ध हुआ।

तथा एकही शब्द युगपत् नानादेशनिवासी लोगोंके कानोंमें प्रवेश करेगा ऐसा संभव नहीं है क्योंकि नाना प्रकारके शब्द ही अनेक दिशाओं में प्राप्त हो सकते

हैं और दीवालादिकों का असंभव होनेपर अथवा स्वअवरोधक नलिकादियोंका असंभव होनेसे या स्वप्रतिघातक घनतर दीवालादियों के विरह मात्रसे गन्धपरिणामी शब्द टकराकर अत्यन्त छोटे-छोटे छिद्रोंमें भी प्रवेश करजाते हैं अतः सभी गत्रादि शब्द ताल्वादिकों के कारण उत्पन्न हो जाते हैं इसलिये समानकस्तूरिकादि द्रव्य प्रभावसे सर्वत्र पैदा होजाते हैं। तथा शब्द से उत्पन्न हुए पुद्गलोंके और सर्वशब्द परिणामी समर्थ लोगोंके सब जगह सद्भाव होनेपर तथा प्रतिनियत हेतुविशेषसे विशेष शब्दोंका ही निश्चय किया जाता है।

केचित् शंका उपस्थित करता है कि, वायु आदिकही शब्दोंसे उत्पन्न होनेसे उनका सर्वत्र निरंतर सद्भाव माना गया है अन्यथा व्यंजनादिकोंसे वायु आदियों के अभिव्यक्तियों का अयोग होनेसे वेगके समान अन्य वाद्यादिकों से अभिघात होना सम्भवनीय है ऐसे एकान्तवादी कहते हैं वे भी वायु आदियोंसे शब्दको चाहनेवाले श्रोत्रग्राह्य हैं ऐसे कैसे निश्चय कर सकते हैं। क्योंकि उसको स्पर्शनग्राह्यत्वसे दूषण पैदा होजायगा।

तथा वायु आदियोंके स्पर्शनेन्द्रियग्राह्यशब्द वायुके असाधारण गुण कहे जाते हैं जो जिसके असाधारण गुण होते हैं वे शब्द इन्द्रियों से ग्रहण करने लायक होसकते हैं जैसे पृथिवी, जल, अग्नि वगैरह असाधारण गुण हैं वैसे गन्ध, रस, रूप इत्यादि भी विशेष गुण कहलाते हैं एवं ये गुण पार्थिवमय होने परभी चक्षुइन्द्रियसे ग्रहण कियेजाते हैं इस प्रकार श्रोत्र की कल्पना करना वैयर्थ्यको प्राप्त हो जायगा।

यदि शब्द आकाश के सहकारीकरण होनेसे आकाश समवायी श्रोत्रेन्द्रियसे ग्रहण किया जायगा ऐसा निश्चय किया जाता है तो स्पर्शनेन्द्रिय को भी श्रोत्रग्राह्यत्वका प्रसंग आजायगा और उसका वायुके साथ सहकारी कारण होनेसे शब्दके समान अप्राप्यकारित्वका दोष आयगा।

यदि ऐसा तुमारा मत है तो जो जिसका असाधारण गुण होता है वह उसका इन्द्रियग्राह्य होजाता है ऐसा नियम नहीं है। जैसे पार्थिवके पांच प्रकारके वर्ण हैं वैसे रसके भी छः प्रकार हैं इसी प्रकार शीतस्पर्शका ग्रहण पार्थिव घ्राणेन्द्रियसे ग्राह्य कैसा हो सकेगा क्योंकि शीतस्पर्शका ग्रहण स्पर्शनेन्द्रिय ही करसकता है किन्तु रसनेन्द्रिय नहीं करसकता है। और तैजसके उष्णस्पर्शको तैजस चक्षुही ग्रहण करसकता है। इसी प्रकार जिससे जिसका ज्ञान होता है उसका उसी इन्द्रियसे ग्रहण किया जाता है। तथा प्रतितीका (नियमका)

उल्लंघन नहीं कर सकते हैं केवल इन्द्रियका प्रतिनियतद्रव्योपादानत्व सिद्ध करोगे तो अशक्य है अर्थात् प्रतिनियत द्रव्योपादानत्वको घ्राणादि इन्द्रियोंसे नहीं सिद्ध करसकते हैं।

तथा रूपादि सन्निहित रसादिकोंका ग्रहण रसनेन्द्रिय ही करसकता है एवं चक्षु भी समीपवर्ति रूपादि विषयोंको स्पष्टरीतिसे प्रकाशित करसकता है प्रदीपादिके समान अर्थात् यहां पर माणिक्य रत्नोंसे व्यभिचार नामक दोष आजाता है। तथा वायु स्पर्शनेन्द्रियसे ही ग्रहण कीजाती है अर्थात् जलके शीतस्पर्शके अवयवियोंके समान कर्पूरादि सलिलके शीतस्पर्शके अवयवियोंसे व्यभिचार आता है। पृथिवी, जल, अग्नि इत्यादि द्रव्य स्पष्ट अर्थात् अभिव्यंजक होनेसे स्पर्शनेन्द्रियको पृथिव्यादि कार्यत्वका प्रसंग आयगा जैसे वायुके स्पर्शाभिव्यंजकके समान दोष उपस्थित होगा। इससे चक्षु तेजरूपको प्रकाशित करनेसे तेज कार्यके समान तथा पृथ्वी, जलके समवायी रूपको प्रकट करनेसे चक्षुको पृथ्वी, जल इन दोनोंका प्रसंग आयगा ऐसा प्रतिपादन किया है। एवं रसनेन्द्रियको भी अरसनासे अप (जल) के समान पृथ्वी भी रसको ग्रहण करनेसे पृथ्वी कार्यत्वका प्रसंग आयगा। एवं श्रोत्रको आकाशका गुण कहनेसे समीपवर्ति विषयको ही ग्रहण करेगा किन्तु दूरवर्तिको ग्रहण नहीं करेगा ऐसा नहीं होसकता है। जो आकाशका गुण नहीं है वह शब्द अन्य शब्दान्तरोंको प्रकाशित नहीं करेगा जैसे घ्राणेन्द्रियादिकोंके समान एवं शब्दको ग्रहण करने वाला श्रोत्रेन्द्रिय ही समर्थ है अतः शब्दको आकाशका गुण माननेसे असम्भव दोष आता है।

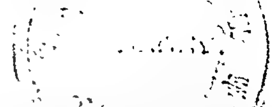
इसलिये इन्द्रिय अपने कार्यमें स्वतन्त्र होकर विषयको ग्रहण करते हैं इस प्रकार स्पर्शनेन्द्रियका कार्य रसनेन्द्रिय नहीं करसकता है क्योंकि प्रमाणका अभाव है तदनुसार शब्द पौद्गलिक हैं पुद्गलभूतद्रव्येन्द्रियके विषयोंको स्पष्ट करते हैं अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्णके समान दृष्टान्त वाक्य कहा गया है। अतः शब्द आकाशका गुण नहीं है तथा सर्वगत नित्य अमूर्त द्रव्य नहीं होसकता है प्रमाणका अभाव है। इस प्रकार विस्तारसे तत्त्वार्थालंकारमें वर्णन किया है सो पाठक ज्ञात करलेवें। इस न्यायानुसार शब्द पुद्गल ही होनेसे शब्दको मूर्तिक द्रव्यसे ही संवोधित कर निश्चय किया जाता है। उसी प्रकार स्वद्रव्यसे शब्दात्मक वाक्य होता है किन्तु इसके लिये परद्रव्यसे संवोधित करनेसे सर्वात्मकत्वका प्रसंग आजायगा। तथा परद्रव्यतासे वाक्य नहीं है पुनः स्वद्रव्यतासे भी वाक्य सिद्ध नहीं होसकता है यदि ऐसा किया जायगा तो शब्दपर अद्रव्यात्मकत्वका आक्षेप आजायगा इस प्रकार विधिप्रतिषेधात्मक वाक्यकी सिद्धि होगई है।

तथा स्वद्रव्यक्षेत्रकालसे वाक्य है किन्तु परद्रव्यक्षेत्रकालसे नहीं है अन्यथा सर्वक्षेत्रकालात्मकत्वका प्रसंग आजायगा। तथा परक्षेत्रकालसे वाक्य नहीं है फिर स्वक्षेत्र कालसे भी नहीं है अन्यथा अक्षेत्रकालत्वादिककी आपत्ति आजायगी। अतएव सामान्यसे विधिनिषेधात्मक वाक्य 'सर्वान्तवत्' के समान कहाजाता है और सर्वान्तोंका विधिनिषेधसे ही संग्रह कियागया है। तथा उसके अन्तका भी अभाव मानलिया है एवं विशेषसे भेदाभेदात्मक द्रव्यपर्याय व्यक्त्यात्मक होनेपर द्रव्यमय शब्द कहाजाता है अर्थात् शब्द क्रियावान् होनेसे वाणादिके समान शब्द योग्य पुद्गल द्रव्यार्थादेशसे द्रव्यत्वकी सिद्धि होगई है। तथा शब्द पर्यायवान् होनेसे प्रादुर्भाव प्रध्वंसाभावसे समवेत होनेपर गन्धादिकके समान है अतः श्रवणज्ञानसे ग्रहण करने योग्य शब्द पर्यायार्थिकनयानुसार पर्यायत्वकी सिद्धि होजाती है। तथा विसदृशपरिणाम विशेषात्मक एवं सदृशपरिणाम सामान्यात्मक वाक्य है अतएव शब्द द्रव्योंके और शब्द पर्यायोंके नानात्व होनेसे परस्परापेक्षासे समानेतर परिणामकी सिद्धि होगई अर्थात् गन्धादि द्रव्यपर्यायके समान सर्वान्तवद्वाक्यकी सिद्धि होगई है एवं द्रव्यपर्याय सामान्यविशेषोंमें सर्वान्तका अंतर्भाव होनेसे सर्वस्यान्तस्य का अनतिक्रम नहीं होसकता है।

शंकाकार प्रश्न करता है कि, द्रव्य पर्याय सामान्यविशेषात्मक सर्वान्तवद्वाक्यका युगपत् प्रयोग करनेसे व्यवहारका प्रसंग आजायगा ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये।

'तद्गुणमुख्यकल्पम्' ऐसा वचन होनेसे। द्रव्यत्वके लिये गुणत्व कल्पना करनेसे और पर्यायके लिये मुख्यत्वकी कल्पना करने मात्रसे पर्यायभूतवाक्य है ऐसा व्यवहार सिद्ध होजाता है। एवं पर्यायको गुणत्वकी कल्पना करनेसे और मुख्यकल्प द्रव्यमय वाक्य है ऐसा प्रयोग करनेसे द्रव्यत्वव्यवहार प्रतीत होता है। तथा सामान्यको गुणकल्पनासे तथा विशेषकी मुख्यकल्पना करनेसे विशेषयुक्त वाक्यका व्यवहार ग्रहण कियाजाता है।

और विशेषको गुणत्वकी कल्पना करनेसे एवं सामान्यको मुख्यत्वकी कल्पना करनेसे सामान्यमयवाक्यका व्यवहार स्वीकार कियाजाता है। सुनिर्णीत है असम्भवद्बाधकप्रमाण जिसमें ऐसा 'सर्वान्तवद्वाक्यं' का निश्चय किया जाता है। संकरव्यतिकरके व्यतिरेकसे सर्वान्तकी व्यवस्था कीजानेसे विरोधादिकोंको वहां विलकुल आस्पद ही अर्थात् स्थानही नहीं मिलता है क्योंकि परस्पर अपेक्षावाद होनेसे तद्वत् परस्पर निरपेक्षभी सर्वान्तवद्वाक्यकी कल्पना करनेके लिये



अशक्य है अर्थात् 'सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्' ऐसा वचन होनेसे, अतएव विधि-निरपेक्ष निषेध नहीं होसकता है क्योंकि कस्यचित्, कथंचित्, क्वचित् इनके स्याद्वादन्यायानुसार विधिद्रव्यका प्रतिपादन कियाजाता है और अन्यत्र अन्य समयमें अन्यथा निषेधद्रव्यकाही व्याख्यान किया जाता है। और निषेध निरपेक्ष विधि नहीं है यदि ऐसा होने लगेगा तो 'सर्वस्यको' सर्वात्मकत्वका प्रसंग आयगा। एवं द्रव्य और पर्याय परस्परमें अनपेक्षवादी नहीं हैं किन्तु आपसमें सापेक्षवादी हैं अन्यथा इन दोनोंकी अनुत्पत्तिही सिद्ध होजायगी तद्वत् सामान्य तथा विशेष ये दोनों भी परस्परमें अनपेक्षता नहीं रखते हैं किन्तु सापेक्षता रखनेसे इन दोनोंकी निर्विवादसे सिद्धि होजाती है इस प्रकार 'सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्' ऐसी वाक्यसिद्धि होगई है। तथा विधि और निषेध इन दोनोंमें परस्पर निरपेक्षत्व माननेसे एवं 'सर्वेषामन्तानाम्' को एकत्वादि दूषणकी अपेक्षासे यदि निरूपण किया जायगा तो इन दोनोंका प्रतिपादन करनाही असम्भवनीय होजायगा। किन्तु ऐसा नहीं होसकता है अन्यथा वस्तु शून्य होजायगी। जैसे धर्मकीर्ति ने जो कहा है अर्थात् जिस कारणसे भावोंका निरूपण किया जाता है उसी कारणसे तत्त्वानुकूल भावोंका भी निषेध किया जाता है इसाका नाम स्याद्वाद कहा गया है। इसलिये उनके मतमें अनेक तथा एककी अनकान्ततत्त्वकी विवक्षा नहीं हो सकती है। इस प्रकार स्याद्वादियोंका अभिमत है क्योंकि विद्वज्जन जैसे वस्तु-तत्त्वका प्रतिपादन करते हैं वैसे ही निरपेक्षतासे नश्वरतत्त्वकी भी आलोचना करते हैं।

इस प्रकार परस्पर निरपेक्ष पदार्थों की किसी प्रकारसे भी व्यवस्था करनेके लिये अर्थात् अशक्य होनेसे कोई भी स्याद्वादी समर्थ नहीं हो सकता है। इसलिये सभी प्रकार की आपत्तियों का नाश करनेके लिये परमागमलक्षणभूत-तीर्थ ही समर्थ है। यही परमागमतीर्थ समस्त दुर्नयोंका भी अंत (विध्वंस) करनेके लिये कारण है और शारीरिक तथा मानसिक अनेक प्रकारके दुःख-स्वरूपी आपत्तियोंका अन्त (नाश) करनेमें समर्थशाली हो सकता है। और जितने संसारमें दुःख हैं वे सब मिथ्यादर्शनके निमित्तसे ही संसारी प्राणियोंको प्राप्त होते हैं। तथा समस्त मिथ्यादर्शनोंका नाशके कारण परमागस्वरूपी तीर्थही समर्थ होनेसे अखिल आपदाओंका विनाशक तीर्थ है ऐसा सिद्ध होचुका है। इसलिये निकृष्टमय मिथ्यादर्शनसे 'निरंतं' अर्थात् (मिथ्यात्व) को विनष्ट करनेके लिये मिथ्या दर्शन असमर्थ होनेसे उस मिथ्यात्वका विच्छेद नहीं होसकता है ऐसा तत्वतः सिद्ध हुआ। तथा यह सर्वोदयतीर्थ सब प्राणियों

को कारणभूत अर्थात् स्वर्गादिसुख प्राप्त करनेके लिये सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र को कारणीभूत हेतु होनेसे अभ्युदयहेतुत्वकी सिद्धि हुई।

अर्थात् 'सर्व उदयोऽभ्युदयो' समस्त स्वर्गमोक्षादि सुखोंका उदय (प्राप्त) होजाना इसीका सार्थक नाम सर्वोदयतीर्थ है और मिथ्यादृष्टियोंको यह तीर्थ असम्भव है। ऐसा युक्ति और आगमसे सर्वोदयतीर्थसिद्ध हुआ।

अर्थात् दूसरे मिथ्यावादी (नैरात्म्यवादी) लोगभी कहते हैं कि, यह सर्वोदयतीर्थ नैरात्म्यवादियोंका ही है जिससे समस्त आपदाओंका इससे अन्त होजाता है किन्तु रागद्वेषी उनके लिये यह तीर्थ नहीं है। कहा भी है--

अर्थात् दुरभिमानी लोगोंके मनमें जन्मतासे ही कोई भी अवस्थाविशेषमें सुख प्राप्त नहीं होसकता है। और जिनधर्मद्वेषी लोगोंके हृदयसे दुरहंकारका नाश नहीं होसकता है और स्याद्वादियोंके लिये वे अभ्युदय स्वर्गमोक्षादि सुख नियमसे प्राप्त होते हैं।

क्योंकि आप्त भगवान्के व्यतिरिक्त नैरात्म्यवादी हितोपदेशी शास्ता (वक्ता) इस लोकमें नहीं होसकते हैं क्योंकि उन लोगोंके दिलमें उपशम (सम्यक्त्व) नहीं होनेसे मोक्षमार्ग सिद्ध नहीं होसकता है।

तथा अन्य परमात्मवादी कहते हैं कि, परमब्रह्म अर्थात् आत्मानुभवही सर्वोदयतीर्थ है और वह तीर्थ दूसरे नैरात्म्यवादि (नास्तिकवादि) यों को प्राप्त नहीं होता क्योंकि वे लोग संशयसे निरन्तर अपने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं रखसकते हैं।

और भी कहा है कि--

जिनकी विशाल महिमा नैरात्म्यवादियोंको जलाती है वह भी एक प्रकारके तेजोनिधि अर्थात् रत्नत्रयरूपी परमोपायनिधि जिनमतके प्रभावसे प्रकाशित होती है। अन्यथा अर्हन्तदेवके मतविरुद्ध लोगोंको मात्र वह निधि मिलना मुश्किल है क्योंकि स्वर्गमें मिथ्यादृष्टिदेव भी होते हैं किन्तु सम्यक्त्वके अलावा उनको आत्मिक सुख नहीं मिलता हमेशा दुःखसे आकुलितचित्त होकर अपनी निंदनीय जीवनयात्रा विताते हैं तो नैरात्म्यवादियोंको यह निधि कैसे प्राप्त होसकेगी ?

अतः सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य प्रकट होनेसे मिथ्या मोहान्धकार स्वयमेव विनाशको प्राप्त होता है अर्थात् नष्ट होजाता है। जो आत्मानुभवमें मग्न हैं उनको यह सर्वोदयतीर्थ निसर्गतासे ही मिलजाता है और जो स्याद्वादियोंसे विरुद्ध

मिथ्यात्वी हैं वे नाशको प्राप्त होजाते हैं। अर्थात् मिथ्यारूपी विषका पान करके नष्ट होजाते हैं।

और भी ईश्वरवादी लोग कहते हैं कि, यह सर्वोदयतीर्थ ईश्वर से मिलता है इस प्रकार स्याद्वादियोंके तीर्थका हमेशा द्वेष करते हैं उनके लिये भगवान् समन्तभद्राचार्य कहते हैं—

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः।
समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम् ॥
त्वयि ध्रुवं खंडितमानश्रृंगो।
भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥ ६३ ॥

टीका—कामं यथेष्टं स्वदुरागमवासनावशीकृतान्तःकरणः सर्वथैकान्तवादी द्विषन्नपि तवानेकान्तामृतसमुद्रस्य तीर्थं दर्शनमोहोदयाकुलितबुद्धिस्ते तवेष्टमनेकान्तात्मकमन्तर्बहिश्च जीवादितत्त्वं समीक्षतां परीक्षतां समदृष्टिः सन्मध्यस्थवृत्तिरुपपत्तिचक्षुर्भूत्वा, मात्सर्यचक्षुषस्तत्त्वसमीक्षायामनधिकारादसमदृष्टेश्च रागद्वेषकलुषितात्मनइत्युभयविशेषणवचनमुपपत्तिचक्षुः समदृष्टिरिति, स तथा समीक्षमाणस्तवेष्टं शासनं त्वय्येव भगवति खण्डितमानश्रृंगो भवति ध्रुवमिति सम्बन्धः मानो हि सर्वथैकान्ताभिमानः स एव श्रृंगं स्वाश्रयस्य विवेकशून्यतया पशुकरणात् खण्डितं प्रतिध्वस्तं मानश्रृंगं यस्य स खण्डितमानश्रृंगः, परित्यक्तसर्वथैकान्ताभिमान इत्यर्थः। तथा चाऽभद्रोऽपि मिथ्यादृष्टिरपि समन्तभद्रः समन्ततः सम्यग्दृष्टिर्भवतीति तात्पर्यं। अभद्रं हि संसारदुःखमनंतं तत्कारणत्वान्मिथ्यादर्शनमभद्रं तद्योगान्मिथ्यादृष्टिरभद्र इति कथ्यते स च समदृष्टिर्भूत्वोपपत्तिचक्षुषा समीक्षमाणस्तवैवेष्टं श्रद्धत्ते सर्वथैकान्तवादीष्टस्योपपत्तिशून्यत्वात्तत्रोपपत्तीनां मिथ्यात्वात्तदभिमानविनाशात्, तथा तवेष्टं श्रद्दधानश्च सम्यग्दृष्टिः स्यात्समन्ताद्भद्रस्य कल्याणस्यानन्तसुखकारणस्य सम्यग्दर्शनस्य प्रादुर्भावात्समन्तभद्रो भवत्येव। सति दर्शनमोहविगमे परीक्षायास्तत्कारणत्वात्, तत्त्वपरीक्षा हि कुतश्चित्परीक्ष्यज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषात्कस्यचित्कदाचित्कथंचित् प्रवर्तेत, सा च प्रवर्तमाना तत्त्वनिश्चयमतत्त्वव्यवच्छेदेन घटयति, तद्घटना च दर्शनमोहोपशमक्षयक्षयोपशमसद्भावे तत्त्वश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं प्रादुर्भावयति। तेनोपपत्तिचक्षुषा समीक्षां विदधानः सम्यग्दृष्टिः समन्तभद्रः स्यादिति प्रतिपद्येमहि बाधकाभावात्। न हि परीक्षायामुपपत्तिबलान्नैरात्म्यमेवोपशमविधेर्मार्गे इति व्यवतिष्ठते।

स्यान्मतं, जन्मप्रवन्धस्य कारणमहंकारस्तद्भावे भावात्तदभावे चाभावात्तस्य चाहंकारस्य कारणमात्मदृष्टिः, सा च नैरात्म्यभावनया तद्विरुद्धया प्रशम्यते तदुपशमाच्चाहंकारश्चेतसि समूलतलमुपशाम्यति तदुपशमाच्च देहिनां जन्मप्रवन्धस्योपशमो निश्चीयते तेन तत्कारणाभावात्तेनोपपत्तिवलादेवोपशमविधेर्नैरात्म्यभावनैव मार्गः समवतिष्ठते। तदसदेव, आत्मदर्शनस्यैव जन्मप्रवन्धोपशमविधिमार्गत्वोपपत्तेस्तथाहि जन्मप्रवन्धस्य हेतुरहंकारो मोहोदयनिमित्तोऽहन्तामात्रनिमित्तो वा ? प्रथमपक्षे नात्मदृष्टिहेतुकः स्यादविद्यातृष्णाक्षयेऽपि चित्तमात्रनिवन्धनत्वप्रसंगात्। सत्येवाविद्यातृष्णोदये चित्तमहंकारस्य हेतुरिति चेत्, तर्हि सत्येव मोहोदयेऽहंकारहेतुरात्मदृष्टिरितिकिमनुपपन्नं। द्वितीयपक्षे तु युक्तिविरोधः, संसारस्याहंतामात्रनिमित्तत्वे मुक्तस्यापि संसारप्रसंगात्, ततो नाहंतामात्रं जन्मप्रवन्धहेतुरविद्यातृष्णाशून्यत्वात्सुगतचित्ताहंतामात्रवदित्युपपत्त्याऽहंतामात्रहेतुत्वं संसारस्य वाध्यत एव। न च सुगतचित्तस्याहंतामात्रमपिनास्तीति युक्तं वक्तुं, स्वसंवेदनस्याहं सुगत इति प्रतिभासमानस्याभावप्रसंगात्। न ह्यहमितिविकल्पोऽहंतामात्रं सकलविकल्पशून्यस्य योगिनस्तदसम्भवात्, नाऽप्यहमस्य स्वामीति ममेदभावोऽहंतामात्रं तस्य मोहोदयनिमित्तस्य क्षीणमोहे योगिनि सम्भवाभावात्। ततो न साध्यशून्यो दृष्टान्तः साधनशून्यो वा सुगतचित्ते स्वयमविद्यातृष्णाशून्यत्वस्य सौगतैरभीष्टत्वात्। नन्वात्मदृष्टेरविद्यातृष्णाशून्यत्वासम्भवादात्मदृष्टेरेवाविद्यात्वादविद्याया एव च तृष्णाहेतुत्वादविद्यातृष्णाशून्यत्वमसिद्धमेवेति चेत्, नात्मदृष्टेरविद्यात्वासिद्धेश्चित्तक्षणदृष्टिवत् यथैव हि प्रतिक्षणं चित्तदर्शनं विद्या तदन्तरेण वुद्धिसंचरणानुपपत्तेस्तथानाद्यनन्तात्मदृष्टिरपि तदभावेऽहंताप्रत्यभिज्ञानस्यानुपपत्तेः। चित्तसन्तानोऽहंताप्रत्यभिज्ञानहेतुरिति चेत् न, तस्यावस्तुत्वात्, वस्तुत्वे वा स एवात्मा स्यान्नाममात्रभेदात्। ततः कथंचिन्नित्यस्य क्षणिकस्य चात्मनोदर्शरहंकारनिवन्धनजन्मप्रवन्धस्य मोहहेतुकाहंकारनिवृत्तिहेतुत्व सिद्धे नस्याविद्यातृष्णाशूवन्धस्योपशमोपपत्तेर्न नैरात्म्यभावनोपशमविधेर्मार्गः सिद्धेत्पुरुषाद्वैतभावनावत्।

न हि पुरुषाद्वैते संसार मोक्षतत्कारणसम्भवो द्वैतप्रसंगात्। नाऽपिकेचिल्लोकाः सन्ति तेजोनिर्विर्वा यस्तान् ज्वालयति भाति च परमात्मनि सत्येवनासतीति मोहान्धकारापहो वोधमयप्रकाशविशदोऽन्तर्यामी पुरुषः सिद्धेत्, तस्मिंश्च ये संशेरते ते हताः स्यु। सर्वस्यास्य प्रपंचस्यानाद्यविद्यावलात्परिकल्पने च न परमार्थतः कश्चिदुपशमविधेर्मार्गः स्यान्नैरात्म्यदर्शनवत्। एतेनेश्वरादिरेवोपशमविधेर्मार्ग इति ब्रुवन्निरस्तः, तस्याप्युपपत्तिवाधितत्वात्सुगतादि-

वदित्याप्तपरीक्षायां विस्तरतस्तत्त्वार्थालंकारे च निरूपितं ततः प्रतिपत्तव्यम्।

भावार्थ—सर्वथा एकान्तवादी दुर्भावनासे वशीभूत होकर हमेशा स्वच्छंदानुसार कामके आधीन हुए हैं जिनके अन्तःकरण ऐसे द्वेषी मायाचारी दुरभिमानी लोग हे भगवन्! आपके अनेकान्तात्मकरूपी अमृतप्रायसमुद्र यही एक तीर्थ इससे विपरीत दर्शन मोहोदयसे आसक्त हुआ है चित्त जिनका ऐसे आपको जो इष्ट अनेकान्तात्मक, अन्तर्वाह्ययुवत जीवादितत्व उसकी यथायोग्य समालोचना या परीक्षा करने मात्रसे पुरुष सम्यग्दृष्टि होजाता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष माध्यस्थभाव (समताभाव) से रहता हुआ रागद्वेष मोहसे अत्यन्त दूर होकर अपने आत्मस्वरूपमें मग्न होजाता है। और इनसे जो विपरीतस्वभाववाले एकान्तमिथ्यादृष्टिलोगमात्र निरंतर मात्सर्य, ईर्षादि भावोंसे युक्त रहनेसे तत्वविवेचन करनेका उनको अधिकार नहीं है इसीलिये मिथ्यादृष्टियोंका हृदय सदैव रागद्वेषोंसे कलुषित होनेसे जिनशासनसे दूर रहते हैं। इस प्रकार इन उभयदृष्टियोंसे समताभावी होकर अर्थात् भेदविज्ञानी होनेसे वे ही महापुरुष सम्यग्दृष्टि होसकते हैं।

उसी प्रकार तत्वकी परीक्षा करनेसे वे सम्यग्दृष्टिमहापुरुष आप्तके शासनानुसार चलने वाले और हे भगवन्! आपको जो इष्ट है वही शासन रूपी एक अमृत उसका पान करनेवाले आपके समान ही महापुरुष होसकते हैं। तथा आपका जो अनेकान्तात्मक शासन वही आपमें विद्यमान होनेसे इस शासनसे ही एकान्तवादियोंका मानभंग होजाता है यही इसका निश्चय है। मान ही सर्वथा एकान्ताभिमानी लोगोंका एक पहाड़के शिखरके समान मिथ्या अभिमान उससे विवेकशून्य होकर पशुके सदृश उन्मत्त होनेसे उन लोगोंका मान खण्डित होजाता है। संपूर्णरीतिसे परित्याग कियागया है सर्वथा एकान्त अभिमानका ऐसा अर्थ होता है।

तथा अभद्रोऽपि अर्थात् मिथ्यादृष्टि होकर भी समन्तभद्राचार्य संपूर्णतः सम्यग्दृष्टि हैं ऐसा इस वाक्यसंदर्भका तात्पर्यार्थ सिद्ध होता है। अभद्रका अर्थ मिथ्यादर्शन होता है इस मिथ्यात्वसे अनन्तंदुःखदायक संसार पैदा होता है और उसके योगसे पुरुष मिथ्यादृष्टि होजाता है इसीका नाम अभद्र है वही तत्ववेत्ता समदृष्टि होकर यथार्थतत्वका प्रतिपादन करनेसे भगवान्‌का जो शासन उसपर यथार्थ श्रद्धान करनेसे सर्वथा एकान्तवादीके मिथ्यात्वका खण्डन होजाता है। और भगवान्‌का जो इष्ट तत्व उस पर श्रद्धान करनेसे समन्तभद्राचार्य सम्यग्दृष्टि

हैं। इसलिये सम्यग्दर्शन अनन्त सुखके लिये कल्याण कारक होनेसे सम्यग्दृष्टि भगवान् समन्तभद्राचार्य होसकते हैं।

और दर्शन मोहनीय कर्मका विनाश होजानेसे आत्मामें तत्वकी परीक्षा करनेकी अपूर्वशक्ति पैदा होती है और उस तत्वपरीक्षासे ज्ञानावरणीय तथा अन्तराय कर्मका उच्चकोटिसे क्षयोपशम होजाता है। यह क्षयोपशम क्वचित्पवित्रात्मामें ही योग्य क्षेत्र, द्रव्य, काल तथा भावके अनुसार होता है किन्तु सर्वत्र सभी प्राणियोंमें नहीं होसकता है। उसी योग्यतासे तत्वका निश्चय होकर अतत्व (मिथ्यात्व) का निराकरण होता है अर्थात् मिथ्यात्वका व्यवच्छेद किया जाता है। उसका विनाश ही दर्शन मोहनीय कर्मका उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय इन तीनोंका सद्भाव होनेसे तत्त्वश्रद्धानमय सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है और सम्यग्दर्शनके प्रभावसे परीक्षाप्रधानी सम्यग्दृष्टि समन्तभद्राचार्य होसकते हैं इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है क्योंकि बाधकका अभाव होनेसे और नैरात्म्य-वादि [illegible] यथार्थ परीक्षा नहीं कीजानेसे उपशमयुक्त विधिमार्गका विनाश होजाता है।

यदि तुमारा ऐसा मत हो तो तुमारे जन्मसे ही तुमको दुरभिमान-[illegible] अहंकार पैदा होनेसे अतत्व स्वरूपी मिथ्यात्व आजाता है और वही दुष्ट अहंकारको पैदा करता है उससे विपरीत वहिरात्मदृष्टि प्राप्त कीजाती है वही [illegible] नैरात्म्यभावना यह जिनमतसे विरुद्ध होनेसे विपरीत उपशमसे प्रादुर्भूत जो [illegible] मनमें पैदा होकर एकान्तवादियोंके दिलमेंसे समस्त तत्वश्रद्धानकी जड़ [illegible] मिथ्यारूपी उपशमको प्राप्त करता है और इस विपरीत उपशमसे जन्मतः [illegible] उन वादियोंका मिथ्यारूपसे निश्चय होता है तथा उसी कारणसे अर्थात् तत्व-[illegible]के विपरीतरीतिसे मिथ्यात्वजनित मिथ्याउपशम पैदा होकर नैरात्म्य-[illegible]दियोंका विगड़ जाता है ऐसा होना ही नितान्त असत्य है।

और मिथ्या आत्मदर्शनसे ही जन्मप्रवन्धका उपशमरूपी विधिमार्ग [illegible]स्थित होता है तथा उसका हेतु अहंकार मोहोदयके निमित्त है या अहंता-[illegible]भाके कारण है।

प्रथम पक्षमें मिथ्याआत्मदृष्टि अहंकारके कारण होनेसे और अविद्यारूपी तृष्णा क्षयसे चित्तमात्र निवन्धनत्वका प्रसंग आजायगा। यदि अविद्यारूपी तृष्णोदयसे चित्त ही अहंकारका हेतु वन जाता है ऐसा कहोगे तो सत्य है कि मोहोदयके अहंकार हेतुसे मिथ्यात्मदृष्टि क्यों नहीं पैदा होसकेगी ? अर्थात् पैदा होगी।

द्वितीय पक्षमें तुमारा हेतु युक्ति विरुद्ध होनेसे संसारका कारण अहंता

मात्र निमित्त होकर मोक्षके स्थानमें भी संसारका प्रसंग आजायगा। अतः अहंतामात्र जन्मप्रवन्धका हेतु नहीं है क्योंकि वह अविद्या तृष्णाशून्य होनेसे बौद्धके चित्तरूपी अहंतामात्रके समान दृष्टान्तसे अहंतामात्र हेतु संसारका बाधक है।

इसलिये हम कहसकते हैं कि, बौद्धके चित्तरूपी अहंतामात्र नहीं है क्योंकि वौद्ध शून्यवादी होनेसे स्वसंवेदनका (आत्मानुभवका) मैं ही कर्त्ता हूं ऐसे प्रतिभासमानका अभाव प्रसंग होनेसे सुगत आत्मानुभवी नहीं होसकता है।

तथा अहं ऐसा विकल्पमात्रही शून्य होनेसे योगियोंमें उसका असम्भव है। एवं मैं इसका स्वामी हूं मेरा ही यह अहंतामात्र भाव है ऐसा सुगत (बौद्ध) नहीं कहसकता क्योंकि मोहोदयनिमित्त जो क्षीणमोही योगी उनमें इसका संभव नहीं है। तब हमारा दिया हुआ दृष्टान्त साध्यशून्य नहीं है तथा साधनशून्य भी नहीं है सुगतके चित्त स्वयमेव अविद्यातृष्णा शून्य होनेसे उस बौद्धको भी यह वात इष्टही है।

फिर वौद्ध कहता है कि आत्मदृष्टि अविद्यातृष्णाशून्यत्व नहीं होसकती क्योंकि असम्भव है। आत्मदृष्टि ही अविद्या होनेसे और अविद्या ही तृष्णाके हेतु होनेसे अविद्यातृष्णाशून्य ही असिद्ध है ऐसा कहोगे तो आत्मदृष्टि अविद्या असिद्ध नहीं है अर्थात् चित्त क्षणदृष्टिके समान सिद्धही है। जैसे कि प्रतिक्षणमें चित्त दर्शन कियाजाता है और विद्या उसके विना नहीं पैदा होती है यदि होने लगेगी तो वुद्धिसंचरणकी उत्पत्ति नहीं होगी। तथा अनादि अनन्त आत्मदृष्टि ही नहीं रहेगी और उसका अभाव होनेसे अहंतारूपी प्रत्यभिज्ञान भी नहीं होगा।

अव जैनाचार्य पूछते हैं कि, तुमारा चित्तसंतान अहंता प्रत्यभिज्ञानका हेतु नहीं है वह अवस्तु होनेसे यदि वस्तु मानोगे तो वही आत्मा है ऐसा नाम-मात्र भेद मानागया है।

तथा कथंचित् नित्यक्षणिकको माननेसे आत्मामें दर्शनरूपी अहंकारका जो जन्मप्रवन्ध मोहका कारण होनेसे जव उसकी निवृत्ति सिद्ध होगी तव अविद्यातृष्णा-से वन्धकी उपशमता नहीं होसकती जिससे नैरात्म्यभावनोपशम विधिमार्ग सिद्ध होगा जैसे पुरुषाद्वैतभावनाके समान यह दृष्टान्त देकर घटित किया।

अर्थात् पुरुषाद्वैतवादियोंमें संसार तथा मोक्षतत्वका असम्भव है इसमें द्वैतका प्रसंग आजाता है। तथा केचित् मिथ्यावादी लोग या तेजोनिधि उन उपशमा-दिकोंको जला देंगे ऐसा नहीं होसकता है क्योंकि परमात्मामें उपशमका प्रकाश अथवा वहिरात्मामें उसका अन्धेरा होसकेगा जिससे मोहान्धकारका नाश होनेसे

वोधमय प्रकाश विशदरीतिसे फैलकर अन्तर्यामी पुरुषकी सिद्धि होसकेगी। इसलिये जो नैरात्म्यवादी लोग इस विषयमें संदेह कररहे थे वे नष्टमय होगये।

तदनुसार नैरात्म्यवादियोंके विषयमें जितने भी हम विस्तारसे वर्णन करेंगे तो भी इनके अनादि अविद्या वलकी कल्पना करनेसे उपशम विधिमय मोक्ष-मार्ग सिद्ध नहीं होसकता है। इस न्यायसे ही ईश्वरवादियोंका ही उपशम-विधिमय मार्ग होसकता है ऐसे कहने वालोंका भी विद्यानन्दाचार्य टीकाकारने उनका खण्डन किया है।

विद्यानन्द अर्थात् केवल ज्ञान इनको पानेवाले आचार्यप्रवर विद्यास्पद महोदयने आप्त परीक्षा एवं तत्त्वार्थश्लोक वार्तिकमें विशदरीतिसे नैरात्म्यवादियों का खण्डन किया है। उन ग्रन्थोंसे पाठक महाशय अवगत करलेवें।

इति शुभं भवतु।

समाजहितैषु—

पं० तृषपाल जैन, देहली।



परम पूज्य स्याद्वादवारिधि, वादिगजकेसरी, चारित्रशील शिरोमणि,
योगिसम्राट्, तपोनिधि, प्रातः स्मरणीय आचार्य
श्री १०८ अभिनन्दनसागरजी महाराज।

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

सर्वोदय तीर्थ ग्रन्थः

॥ मंगलाचरणम् ॥

देवाधिदेवं गत सर्व दोषम् ।
स्वानन्दभूतं धृत शान्तरूपम् ॥
नरामरेन्द्रैर्नुत पादयुग्मम् ।
श्रीवीरनाथं प्रणमामिनित्यम् ॥ १ ॥

भावार्थः—हे भगवन् ! आप घाति कर्मों से रहित होने से देवाधिदेव अर्थात् देवों के अधिदेव एवं निर्दोष हैं, आपका अनन्त चतुष्टयमय जो स्वरूप वह साक्षात् परम, अनुपम, तथा वचनातीत शान्त रूप को ग्रहण करता है तथा आपके उभय चरण कमल रूपी दिव्य किरणोंसे शतेन्द्रों के रत्नमयी मुकुट अत्यधिक प्रकाशमान हो रहे हैं ऐसे जो अन्तिम वर्द्धमान सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु हैं उनको मैं आचार्य पद भूषित, अभिनन्दन सागर सदैव नमोस्तु करता हूँ ।

तात्पर्य यह है कि, सन्त सज्जनों का संरक्षण, एवं नास्तिकों का परिहार "सर्वोदय तीर्थ ग्रन्थ" निर्विघ्न समाप्त हो जावे इस सद्धेतूसे द्रव्य, भावनमोऽस्तुकर ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ कर रहा हूँ ।

परमपूज्य आचार्य श्री १०८ दीक्षा गुरू महावीरकीर्तिजी ने हमें आचार्यपद सन् १६४६ में दिया है ।

❀ प्रथमोऽध्यायः ❀

क्षुल्लकको अर्घ्यनिषेध

क्षुल्लकका लक्षण, सूत्रपाहुड़ श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकृत

गाथा— दुइयं च उत्त लिंगं उक्किट्ठं अवरसावयाणं च ।
भिक्खं भमेइ पत्ते समिदीभासेण मोणेण ॥ २१ ॥

संस्कृत— द्वितीयं चोक्तं लिंगं उत्कृष्टं अवरश्रावकाणां च ।
भिक्षां भ्रमति पात्रे समितिभाषया मौनेन ॥ २१ ॥

अर्थः—द्वितीय कहिये दूसरा, लिंग कहिये भेष, उत्कृष्ट श्रावक कहिये जो गृहस्थ नहीं ऐसा उत्कृष्ट श्रावक ग्यारवी प्रतिमा का श्रावक क्षुल्लक वह भ्रमण कर अर्थात् "धर्मलाभं भणित्वा" आपको धर्मलाभं होवें ऐसा शब्दोच्चार करके भोजन करें, पात्र में तथा हाथ में भी करें भाषा समिति रूप बोलें अथवा मौनसे प्रवर्ते ।

वार्शी चातुर्मासमें—जैन बोधक सोलापुर ईसवी १९४९ में आदेश प्रकाशित हुआ था ।

श्री अमितगति आचार्यकृत श्रावकाचार का प्रमाण—

वैराग्यस्य परां भूमिं संयमस्य निकेतनम् ।
उत्कृष्टः कारयत्येष मुंडनं तुंड मुंडयोः ॥ ७३ ॥

अर्थः—उत्कृष्ट श्रावक हमने क्षुल्लक परम वैराग्यवान् तथा संयम का स्थान तुंड कहिये मुख डाढी के बाल और मुंड हमने मस्तक के केश इन दोनों का मुंडन कैंची मगर वस्त्र से करता है ।

केवलंवा सवस्त्रं वा कौपीनं स्वीकरोत्यसौ ।
एक स्थानान्न पानीयो निन्दागर्हापरायणः ॥ ७४ ॥

वह उत्कृष्ट श्रावक केवल कौपीन तथा वस्त्र सहित लंगोट ग्रहण करता है, फिर एक स्थान से ही अन्न पानी स्वीकार करेगा एवं स्वनिन्दा गर्हा इन दोनों विषयों में तत्पर रहेगा ।

स धर्म लाभ शब्देन प्रतिवेश्म सुधोपमम् ।
सपात्रो याचते भिक्षां जरामरण सूदनीम् ॥ ७५ ॥

वह क्षुल्लक पात्र सहित घर-घर प्रति अमृत समान धर्म लाभ शब्दोच्चार कर जरा मरण का नाश करने वाली भिक्षा प्राप्त करें।

श्री वसुनन्द्याचार्यकृत वसुनंदी श्रावकाचार, उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा का स्वरूप—

एयारसम्मि ठाणे, उक्किठ्ठो सावऊ हवे दुविहो।
वत्थेक धरो पढमो, को वीण परिग्गहो विदिऊ ॥ ३०१ ॥
एकादशे स्थाने उत्कृष्टः श्रावको भवति द्विविधः।
वस्त्रैकधरः प्रथमः कौपीन परिग्रहो द्वितीयः ॥

अर्थः—ग्यारवी प्रतिमाधारी क्षुल्लक तथा ऐलक दो प्रकार के होते हैं, पहला एक वस्त्रधारी और दूसरा कौपीनधारी। एक वस्त्रधारी को क्षुल्लक कहे, और कौपीनधारी को ऐलक कहे।

धम्मिल्लाणं चयणं, करेइ कत्तरि छुरेण वा पढमो।
ठाणाइसु पडिलेहइ, उवयरणेण पयडप्पा ॥ ३०२ ॥
धम्मिल्लानां चयनं करोति कर्तर्या क्षुरेण वा प्रथमः।
स्थानादिषु प्रतिलिखत्युपकरणेन प्रयत्नात्मा ॥

क्षुल्लक को अपनी डाढी, मूछ तथा मस्तक के केश कैंची से अथवा वस्त्र से निकालना चाहिए। तथा ऐलकको केश लोच करना चाहिए, एवं दोनों को ही बैठना सोना वगैरह का स्थान यत्न पूर्वक पीछी से संशोधन कर बैठना या सोना चाहिए।

भुंजेइ पाणिपत्तम्मि। भायणे वा सुई समुवइठ्ठो।
उववासं पुणणियमा। चउव्विहं कुणइ पव्वेसु ॥ ३०३ ॥
भुञ्जति पाणिपात्रे भाजनेवा शुचिः समुपविष्टः।
उपवासं पुनर्नियमाच्चतुर्विधं करोति पर्वसु ॥

ऐलक बैठकर अपने हस्त रूपी पात्र में भोजन करता है। और क्षुल्लक बैठकर कटोरी तथा हाथ में भोजन करता है। दोनों ही प्रत्येक मास के चारों ही पर्वों में चार प्रकार के आहार (अन्न, पान, खाद्य तथा लेह्य) का त्याग करते हैं।

पक्खालिऊणपत्तं। पविसइ चरियाय पंगणे ठिच्चा।
भमिऊणधम्मलाहं। जायइ भिक्खं सयं चेव ॥ ३०४ ॥

प्रक्षाल्य पात्रं प्रविशति चर्यायै प्रांगणे स्थित्वा ।
भणित्वा धर्म लाभं याचते भिक्षां स्वयं चैव ॥

क्षुल्लक अपने भोजन के वर्तन स्वयमेव धूकर भिक्षार्थ ग्राम में जाता है, वहां श्रावकों के अंगन में रहकर धर्म लाभ कहकर भिक्षा मांगता है यदि कोई भी श्रावकने भोजन के लिए प्रार्थना की तो जाता है, मगर नहीं की तो भी जाता है।

सिग्घं लाहा लाहे । अदीणवयणो णिउयत्तिऊण तऊ ।
अण्णम्मि गिहेवच्चइ । दरिसइ मौणेण कायव्वं ॥३०५॥
शीघ्रं लाभा लाभेऽदीनवदनो निर्वृत्यततः ।
अन्यस्मिन्गृहे विशति दर्शयति मौनेन कर्तव्यम् ॥

जिस घर में भिक्षा याचनार्थ जाता है वहां तुरन्त अन्न नहीं मिला तथापि दीन वदन न होकर दूसरे घर में वह क्षुल्लक जाता है, और मौनसे ही अपने शरीर दातार को दिखाता है।

जइ अद्धहवे कोई । पभणइ पच्छइ भोयणं कुणह ।
भोत्तूण णिययभिक्खं । तसण्णं भुंजइ सेसं ॥३०६॥
यद्यर्धपथे कश्चित्प्रभणति प्रार्थयति भोजनं कुरुत ।
भुक्त्वा निजभिक्षां तस्यान्नं भुञ्जति शेषम् ॥

क्षुल्लक भिक्षार्थ पर्यटन करते समय आधे रास्ते में ही कोई भी श्रावक ने बुलवाया तथा भोजन के लिए उन्होंने प्रार्थना की तो उनके घर में याचानार्जित अन्न प्रथम खाकर पश्चात् दूसरे दातार से मिला हुआ अन्न वह क्षुल्लक खाता है।

अहण भणइ तो भिक्खं, भमेज्ज णियपेट पूरण पमाणं ।
पच्छा एयम्मि गिहे, जाइज्जइ प्पासुगं सलिलं ॥३०७॥
जं किं पि परिय भिक्खं, भुंजिज्जो सोहिऊण जुत्तेण ।
पक्खालिऊण पत्तं, गच्छिज्जो गुरु सयासम्मि ॥३०८॥
अथ न भणति तर्हि भिक्षां भ्रान्त्वा निजोदर पूरण प्रमाणम् ।
पश्चादेकस्मिन्गृहे गत्वा प्रासुकं सलिलम् ॥
यत्किमपि पतितं भैक्ष्यं भुञ्जति शोधयित्वा युक्तेन ।
प्रक्षाल्य पात्रं गच्छति गुरु समीपे ॥

कोई भी श्रावक ने नहीं बुलवाया तो अपने पेट भरने लायक अन्न मिलने तक अनेक घरों में भ्रमण कर आखिर येक घर में जाकर वहां प्रासुक जल याचना कर अपने भिक्षा पात्र में जैसे-जैसे अन्न प्राप्त हुआ है, वैसे-वैसे सब संशोधन कर भोजन करता है, पश्चात् वह क्षुल्लक भोजन पात्र साफ़ कर गुरु सानिध्य में जाता है।

जइ एवं ण लहिज्जो। काउरिसगिहम्मि चरियाए।
पविसत्ति एयभिक्खा। पवित्तिणियमणं ता कुज्जा ॥३०९॥
यद्येवं न लभते का पुरुषगृहे चर्यायै।
प्रविशति एक भिक्षा प्रवृत्ति नियमनं तदा कुर्यात् ॥

उत्कृष्ट प्रतिमाधारी श्रावक क्षुल्लक भिक्षार्थ कृपण वगैरह लोगों के घरों में जाने से वहां भिक्षा नहीं प्राप्त होने से उस दिन क्षुल्लक उपवास का नियम करेगा।

गंतूण गुरु समीवं। पच्चक्खाणं चउविहं विहिणा।
गहिऊण तउसव्वं। अलोचेउ पयत्तेण ॥३१०॥
गत्वा गुरुसमीपं प्रत्याख्यानं चतुर्विधं विधिना।
गृहीत्वा ततः सर्वमालोचयेत्प्रयत्नेन ॥

गुरु सानिध्य में जाकर विधिपूर्वक चार प्रकार के आहार त्याग का नियम उस दिन के लिए ग्रहण कर प्रमादका त्याग करके गुरु सामने आलोचना करना चाहिए।

एवं भेउ होई। णवरविसेसो कुणिज्ज णियमेण।
लोचं धरिज्ज पिच्छं। भुञ्जिज्जो पाणिपत्तम्मि ॥३११॥
एवं भेदो भवति नापरो विशेषः करोति नियमेन।
लोचं धरति पिच्छं भुञ्जति पाणि पात्रे ॥

इस प्रकार क्षुल्लक तथा ऐलकका भेद है, विशेष कुछ नहीं, ऐलक केशलोच, पीछी ग्रहण करता है एवं अपने हाथ रूपी पात्र में दातार के द्वारा दिया गया अन्न स्वीकार करता है, तथा क्षुल्लक अपने भिक्षा पात्र में से अन्न लेकर भोजन करता है।

दिणपडिम वीरचरिया। तियाल जोगेसुणत्थि अहियारो।
सिद्धांतरहस्साणवि। अज्झयणं देसविरदाणं ॥३१२॥

दिनप्रतिमावीरचर्या त्रिकाल योगेषु नास्त्यधिकारः ।
सिद्धान्तरहस्यानामप्यध्ययनं देश विरतानाम् ।।

अर्थः—दिन में प्रतिमायोग (खडे होकर ध्यान करना) वीरचर्या (वीरासन से ध्यान करना, अकेले रहना वगैरह) त्रिकाल योग (ग्रीष्मऋतुमें पर्वत के शिखर पर) वर्षा योग (वृक्ष के नीचे) हेमन्त में (नदी के किनारे पर वैठ कर ध्यान करना) तथा सिद्धान्त शास्त्रका अध्ययन, दर्शन प्रतिमासे एकादश प्रतिमातक के श्रावकों को अधिकार नहीं है, एवं क्षुल्लक तथा ऐलक आचार्य के संघ में रहे ।

उद्दिठ्ठ पिंडविउ । दुवियप्पो सावरउ समासेण ।
एयारसम्मि ठाणे । भणिउ सुत्तणु सारेण ।।३१३।।

उद्दिष्टपिण्डविरतो द्विविकल्पः श्रावकः समासेन ।
एकादश स्थाने भणितः सूत्रानुसारेण ।।

उद्दिष्ट पिंड ह्यने पात्र के निमित्त से तैयार किया गया अन्न उस अन्न को न ग्रहण करने वाले एकादश प्रतिमाके धारक क्षुल्लक तथा ऐलक ऐसे दो प्रकार के होते हैं।

अथोद्दिष्ट विरतस्थानं त्रयोदशभिः श्लोकैर्व्याचष्टे—

तत्तद्व्रतास्त्रनिर्भिन्नश्वसन्मोहमहाभटः ।
उद्दिष्टं पिण्डमप्युज्झेदुत्कृष्टः श्रावकोऽन्तिमः ।।३७।।

टीका—उज्झेत् त्यजेत् । कोऽसौ, अन्तिमः श्रावकः । किं विशिष्टः, उत्कृष्टः अयमित्थंभूतनयादुत्कृष्टोऽनुमतिविरतस्तु नैगमनयादिति ज्ञापनार्थमुभौ भिक्षू तौ प्रकृष्टौ चेति प्रागुक्तमपीदं विशेषणं पुनरुक्तं । किमुज्झेत्, पिण्डं भक्तं अपिशब्दादुपधिशयनासनादि । किंविशिष्टं, उद्दिष्टं आत्मोद्देशेन कल्पितं । नवकोटिविशुद्धं स्वीकुर्यादित्यर्थः । किं विशिष्टः सन्, तदित्यादि तानि पूर्वोक्तानि व्रतानि यथास्वं निवृत्तिप्रवृत्तिरूपाण्याचरणानि तत्तद्व्रतानि तान्येवास्त्राणि प्रहरणानि तैर्भिन्नो नितरां विदारितः स चासौ श्वसन् किञ्चिज्जीवन् जिन रूपता प्राप्ति प्रतिबध्नन् मोह एव महा भटो दुर्निवारवीरो यस्य स तथोक्तः ।।३७।।

सागारधर्मामृत संस्कृत टीका सहित सप्तमोऽध्याय में क्षुल्लक का लक्षण कहा है—

सद्वेधा प्रथमः श्मश्रुमूर्धजानपनाययेत् ।
सितकौपीनसंव्यानः कर्तर्या वा क्षुरेण वा ॥३७॥

टीका—स उत्कृष्टः श्रावको द्वेधा द्विविधो भवति । तत्राद्यस्य प्रथम इत्यादिना प्रबन्धेन विधिमभिधत्ते—अपनाययेत् छेदयेत् कोऽसौ, प्रथम आद्य उद्दिष्टविरतः । कान्, श्मश्रुमूर्धजान् कूर्चशिरः केशान् । कया कर्तर्या कर्तरिकया । वा क्षुरेण नापितोपकरणेन वा । अत्र कर्तर्याऽपनायनं श्लाघ्यतरं शोभानाकांक्षणात् । तथा सितकौपीन-संव्यानो भवेत् श्वेतकक्षापटोत्तरीयपटश्चासौ स्यादित्यर्थः ।

स उत्कृष्ट उद्दिष्ट विरत श्रावकः द्विविधो भवति इति सम्बन्धः तत्र तावत् प्रथम आद्यः । किंविशिष्टः सितकौपीन संव्यानः कौपीनं गुह्यप्रच्छादनवस्त्रं संव्यानं उत्तरीय वस्त्रं कौपीनं च संव्यानं च कौपीन-संव्यानं सिते कौपीन संव्याने यस्य स तथोक्तः । किं कुर्यात्, अपनाययेत् अन्येनोत्सारयेत् । कान्, श्मश्रुमूर्धजान् । श्मश्रूणि कूर्चान् केशान् मूर्ध-जान् शिरः केशान् न तु कक्षादिस्थान् । कया, कर्तर्या कर्तरिकया वा अथवा क्षुरेण रोमशस्त्र विशेषेण । अत्र द्वितीयो वा शब्दः समुच्चयार्थे ज्ञातव्यो यथासम्भवमिति ॥ ३७ ॥

स्थानादिषु प्रतिलिखेत् मृदूपकरणेन सः ।
कुर्यादेव चतुष्पर्व्यामुपवासं चतुर्विधम् ॥ ३८ ॥

टीका—प्रतिलिखेत् भूतलादिषु प्रमृज्यात् । कोऽसौ, स प्रथम उत्कृष्टः केन, मृदूपकरणेन मृदुना सुकुमारेण जन्त्वबाधकेनोपकरणेन वस्त्रादिना केषु कर्तव्येषु स्थानादिषु उद्भीभावोपवेशनसंवेशनादिषु । तथा कुर्या-देव अवश्यं विदध्यादसौ । कं उपवासमनशनं । किं विशिष्टं, चतुर्विधं चतस्रो विधा आहारास्त्याज्या यस्मिन्नसौ चतुर्विधस्तं । चतुष्पर्व्यां मासि मासि द्वयोरष्टम्योर्द्वयोश्चतुर्दश्योः ॥ ३८ ॥

स्वयं समुपविष्टोऽद्यात्पाणिपात्रेऽथ भाजने ।
स श्रावकगृहं गत्वा पात्रपाणिस्तदङ्गणे ॥४०॥

स्थित्वा भिक्षां धर्मलाभं भणित्वा प्रार्थयेत वा ।
मौनेन दर्शयित्वाऽङ्गं लाभालाभे समोऽचिरात् ॥४१॥

निर्गत्याऽन्यद्गृहं गच्छेद्भिक्षोद्युक्तस्तु केनचित् ।
भोजनायार्थितोऽद्यात्तद्भुक्त्वा यद्भिक्षितं मनाक् ॥४२॥

प्रार्थयेतान्यथा भिक्षां यावत्स्वोदरपूरणीम् ।
लभेत प्रासु यत्राम्भस्तत्र संशोध्य तां चरेत् ॥ कलापकम् ।

टीका—स प्रथमोत्कृष्टोऽद्यात् भुञ्जीत । केन, स्वयमात्मना । किं विशिष्टः सन्, समुपविष्टः निश्चलनिविष्टः । क्व, पाणिपात्रे हस्तपुटे । अथवा भाजने स्थाल्यादौ । इतः श्रावकेत्यादिना भिक्षणविधिमाह— प्रार्थयेत् भिक्षेत । कोऽसौ, सः । कां भिक्षां । किं कृत्वा, भणित्वा । कं धर्मलाभं धर्मलाभशब्दमुच्चार्येत्यर्थः । किं कृत्वा स्थित्वा उद्भीभूत्वा । क्व तदङ्गणे श्रावकगृहाग्रभागे । किं विशिष्टः सन् पात्रपाणिः भिक्षापात्रहस्तः । किं कृत्वा, गत्वा प्राप्य । किंतत् श्रावक गृहं । वा अथवा । स प्रार्थयेत् भिक्षां । केन, मौनेन । किं कृत्वा, दर्शयित्वा दातृदृष्टिगोचरं कृत्वा । किं तत्, अङ्गं स्वशरीरं । ततश्च गच्छेत् व्रजेत् । किं तत्, गृहं । किं विशिष्टं, अन्यत् अयाचितभिक्षं । किं कृत्वा, निर्गत्य याचितभिक्षागृहान्निष्क्रम्य । कथं, अचिरात् शीघ्रम् । किं विशिष्टः समः रागद्वेषरहितः । क्व लाभालाभे भिक्षायाः प्राप्तावप्राप्तौ च । भिक्षोद्युक्तस्तु भिक्षां याचमानः पुनः केनचिच्छ्रावकेण भोजनाय भोजनं कर्तुमर्थितः उपरुद्धः सन् अद्यात् तद्गृहे भुञ्जीत । किं कृत्वा, भुक्त्वा जेमित्वा । किं तत् तदन्नं । यत्किं, यद्भिक्षितं गृहान्तरेषु याचितं । कियत्, मनाक्, स्तोकं । बहौ भिक्षिते सति नान्यस्यान्नं भुञ्जीतेति भावः । अन्यथा परोपरोधाभावे प्रार्थयेत याचेत सः । कां भिक्षां । कथं यावन्मर्यादी कृत्य । कां, स्वोदरपूरणीं भिक्षां । स्वस्यैवोदरं यावत्या पूर्यते तावतीमेव प्रार्थयेत अन्यथा असंयम प्रसंगः । अथवा यावत् स्वोदरपूरणी भिक्षा भवति तावदेव प्रार्थयेतेति वाक्यभेदेन सम्बन्धः । ततश्च चरेत् गोवद्भुञ्जीतेति भावः । कां, तां भिक्षां । किं कृत्वा, संशोध्य सम्यक्

शोधयित्वा। क्व तत्र श्रावकगृहे। यत्र किं, यत्र लभेत प्राप्नुयात्सः। किंतत् अम्भः पानीयं। किं विशिष्टं, प्रासु प्रासुकं निर्जीवम् ।४०। ।४१। ।४२। ।४३।

आकांक्षन्संयमंभिक्षापात्र प्रक्षालनादिषु।
स्वयं यतेत चादर्पोपरथाऽसंयमो महान् ॥४४॥

टीका– स चादर्पो विद्यातिशयाद्यनाहितमदः सन् स्वयं यतेतात्मना यत्नं कुर्यात्। क्व भिक्षेत्यादि भिक्षापात्रस्य प्रक्षालनं धावनमादौ येषामासनस्थापनोच्छिष्टत्यजनादीनां तानि भिक्षापात्रप्रक्षालनादीनि कर्माणि तेषु। किंकुर्वन्, आकांक्षन् अभिलषन्। कं संयमं प्राणिरक्षणं। अपरथा अन्यथा शिष्यादिना तद्विधाने भवत्यसंयमः कीदृशो, महान् भूयान् ॥४४॥

ततो गत्वा गुरूपान्तं प्रत्याख्यानं चतुर्विधम्।
गृह्णीयाद्विधिवत्सर्वं गुरोश्चालोचयेत्पुरः ॥४५॥

टीका–ततः प्रकृतकर्मकरणानन्तरं। गुरोर्धर्माचार्यस्य तेषां समीपं गत्वा गृह्णीयात्स्वीकुर्यात् सः। किंतत् चतुर्विधं चतुर्विधाहारविषयं। प्रत्याख्यानंनियमं। कथं, विधिवत् यथाविधि। तथा आलोचयेत् निवेदयेत्सः। किंतत् सर्वं गमनात्प्रभृति स्वचेष्टितं। क्व पुराग्रे। कस्य गुरोः। च शब्दाद्गोचरीं प्रतिक्रमणां कुर्यात् ॥४५॥

एवमनेकभिक्षानियमस्य प्रथमोत्कृष्टस्य भोजनविधिमुक्त्वा सम्प्रति तस्यैवैकभिक्षानियमस्य तदुपदिशति–

यस्त्वेकभिक्षानियमो गत्वाऽद्यादनुमुन्यसौ।
भुक्त्यभावे पुनः कुर्यादुपवासमवश्यकम् ॥ ४६ ॥

टीका–यस्तु प्रथमोत्कृष्टो भवति। कीदृशः, एकस्यामेकगृहसम्बन्धिन्यां भिक्षायां नियमः प्रतिज्ञा यस्य स एकभिक्षानियमः। असावद्यात् भोजनं कुर्यात्। किं कृत्वा, गत्वा दातृगृहं व्रजित्वा। कथं, अनुमुनि संयतस्य पश्चात्। एतेन प्रथमोत्कृष्टो द्वेधा स्यादनेकभिक्षानियम एकभिक्षानियमश्चेत्युक्तं प्रतिपत्तव्यं। स पुनः कुर्यात्। कं उपवासं। कथं, अवश्यकं नियमेन। क्व सति भुक्त्यलाभे सति तथा भोजनस्याप्राप्तौ ॥४६॥

तद्विधिविशेषमाह—

वसेन्मुनिवने नित्यं शुश्रूषेत गुरूंश्चरेत् ।
तपो द्विधाऽपि दशधा वैयावृत्यं विशेषतः ।।४७ ।।

टीका—सनित्यं सर्वदा मुनिवने संयताश्रमे । वसेन्निवासं कुर्यात् । तथा शुश्रूषेत पर्युपासीत । कान्, गुरून् धर्माचार्यादीन् । तथा चरेदनुतिष्ठेत् । किं तत् तपः । कथंभूतं, द्विधाऽपि बाह्यमाभ्यन्तरं च । तथा स चरेत् । किंतत् वैयावृत्यं संयमिनामापत्प्रतीकारं । कतिधा, दशधा आचार्यादिगोचरत्वेन दश प्रकारं । केन, विशेषतोऽतिशयेन अन्तरङ्गतपस्यस्य ज्ञापहीतस्यापि पृथगुपदेश इतरतपस्त इदमतिशयेनासौ श्रावकश्चरेदिति ज्ञापनार्थम् ।। ४७ ।।

ग्रन्थान्तरसे—आर्षाधारः—उद्दिष्टत्यागप्रतिमा

गेहादि व्याश्रमं त्यक्त्वा गुर्वन्ते व्रतमाश्रितः ।
भैक्ष्यासीः यस्तपस्तप्येदुद्दिष्टविरतो हि सः ।।१८३ ।।

उद्दिष्टविरतो द्वेधा स्यादाद्यो वस्त्रखण्डभाक् ।
सम्मूर्ध्वजानां वपनं कर्त्तनं चैव कारयेत् ।। १८४ ।।

गच्छेन्नाकारितोभोक्तुं कुर्यात्तद्भिक्षां यथाशनम् ।
पाणिपात्रेऽन्यपात्रे वा भजेद्भुक्तिनिविष्टवान् ।। १८५ ।।

भुक्त्वा प्रक्षाल्य पात्रं च गत्वा च गुरुसन्निधिम् ।
चतुर्धान्नपरित्यागं कृत्वाऽऽलोचनमाश्रयेत् ।। १८६ ।।

क्षुल्लक गृहस्थाश्रमको छोडकर गुरु के पास में जाकर गुरु से व्रत, नियम, उपवास वगैरह ग्रहण कर अपनी क्रिया से भिक्षान्न प्राप्त करता हुआ यत्न करेगा तो यही उत्कृष्ट एकादश प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है ।। १८३ ।।

भावार्थः—उद्दिष्ट विरती के दो भेद हैं, प्रथम क्षुल्लक खण्डवस्त्र ग्रहण करता है, दूसरा ऐलक एक कौपीन स्वीकार करता है, तथा क्षुल्लक अपनी डाढी, मूंछ के केश कैंची से या शस्त्र से निकाल देता है ।। १८४ ।।

क्षुल्लक श्रावकों के अंगन में स्वयमेव भोजनार्थ जाता है इस आशय से जाता है "धर्म लाभं भणित्वा" अर्थात् धर्म लाभ होवें ऐसा शब्दोच्चार कर

भिक्षा मांगता है जैसा अन्न मिलेगा वैसा ही उसको संशोधन कर ग्रहण करता है, अपनी कटोरी में या हाथ रूपी पात्र में निश्चल बैठकर भोजन करता है ॥ १८५ ॥

भोजन कर अपने वर्तन स्वयमेव मांजकर, क्योंकि, आप, काम न करके दूसरों से करवाने से प्रमाद के वजहसे उस पात्र में जीव जन्तु वगैरह गिर जायेंगे तो हिंसा होगी, अहिंसा व्रत न पलेगा इस पाप से भयभीत होता हुआ, अप्रमाद से अपना काम कर गुरु के सानिध्य में जाता है। वहां गुरु के सामने चार प्रकार के आहार (अन्न, पान, खाद्य, लेह्य) इत्यादि चतुर्आहार का भागकर पाप विमोचनार्थ आलोचना करता है।

सारांश— भिक्षा मांगकर भोजन करने वाला क्षुल्लक अर्ध्य के पात्र नहीं हैं इसका खुलासा आगे अनेक दृष्टान्त—दार्ष्टान्त देकर करेंगे।

उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा के धारक जो क्षुल्लक उनका स्वरूप (१३) श्लोकों से वर्णन करते हैं:—

ज्यों ज्यों व्रतरूपी शस्त्रों से मोह रूपी महा शत्रु को जिन्होंने विदारण किया अर्थात् मार डाला है, त्यों त्यों मोहभट अपने स्वासोच्छ्वास को ग्रहण करता हुआ अत्यन्त शान्त हो गया है अब करने योग्य कोई भी कार्य नहीं करता ऐसा समझ कर उदिष्ट विरत क्षुल्लकने अपने लिये तैयार किये हुये अन्न का त्यागकर शास्त्रोवत उनुद्दिष्ट आहार स्वीकार करता है ॥३७॥

एकादश प्रतिमा के क्षुल्लक एवं ऐलक ऐसे दो प्रकार के होते हैं, पहला क्षुल्लक अपनी डाढी, मूंछ तथा मस्तक के केश कैंची से या वस्त्र से निकालता है किन्तु कांख में से नहीं निकालता वह सफेद लंगोट पहने अथवा भगवा कौपीन पहने दोनों एक ही हैं ॥ ३८ ॥

क्षुल्लक अपने वैठने, उठने की जगह अत्यंत सुकुमार अर्थात् कोमल वस्त्र से जीव जन्तुओं का संरक्षण करता है, तथा महिने, महिने में दो अष्टमी एवं दो चतुर्दशी पर्व आते हैं उस दिन में, अन्न, पान, खाद्य तथा लेह्य इन चार प्रकार के आहारों का त्याग कर शास्त्रोक्त वैराग्यभावना से उपवास करता है ॥ ३९ ॥

स्वयं क्षुल्लक निश्चल वैठकर अपने हस्त रूपी पात्र में या वर्तन (कटोरी) में भोजन करता है, वह श्रावक के घर जाकर अपने पास रक्खी हुई कटोरी हाथ में लेकर श्रावक के अंगन में जाता है ॥ ४० ॥

अंगन में खडे होकर "धर्मलाभ होवें" इस प्रकार शब्दोच्चार कर भिक्षा की प्रार्थना करता है, अथवा मौनसे ही अपने शरीर दातार को दिखला कर लाभ अर्थात् भोजन मिले मगर न मिले तो भी रागद्वेप रहित होकर माध्यस्थ से अपना काम करता हुआ उस स्थान से शीघ्र ही निकल कर दूसरे घर में जाता है बीच में कोई भी श्रावक ने भिक्षोद्युक्त उस क्षुल्लक को भोजन के लिये प्रार्थना की तो अभीतक जो अन्न प्राप्त किया है उसको प्रथम भोजन कर यदि कमती हो जावें तो उसी श्रावक से अन्न लेवें ।। ४१ ।। ।। ४२ ।।

जब तक अपना उदर पूरा नहीं होगा तब तक अनेक घर में जाकर भिक्षा मांगना चाहिए जहां अन्न एवं प्रासुक जल मिलेगा वहां बैठकर संशोधन पूर्वक ग्रहण करें ।। ४३ ।।

भावार्थः—अपने संयम का प्रतिपालन करने वाला क्षुल्लक भिक्षापात्र प्रक्षालनादि कार्य में स्वयमेव निरभिमानी होकर अपने हाथ से काम करता है अन्यथा हिंसा हो जायगी मेरा प्राणि संयम तथा इंद्रिय संयम नहीं पलेगा, इस पाप से डरता हुआ आत्मकल्याणार्थ यत्न करता है ।।४४।।

तत्पश्चात् अपने गुरु के पास जाकर चार प्रकार के आहार का त्याग करता हुआ आर्षोक्त विधी के अनुसार गुरु सानिध्य में प्रवेश कर सातिशय विनय आदर पूर्वक अपनी कृत कर्म की निन्दा गर्हा कर प्रायश्चित्त रूप से गुरु आज्ञा शिरोधार्य कर आलोचना करता है ।।४५।।

अभीतक उस क्षुल्लक के अनेक भिक्षा नियम का प्रति पादन कर अब एक भिक्षा नियम अर्थात् एक ही घर में अन्न मिले तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा उपवास करूंगा इस श्लोक का यथार्थ वर्णन करते हैं—

जिस दिन अपने को एक ही घर में भिक्षान्न प्राप्त करना है, उस दिन यदि पहले ही उस श्रावक के घर में मुनिमहाराज आहारार्थ गये होंगे तो, उनका आहार होने तक एक कोने में बैठ जावें, पश्चात् दातार ने अनुग्रह पूर्वक बुलवा कर भोजन दिया तो आहार करें अन्यथा उस दिन एक ही घर का नियम होने से अवश्य उपवास करना चाहिए ।। ४६ ।।

क्षुल्लक को हमेशा संयताश्रम में रहना चाहिये एवं गुरु सेवा, शुश्रूपा, वैय्यावृत्य इत्यादि अवश्य करते रहें तथा बाह्याभ्यन्तर बारह प्रकार की तपश्चर्या नियम से करना चाहिये विशेप–संयमीयों पर संकट आजावें तो दश प्रकार के वैय्यावृत्य शास्त्रानुकूल करना ही चाहिये ।।४७।।

ग्रन्थांतरों से खुलासा—

उक्तंच—रत्नकरण्डश्रावकाचारग्रन्थे—

नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणेन समाहितेन शुद्धेन ।
अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम् ॥११३॥

दाता सात गुणों से सम्मिलित होकर नवधा भक्ति करता है, जिस पात्र के पांच पाप एवं आरम्भ छूट गया है ऐसे आर्य सत्पात्र को (श्रद्धा, भक्ति, निर्लोभता, विज्ञान, क्षमा, शक्ति तथा संतोष) इन सात गुणों से भूषित होकर अपने न्यायोपार्जित सद्द्रव्य से आहार देता है, अन्यथा गत्यन्तराभावात् ।

सागार धर्मामृतग्रन्थेऽपि कथितम्—

तद्वद्द्वितीयः किन्त्वार्यसञ्ज्ञो लुञ्चत्यसौ कचान् ।
कौपीनमात्रयुग्धत्ते यतिवत्प्रतिलेखनम् ॥४८॥

अर्थात्—प्रथम क्षुल्लक के समान ही दूसरे ऐलक होते हैं किन्तु इनको आर्य संज्ञा है यह केश लोच करता है तथा पीछी ग्रहण कर यतियों के समान अपने पाणिपात्र में आहार करता है इतना इन दोनों में अन्तर है अतः भगवान् समन्तभद्राचार्य ने कहा है कि, आर्य को सप्तगुण सहित होकर नवधा भक्ति पूर्वक अर्घ्य चढाना चाहिए; न तु क्षुल्लक को इसका निर्णय हुआ कि, ऐलक से लगातार मुनियों तक अर्घ्य रक्खा गया है क्योंकि—"मुनीनामार्याणामर्घ्यम्" रत्नकरण्ड ग्रन्थे प्रभाचन्द्राचार्येणापि प्रोक्तं च—मुनि ही आर्य होने से अर्घ्य देवें ।

स्वपाणिपात्र एवात्ति संशोध्यान्येन योजितम् ।
इच्छाकारं समाचारं मिथः सर्वे तु कुर्वते ॥४९॥

भावार्थः—अपने कर कमल रूपी पात्र में ही भोजन करते हैं न तु थाली आदि में तथा परके द्वारा अर्पण किया हुआ आहार ऐलक अपने हाथ में लेते हैं, एवं आपस में एकादशधारी सभी उत्कृष्ट श्रावक इच्छाकार करते हैं आपकी मैं इच्छा करता हूं इस प्रकार क्षुल्लक, ऐलक शास्त्रानुसार आचरण रखते हैं ।

अष्टमप्रतिमाधारी श्रावक यदि आरम्भ त्याग करता है तो क्षुल्लक अवश्य ही आरम्भ तथा पंचसूना का त्याग करेगा ही ।

अथारम्भविरतं द्वाभ्यामाह—उक्तंच-सागारधर्मामृतग्रन्थे—

निरूढसप्तनिष्ठोऽङ्गि घाताङ्गत्वात्करोति न ।
न कारयति कृष्यादीनारम्भविरतस्त्रिधा ॥२१॥

एतदेव समर्थयते—

योो मुमुक्षुरघाद्विभ्यत् त्यक्तुं भक्तमपीच्छति।
प्रवर्तयेत्कथं प्राणिसंहरणीः क्रियाः ॥२२॥

भावार्थः—यदि अष्टमप्रतिमाधारी श्रावक आरम्भ का त्याग करता है अर्थात् कृषिकर्म, वाणिज्य नियम से पापमय होने से वह दूरसे ही छोडता है किन्तु स्नपन, दान, पूजन, पुण्य कार्य भी छोड देता है, मुमुक्षु आरम्भ त्यागी पाप से डरता हुआ भोजन तक त्याग करता है।

क्योंकि—प्राणिसंहरणीः (जीवघाति का) क्रिया, कदापि आरम्भ त्यागी नहीं करता मन, वचन काय से पाप क्रिया का त्याग करता है।

तो उद्दिष्ट त्यागी क्षुल्लक रेल, मोटर वगैरह जीवघातक कार्य कैसा करेगा ? इसमें ईर्यापथ शुद्धि कहांतक रहेगी।

स्त्री प्रक्षालन निषेध

जैनवोधक से सन् १९५० में प्रकाशित किया गया आदेश

आर्षाधारः—आदि पुराण पर्व (४१) पृष्ठ (१४७४) में भगवान् जिनसेनाचार्य लिखते हैं कि—

भूयोभूयः प्रणम्येशं समापृच्छय पुनः पुनः।
पुनरावबृते कृच्छ्रात्स प्रीतो गुर्वनुग्रहात् ॥८३॥
ततः प्रविश्य साकेतपुरमावद्धतोरणम्।
केतुमालाकुलं पौरैः सानन्दमभिनन्दितः ॥८४॥
शान्तिक्रियामतश्चक्रे दुःस्वप्नानिष्टशान्तये।
जिनाभिषेकसत्पात्रदानाद्यैः पुण्यचेष्टितैः ॥८५॥
गोदेहैः प्लाविता धात्री पूजिताच्छमहर्षयः।
महादानानि दत्तानि प्रीणितः प्रणयोजनः ॥८६॥
निर्मापितास्ततो घंटा जिनविम्बैरलंकृताः।
परार्घ्यरत्ननिर्माणाः सम्वद्धा हेमरज्जुभिः ॥८७॥

लम्बिताश्च बहिर्द्वारि ताश्चतुर्विंशति प्रभाः ।
राजवेश्म महाद्वार गोपुरेष्वप्यनुक्रमात् ॥८८॥

भावार्थः—उसने भगवान को बार बार नमोऽस्तु किया बार बार आज्ञा मांगी और गुरु के अनुग्रह से अत्यंत प्रसन्न होकर बड़ी कठिणता से वह (राजा भरत) वहां से लौटा ॥ ८३ ॥

तदनंतर नगर के लोग आनन्द के साथ जिसका आदर सत्कार कर रहे हैं ऐसे गुरु भरत ने ध्वजाओं के समूह से भरे हुए और सब जगह तोरणों से सुशोभित ऐसे अयोध्या नगर में प्रवेश किया और बुरे स्वप्नों से होने वाले अनिष्ट की शान्ति करने के लिए भगवान् का अभिषेक करना और सत्पात्र को दान देना आदि अनेक पुण्य रूप क्रियाओं से शान्ति कर्म करना प्रारम्भ किया ॥ ८४ ॥ ८५ ॥ ८६ ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

आर्षाधारः—हरिवंशपुराणे पूर्वार्धे प्रोक्तं च—

ऐरावतं समारोप्य जिनेन्द्रं तस्य मण्डनम् ।
देवैः सह गतः प्राप मन्दरं स पुरंदरः ॥४०॥
तं पाण्डुकवने रम्ये मन्दरस्य जिनं हरिः ।
पाण्डुकायां प्रसिद्धायां शिलायां सिंहविष्टरे ॥४१॥
संस्थाप्य विबुधानीतक्षीरसागरवारिभिः ।
सातकुम्भमयैः कुम्भैरभिषिच्य समं सुरैः ॥४२॥
वस्त्रालंकारमालाद्यैरलंकृत्य कृतस्तुतिः ।
आनीय मातुरुत्संगे जिनं कृत्वा कृतोचितः ॥४३॥
सिद्धार्थप्रियकारिण्योः सममानन्ददायकम् ।
वर्धमानाख्यया स्तुत्वा सदेवो वासवोऽगमत् ॥४४॥
मासान्पञ्चदशाऽऽजन्म द्युम्नदिने दिने ।
याः पूर्वमापतंस्ताभिस्तर्पितोऽर्थो जनोऽखिलः ॥४५॥
वर्धमानः सुरैः सेव्यो वर्वृधे स यथायथा ।
पितृवन्धु त्रिलोकानामनुरागस्तथातथा ॥४६॥

भावार्थः—इन्द्र वर्धमान जिनेन्द्र बालक को अलंकार से भूषित कर अनेक देवों के सहित ऐरावत हाथी पर (उस जिनेन्द्र बालक को) विठा कर पांडुक शिला को प्राप्त हुआ ॥ ४० ॥

हरि अर्थात् इन्द्रने लोक में प्रसिद्ध तथा सिंहविष्टरमय अत्यंत सुन्दर उस पांडुक शिलापर उस जिनेन्द्र वर्धमानशिशु को संस्थापनकर सुवर्ण के कलशों से देवों के द्वारा लाये हुये क्षीरसागर के जल से अभिषेक किया तथा वह देवेन्द्र देवों सहित वापस लौटा ॥ ४१ ॥

जिनेन्द्र वर्धमान वालक को सिद्धार्थ राजा के राजधानी नगर में लाकर स्वर्गीय कल्पवृक्षोंसे लाये हुए वस्त्र, अलंकार, मन्दारमाला अर्थात् सुवर्ण के पुष्पों से सुशोभित कर तथा सहस्र जिह्वों से उस वालक की स्तुति कर एवं अपने योग्य देवोचित आदर सत्कार करके जगन्माताजी प्रियकारिणी, अपर नाम त्रिशलादेवीजी के गोद में विराजमान कर सिद्धार्थ राजा एवं प्रियकारिणी इन दोनों को सातिशय सानन्ददायक परम सन्तोष प्राप्त कर एवं जिनेन्द्र वालक को वर्धमान इस प्रकार नामोल्लेख कर देवेन्द्र देवसमुदाय समवेत स्वर्ग चले गये ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

त्रिशला माता के गर्भ में आना अभी छह मास शेष हैं तथा जन्म के नव मास कुल पन्द्रह मास तक इन्द्र की आज्ञासे कुवेर प्रति दिन सिद्धार्थ के राजमहल पर साढे तीन करोड़ रत्नों की वर्षा करता था उसकी वजहसे अखिल प्रजा संतर्पित अर्थात् प्रसन्न हुई थी ॥ ४४ ॥

वर्धमान वालक देवेन्द्र एवं देवोंसे सेवित, होते हुए शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान उत्तरोत्तर वढने लगे और माता-पिता भाई तथा त्रैलोक्य जनता को सातिशय पुण्य प्रभाव से जैसे जैसे वृद्धिगत होने लगे वैसे वैसे आनन्दित करने लगे तथा समस्त लोगों का वालक पर दिने दिने अनुराग वढने लगा ॥ ४६ ॥

आर्षाधारः—पद्म पुराणे शतेध्याये प्रोक्तं च—

वासवेश्मनि सुप्ताया अपिप्रचलबाहुकाः ।
चित्रचामरधारिण्यश्चामराणि न्यधूनयन् ॥ ९ ॥
स्वप्ने पयोजिनी पुत्रपुटं वारिभिरादरात् ।
अभिषेको महानागैरकारि परिमण्डितैः ॥ १० ॥
असकृज्जयनिःस्वानं व्रजंत्याः प्रतिबुद्धताम् ।
सच्चन्द्रशालिका शालभञ्जिका अपि चक्रिरे ॥ ११ ॥
परिवारजनाह्वानेष्वादिशेति ससम्भ्रमाः ।
अशरीरा विनिश्चेरुर्वाचः परमकोमलाः ॥ १२ ॥

क्रीडयाऽपि कृतं सेहे नाज्ञाभंगं मनस्विनी ।
सुक्षिप्रेष्वपि कार्येषु भ्रूरभ्राम्यत्सविभ्रमम् ॥ १३ ॥
यथेच्छं विद्यमानेऽपि मणिदर्पणसन्निधौ ।
मुखमुत्खातखड्गाग्रे जातं व्यसनमीक्षितुम् ॥ १४ ॥
समुत्सारितवीणाद्या नारीजनविरोधिनः ।
श्रोत्रयोरसुखायन्त कार्मुकध्वनयः परम् ॥ १५ ॥
चक्षुः पञ्जरसिंहेषु जगाम परमां रतिम् ।
ननाम कथमप्यंगमुत्तमं स्तम्भितं यथा ॥ १६ ॥
पूर्णेथ नवमे मासि चन्द्रे श्रवणसंगते ।
श्रावणस्य दिने देवी पौर्णमास्यां सुमंगला ॥ १७ ॥
सर्वलक्षणसम्पूर्णा पूर्णचन्द्रनिभानना ।
सुखं सुखकरात्मानमसूत सुतयुग्मकम् ॥ १८ ॥

भावार्थः—और सुगन्धके महल सम्वन्धी सुन्दर सेजपर सोती हुई इस प्रकारका स्वप्न देखती है कि, महागजेन्द्र कमलपुष्पोंके पुटमें जल भर कर अभिषेक कर रहा है, तथा वारम्बार सखीजनोंके मुखसे जय-जयकार शब्द सुनकर जागृत होती है एवं समस्त परिवारके लोग आज्ञारूप प्रवृत्ति कर रहे हैं। अर्थात् क्रीडा सम्वन्धमें भी यह आज्ञा भंग न सहन कर सके। सब आज्ञाधारी होकर शीघ्र ही आज्ञा प्रमाण करते हैं तो भी समस्तोंपर क्षत्रीय-तेज करती हैं। क्योंकि तेजस्वी पुत्र गर्भमें आये हैं तथा मणियोंके दर्पण अपने पास होनेपर भी खड्गके मुख देखती हैं । एवं वीणा, मृदंगादि अनेक बाजाओंके कर्ण-मधुर सुन्दर नाद होते हुये भी नहीं रुचकर होना। फिर धनुष्यके चढाई हुई डोरीकी ध्वनी रुचकर होती है, तथा सिंहोंके पिञ्जरे अवलोकन कर जिनके नेत्र प्रसन्न हो रहे हैं। और जिनका मस्तक जिनेन्द्र भगवान् विना अन्य स्थान पर झुकता नहीं है। ऐसे नव मास पूर्ण होनेके पश्चात् श्रावण सुदी पूर्णमासी के दिन श्रवण नक्षत्रके शुभावसरपर सर्वलक्षणपूर्ण शरद्‌ऋतुके चन्द्रमाके समान वदन जिनका है ऐसे युगल पुत्र-रत्न पैदा हुये। अर्थात् युगल पुत्र लवणांकुशको जन्म देती हुई मंगल रूपिणी सीताका आनन्द विशेष बढगया। इस प्रकार यह दृष्टान्तरूपसे घटाकर तिर्यञ्च महागजेन्द्रने अभिषेक किया

हुआ स्वप्नका फल दिखा कर दार्ष्टान्त रूपका साक्षात् फल जिनेन्द्राभिषेक में घटा दिया है।

आर्षाधारः—आराधनाकथाकोशेऽपि प्रोक्तं च—

ततो पद्मरथो राजा प्रहृष्टहृदयाम्बुजः।
गत्वा चम्पापुरीं तत्र दृष्ट्वा त्रैलोक्य मङ्गलम् ॥२३॥
समवादिसृतौ संस्थं प्रातिहार्यादिभूषितम्।
सुरासुरनराधीशसमर्चितपदद्वयम् ॥२४॥
केवलज्ञाननिर्णीतविश्वतत्वोपदेशकम्।
अनन्तभवसम्बद्धमहामिथ्यात्वनाशकम् ॥२५॥
वासुपूज्यजिनाधीशं समभ्यर्च्य सुभक्तितः।
स्तुत्वा स्तोत्रैस्तथा नत्वा श्रुत्वा तत्वं जिनोदितम् ॥२६॥

भावार्थः—पद्मरथराजाने चम्पापुर नगरीमें पहुंच कर समवसरण में विराजे हुए, आठप्रातिहार्योंसे विभूषित, देव, विद्याधर, राजा, महाराजाओं द्वारा पूज्य, केवलज्ञान द्वारा संसारके सव पदार्थोंको जानकर धर्मका उपदेश करते हुए और अनन्त जन्मोंमें वान्धे हुए, मिथ्यात्वको नष्ट करनेवाले भगवान् वासुपूज्यके पवित्र दर्शन किये, उनकी पूजाकी, स्तुतिकी और उपदेश सुना। इत्यादि॥

दानं भक्त्या सुपात्रेषु पूजां श्रीमज्जिनेशिनाम्।
नित्यं परोपकारं च करोतिस्म स भूपतिः ॥५॥
एकदा पृथ्वीदेवी कुर्वती केशसंस्कृतिम्।
मस्तके स्वपतेः केशं पलितं वीक्ष्य साददौ ॥६॥
दृष्ट्वा मणिवतो राजा केशं वा यमपाशकम्।
त्रिधा वैराग्यमापन्नो जैनतत्वविदाम्वरः ॥७॥
स्वराज्यं मणिचन्द्राय दत्वा पुत्राय धीमते।
कृत्वा पूजां जिनेन्द्राणां महास्नपनपूर्वकम् ॥८॥
दानं दत्वा यथायोग्यमर्थिभ्यो विनयान्वितः।
जिनदीक्षां समादाय मुनिर्जातो जगद्धितः ॥९॥

भावार्थः—मणिवतराजा प्रतिदिन सुपात्रोंको दान देते, भगवान् की पूजा करते और दूसरोंकी भलाई करनेमें भरसक प्रयत्न करते। एक दिन रानी पृथिवी देवी महाराजके बालोंको संवार रहीथी कि उनकी नजर एक सफेद बाल पर पड़ी। रानीने उसे निकालकर राजाके हाथमें रख दिया। राजा उस सफेद बालको कालका भेजा दूत समझकर संसार और विषय भोगोंसे बड़े विरक्त हो गये। उन्होंने अपने मणिचन्द्र पुत्रको राज्यका सब कारबार सौंप दिया और आप भगवान्की पूजा अभिषेककर तथा याचकोंको दान देते हुए जंगलकी ओर रवाना हो गए एवं दीक्षा लेकर तपस्या करने लगे।

अथ प्रीतिंकरो धीमान् प्राप्य राज्यादिसम्पदाः।
स्वपुण्येन समानीता भुञ्जानः सुतरां सुखम् ॥३४॥
ददत्पात्राय सद्दानं नित्यं सप्तगुणान्वितः।
महासौख्याकरं प्रीत्या नवपुण्यैर्विराजितम् ॥३५॥
पूजां श्रीमज्जिनेन्द्राणां महास्नपनपूर्वकम्।
कुर्वन्विध्वस्तदुर्लेश्यां स्वर्मोक्षसुखकारिणीम् ॥३६॥

भावार्थः—प्रीतिंकरको पुण्योदयसे जो राज्य-विभूति प्राप्त हुई उसे वह सुख-पूर्वक भोगने लगा। उसके दिन आनन्द-उत्सवके साथ बीतने लगे। इससे यह न समझना चाहिए कि प्रीतिंकर सदा विषयोंमें ही फंसा रहता है। वह धर्मात्मा था क्योंकि वह निरन्तर जिन भगवान्की अभिषेक-पूजा करता, जो कि स्वर्ग या मोक्षका सुख देने वाली और बुरे भावों या पापकर्मोंका नाश करने वाली है।

स्नपनं पूजनं प्रीत्या स्तवनं जपनं तथा।
जिनानामाकृतीनां च कुर्याद्भव्यमतल्लिकः ॥ ५ ॥
जिनयात्राप्रतिष्ठाभिर्गरिष्ठाभिर्विशिष्टधीः ।
प्रासादप्रतिमोद्धारैः कुर्याद्धर्मप्रभावनाम् ॥ ६ ॥
यस्यां संक्रियमाणायां सत्यं स्वर्गापवर्गयोः।
प्राप्यते कारणं पूतं सम्यग्दर्शनमुत्तमम् ॥ ७ ॥

भावार्थः—अतएव भव्यजनोंको उचित है कि वे जिन भगवान्का अभिषेक, पूजन, स्तुति, ध्यान आदि सत्कर्मोंको सदा किया करें। इसके सिवा तीर्थ-यात्रा, प्रतिष्ठा, जिनमन्दिरोंका जीर्णोद्धार आदि द्वारा जैनधर्मकी

प्रभावना करना चाहिए। इन पूजा प्रभावना आदि कारणों से सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है।

पद्मपुराणे पञ्चनवतितमं पर्वे प्रोक्तंच–

अवतीर्य गजाद्रामः कामः कमलोत्पलसंकुले समुदारे।
सरसि सुखं विमलजले रेमे क्षीरोदसागरे शक्र इव ॥५२॥

तस्मिन् संक्रीडय चिरं कृत्वा पुष्पोच्चयं जलादुत्तीर्य।
दिव्येनार्चनविधिना वैदेह्या संगतो जिनानानर्च ॥५३॥

रामो मनोभिरामः काननलक्ष्मीसमाभिरुद्यस्त्रीभिः।
क्षतपरिचरणो रेजे वसन्त इव मूर्तिमानुपेतः श्रीमान् ॥५४॥

देवीभिरनुपमाभिः सोऽष्टसहस्रप्रमाणसंसक्ताभिः।
रेजे निर्मलदेहस्ताराभिरिवावृतो ग्रहाणामधिपः ॥५५॥

भावार्थः—रामचन्द्रजी हाथीसे उतरकर निर्मल जलसे भरा हुआ जो सरोवर नाना प्रकारके कमल पुष्पोंसे संयुक्त उस विषयमें रमते हुए, जैसे इन्द्र क्षीरसागरजलके विषयमें रमे वैसे क्रीडाकर जलसे बाहर आये। दिव्य सामग्रीकर विधि पूर्वक सीता सहित जिनेन्द्रकी पूजा करने लगे। राम महा-सुन्दर एवं वनलक्ष्मी समान जो वल्लभा उनसे सहित होकर ऐसे शोभायमान हुए थे कि, मानो मूर्तिमान वसन्त ही है। उनकी आठ हजार रानियां देवांगना के समान उनसे ऐसे अलंकृत अर्थात् सुशोभित हुए थे कि, नक्षत्रोंके समुदायमें यह चन्द्रमा ही है। इस प्रकार रामचन्द्र राजाने अपनी पट्टरानी सीता देवीजीको आदि लेकर अन्य आठ हजार रानियों सहित देवाधिदेव अरहंत भगवान्‌की अष्ट द्रव्यार्चन पूजाकी, न तु सीतादेवीजीने भगवान्‌का अभिषेक किया है। केचित् विपरीत बुद्धिके लोगोंने भोली जनता पर मिथ्या प्रचारका "प्रकाश" डालनेके लिए अर्थ का अनर्थ कर जो जो पुस्तकें छपाई हैं वे वे पुस्तकें "वीरशासन के" विपरीत ही हैं, उनपर कोई भी विदुषी स्त्री विश्वास मत रक्खें।

भेकचिह्नं महाभूत्या समागत्य सुरोत्तमः।
प्रवृत्तो जिनपादाब्ज-पूजां कर्त्तुं प्रहर्षतः॥ ५५ ॥

तं पूजां जिनराजस्य कुर्वाणं शर्मदायिनीम्।
विलोक्य श्रेणिको राजा नत्वा संपृष्टवान् गुरुम् ॥ ५६ ॥

स्वामिन्नस्य किरीटाग्रे भेकचिह्नं प्रवर्तते।
तस्य किं कारणं ब्रूहि संशयध्वान्तभास्करः ॥ ५७ ॥
तच्छ्रुत्वा गौतमस्वामी संज्ञानमयविग्रहः।
अवोचत्तस्य वृत्तान्तं सर्वमेव प्रपञ्चतः ॥ ५८ ॥
श्रुत्वा तद्भव्यलोकास्ते सर्वे श्रीश्रेणिकादयः।
पूजाफलं जगत्सारं तस्यां जातास्तरां रताः ॥ ५९ ॥
मत्वेति श्रीजिनेन्द्राणां पूजातिशयमुत्तमम्।
महाभव्यैः सदा कार्या जिनार्चा शर्मकारिणी ॥ ६० ॥
धनं धान्यं महाभाग्यं सौभाग्यं राज्यसम्पदा।
पुत्रमित्रकलत्रं च सत्कुलं गोत्रमुत्तमम् ॥ ६१ ॥
दीर्घायुर्दुर्गतेर्नाशो विनाशः पापसन्ततेः।
अभीष्टफलसम्प्राप्तिर्मणिमुक्ताफलादिकम् ॥ ६२ ॥
सम्यक्त्वं मुक्तिसद्बीजं भवभ्रमणनाशनम्।
सद्विद्या सच्चरित्रं च सौख्यं स्वर्गापवर्गयोः ॥ ६३ ॥
प्राप्यते भो महाभव्या जिनपूजाप्रसादतः।
तस्मात्प्रमादमुत्सृज्य कार्यासा सौख्यदायिनी ॥ ६४ ॥

भावार्थः—इसलिए सबसे पहले मुझे जाकर पतित-पावन भगवान्‌की पूजा करनी चाहिए। इस विचारके साथ ही वह अपने मुकुटपर मेंड़कका चिह्न बनाकर महावीर भगवान्‌के समवशरणमें आया। भगवान्‌का पूजन करते हुए इस देवके मुकुटपर मेंडकके चिह्नको देखकर श्रेणिकको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने गौतम भगवान्‌को हाथ जोड़कर विनयसे पूछा— हे सन्देहरूपी अन्धेरेका नाश करनेवाले सूरज ! कृपाकर कहिए कि इस देवके मुकुट-पर मेंड़कका चिह्न क्यों है ? मैंने तो आजतक किसी देवके मुकुटपर ऐसा चिह्न नहीं देखा। ज्ञानकी प्रकाशमान ज्योतिरूप गौतम भगवान्‌ने तब श्रेणिक-को नागदत्तके भवसे लेकर अबतककी सब कथा कह सुनाई। उसे सुनकर श्रेणिकको तथा अन्य भव्यजनोंको बड़ा ही आनन्द हुआ। भगवान्‌की पूजा करनेमें उनकी महती श्रद्धा होगई। जिन-पूजनका इस प्रकार उत्कृष्ट फल

जानकर अन्यभव्यजनों को भी उचित ही है कि, वे सुखदेनेवाले इस जिन पूजनको सदैव करते रहें। जिनपूजाके फलसे भव्यजन धन-दौलत, रूप, सौभाग्य, राज्य, वैभव, वाल-वच्चे, एवं उत्तमकुल-जाति आदि सभी श्रेष्ठ सुख-चैनकी मनचाही सामग्री लाभ करते हैं। वे चिरकालतक जीते हैं तथा दुर्गतिमें नहीं जाते एवं उनके जन्म-जन्मके पाप नष्ट होजाते हैं। जिन-पूजा सम्यग्दर्शन और मोक्षका बीज है, संसारका भ्रमण मिटानेवाली है तथा सदाचार, सद्विद्या तथा स्वर्गमोक्षके सुखकी कारण है।

पद्मपुराणेऽशीतितमे पर्वे-प्रोक्तं च-

बद्ध्वा करद्वयांभोजकुड्मलं सह सीतया।
अघप्रमथनं पुण्यं रामः स्तोत्रमुदाहरत् ॥१३॥
यस्यावतरणे शान्तिर्जाता सर्वत्रविष्टपे।
प्रलयं सर्वरोगाणां कुर्वती द्युतिकारिणी ॥१४॥
चलिताऽऽसनकैरिन्द्रैरागत्योत्तमभूतिभिः ।
यो मेरुशिखरे हृष्टैरभिषिक्तः सुभक्तिभिः ॥१५॥
चक्रेणारिगणं जित्वा बाह्यं बाह्येन यो नृपः।
आन्तरं ध्यानचक्रेण जिगाय मुनिपुंगवः ॥१६॥
मृत्युजन्मजराभीतिखड्गाद्यायुधचञ्चलम् ।
भावासुरं परिध्वस्य योऽगात्सिद्धिपुरं शिवम् ॥१७॥

भावार्थः—राम-भगवान् शान्तिनाथ स्वामीको हाथ जोड़कर अशुभ कर्मका नाश करनेकेलिए सीता सहित स्तोत्र करने लगे। हे प्रभो! आपके गर्भावतारसे तीनलोकमें प्रचुर शान्ति हुई, महती कान्तीको देनेवाले तथा समस्त रोगका नाश करनेवाले, इससे समस्त जनताको महा आनन्द पैदा हुआ है। और आपके जन्म-कल्याणोत्सव करनेकेलिए इन्द्रादिक देव अत्यंत हर्षित होकर आये हैं। क्षीरसागरके जलसे सुमेरु पर्वतपर आपका जन्माभिषेक हुआ। तथा आपने चक्रवर्तीपद धारण कर जगत्का राज्य किया, वाह्य शत्रु वाह्यचक्रसे जीते, और मुनि होकर मोहरागादिक शत्रुओंको ध्यान-चक्रसे जीते, केवलज्ञान पैदाकर जन्म, जरा एवं मरणसे रहित जो शिवपुर मोक्षका राज्य आपने ज्ञानरूपी चक्रसे जीत लिया।

एकाशीतितमे पर्वे उक्तं च–

तेनोक्तं धातकीखण्डे सुरेन्द्ररमणे पुरे ।
विदेहेऽजनि पूर्वस्मिस्त्रैलोक्यपरमेश्वरः ॥२१॥
मन्दरे तस्यदेवेन्द्रैः सुरासुरसमन्वितः ।
दिव्ययाऽद्भुतया भूत्या जननाभिषवः कृतः ॥२२॥
तस्य देवाधिदेवस्य सर्वपापप्रणाशनः ।
अभिषेको मया दृष्टः पुण्यकर्मप्रवर्द्धकः ॥२३॥
आनन्दं ननृतुस्तत्र देवाः प्रमुदिताः परम् ।
विद्याधराश्चबिभ्राणा विभूतिमतिशोभनाम् ॥२४॥

भावार्थः—तब नारदने कहा—हे माता ! धातकी खंडद्वीपमें तथा पूर्वविदेह क्षेत्रमें सुरेन्द्र नामक नगर है वहां भगवान् तीर्थंकर देवका जन्म कल्याण हुआ है, इन्द्रादिक देव आकर भगवान्‌को सुमेरु पर्वतपर लेगये, वहां अद्भुत ऐश्वर्यसे भगवान्‌का जन्माभिषेक किया। देवाधिदेव अरहंत समस्त पापके नाश करनेवाले ऐसे जिनेन्द्र भगवान्‌का मैंने अभिषेक देखा। वहां धर्म-प्रभावना करनेवाले देवोंने आनन्दसे नृत्य किया, वहांकी शोभा विद्याधरोंको ग्रहण करने लायक थी।

पद्मपुराणे–एकविंशतितमे पर्वे–प्रोक्तं च–

जातमात्रमथो सन्तं जिनेन्द्रं क्षीरवारिणा ।
लोकपालैः समं शक्रो मेरावस्नपयच्छ्रिया ॥२२॥
सम्पूज्य भक्तितः स्तुत्वा प्रणम्य च सुराधिपः ।
मातुरंके पुनः प्रीत्या जिननाथमतिष्ठिपत् ॥२३॥
आसीद्गर्भस्थिते यस्मिन् सुव्रता जननी यतः ।
विशेषेण ततः कीर्ति गतोऽसौ सुव्रताख्यया ॥२४॥

भावार्थः—जन्म होते ही भगवान्‌को इन्द्रने लोकपाल-देवोंके सहित सुमेरु-पर्वतपर लेजाकर क्षीरसागरके जलसे भगवान्‌का अभिषेक किया। और इन्द्रने भक्ति, स्तुति, पूजा तथा नमोऽस्तुकर फिर सुमेरु पर्वतसे भगवान्‌को वापस लाकर माताके गोदमें विराजमान किये।

हरिवंश पुराणेऽष्टमे सर्गे प्रोक्तं च—

दृष्टः सुरगणैर्यः प्राग्मन्दरो रत्नपिञ्जरः ।
स एव क्षीरपूरोघैर्धवलीकृतविग्रहः ॥१६८॥
तदाऽत्यन्तपरोक्षोऽपि प्रत्यक्षः क्षीरवारिधिः ।
कृतः खेचरसंघातैर्जिनजन्माभिषेचने ॥१६९॥
स्नानासनमभून्मेरुः स्नानवारिपयोंबुधेः ।
स्नानसम्पादका देवाः स्नानमीदृग्जिनस्य तत् ॥१७०॥

भावार्थः—देवलोगोंने प्रथमतः सुमेरु पर्वतको देखाथा, वही पर्वत क्षीरसागरके जल-समुदायसे सफेद होगया है। वह अत्यन्त परोक्षथा, अब देवोंने भगवान्का अभिषेक किया अतः प्रत्यक्ष होगया, इस प्रकार सुमेरु-पर्वत स्नान का एक मुख्य-स्थान ही बनगया है।

जैन सन्देश तारीख अगस्त १९५४ में प्रकाशित हुआ प्रवचन—

स्याद्वादवारिधि, वादिगजकेसरी, चारित्रशीलशिरोमणि, योगिसम्राट्, तपोनिधि, परमपूज्य आचार्य श्रीअभिनन्दनसागरजी महाराज का आध्यात्मिक प्रवचन—समयसारग्रन्थे—

उक्तं च—"विरमकिमपरेणाकार्य कोलाहलेन स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम् । हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो ननु-किमनुपलब्धिर्भाति किञ्चोपलब्धिः" ।

अर्थात्—हे भव्य ! कोलाहल करनेसे क्या लाभ है ? उस कोलाहलसे तू विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तुको आप निश्चल-चित्त होकर अवलोकन कर। इस प्रकार छहमास तक अभ्यास कर। ऐसा करने से अपने हृदयरूपी सरोवरमें जिसका तेज प्रताप प्रकाश दृष्टा ज्ञाता स्वरूप सर्वथा पुग्दलसे भिन्न है, ऐसी आत्माकी प्राप्ति नहीं होसकेगी क्या ? किन्तु अवश्य होगी। जो अपने स्वरूपका अभ्यास करता है उस स्वरूपकी प्राप्ति अवश्य होती ही है। लेकिन पर वस्तुकी प्राप्ति कदापि नहीं होसकती है। अपना स्वरूप तो विद्यमान है, किन्तु

विभावसे भूलरहा है। सो स्वसंवेदन दृष्टिसे देखे तो दीख सकता है। यहां शास्त्रकारने छहमासका अभ्यास जो कहा है, वह सम्यग्दृष्टिको रुचि पैदा करनेके लिए कहा है। किन्तु स्वानुभव अन्तर्मुहूर्तमात्रमें ही होता है। शिष्यको गुरुउपदेश कठिन मालूम होनेसे बहुत कालतक समझानेकेलिए छहमासकी अवधि रक्खीगई है। इसलिए अन्य निष्प्रयोजन कोलाहलको छोड़कर अपने स्वरूपमें लवलीन होनेसे शीघ्रही स्वस्वरूपकी प्राप्ति होती है ऐसा उपदेश है।

"आत्मतत्वरुचिः सम्यक्त्वं, आत्मतत्वप्रख्यापनं भवेत्सम्यग्ज्ञानम् ।
पापक्रियानिवृत्तिः सम्यक्चारित्रमित्युक्तं जिनेन्द्रेण ॥१॥"

अर्थात् आत्मस्वभावमें रुचि पैदाहोना यही सम्यक्त्व है। तथा आत्मस्वरूपको यथायोग्यरीतिसे समझलेना सम्यग्ज्ञान है, एवं पाप-क्रियासे निवृत्त होजाना यही सम्यक्चारित्र है, ऐसा भगवान् जिनेन्द्रने कहा है। सम्यक्त्व दो प्रकारका है सराग और वीतराग सराग सम्यक्त्वका लक्षण—प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य इन चार कारणोंसे पैदा होता है। "आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्" अर्थात् आत्मशुद्धि करनेकेलिए मोक्ष-पुरुषार्थकी जरूरत है। इससे करणलब्धि व काललब्धि के अनुसार साध्यसाधक-भाव प्राप्त होता है, यही परम्परासे मोक्षकेलिए परम कारण है। सरागसम्यक्त्व एकवार आसन्नभव्यको होकर यदि प्रमादसे छूटजाय तो उसको अर्धपुद्गलपरावर्तनकालतक संसारचक्रमें परिभ्रमण करना पड़ता है। अतएव शास्त्रकारने दोनों सम्यक्त्वके लक्षण बतातेहुए सराग सम्यक्त्व श्रावकको हुआ करता है, और वीतरागसम्यक्त्व साधुको हुआकरता है, ऐसा कहा है।

उक्तं च—"आसन्नभव्यता, कर्महानि संज्ञित्वशुद्धिभाक् ।
देशनाद्यस्तमिथ्यात्वो जीवः सम्यक्त्वमश्नुते" ॥२॥"

अर्थात् "कतिपय भवप्राप्य निर्वाणपद इति आसन्नभव्यः"। कमसे कम दो तीन भवसे मोक्षजायगा, अधिकसे अधिक सात-आठ भव लेकर मोक्षजायगा, ऐसा आसन्नभव्यका लक्षण है। आभ्यन्तर चार कारणोंसे एवं वहिरङ्गतीर्थङ्कर गणधर आदिकोंका उपदेश पाकर इन पांच कारणोंसे जीव सम्यक्त्व पैदा करता है।

प्रोक्तं च—भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
तस्यैवाभावतः बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥

अर्थात्—अनादिकालसे लगातार आत्मपुद्गलको, अलग करतेहुए अभीतक कितने सिद्ध हुए हैं इस भेदविज्ञानके अनुसार ही हुए हैं। किन्तु भेदविज्ञानका

अभाव होनेमात्रसे जितने बद्ध हुए हैं वे अभीतक वद्ध ही हैं। तदनुसार पुद्गलका लक्षण— पु=भरना, गल=नवद्वारोंसे मलमूत्रका विसर्जन करना ऐसा पुद्गलका लक्षण भंगीही सिद्ध होता है। इस भंगीके दो भेद हैं एक पुग्दल तथा भगवान् महावीरका स्याद्वादरूपी भंगी। जैसेकि (१) स्यादस्ति घटः (२) स्यान्नास्ति घटः (३) स्यादस्ति नास्त्येव घटः (४) स्यादवक्तव्यमेव घटः (५) स्यादस्त्यवक्तव्यमेव घटः (६) स्यान्नास्त्यवक्तव्यमेव घटः (७) स्यादस्ति नास्त्यवक्तव्यमेव घटः।

अर्थात्—स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन अपने स्वरूपभूत चार अवयवों से सम्पूर्ण पदार्थ कथंचित् अस्तिरूपही हैं। (१) तथा कोई शव्द यों निषेध करनेमें प्रवर्तरहा है। जैसे कि, स्वरूप आदिके विपर्यास यानी परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंसे सम्पूर्ण पदार्थ कथञ्चित् नास्तिरूपही हैं। (२) विधि और निषेधके क्रमसे उस द्वैतपनकी अपेक्षासे सम्पूर्ण पदार्थ कथञ्चित् अस्ति नास्ति उभयरूपही हैं। (३) अथवा अस्तित्व और निषेध की युगपत् कथनविवक्षा होनेपर वह वस्तु अवक्तव्यही है। (४) तथा यथायोग्य उचित नयकी विवक्षा करनेसे यानी स्वरूप-चतुष्टय और समयमें दोनोंके कहनेकी अपेक्षासे वस्तु कथञ्चित् अस्त्यवक्तव्य रूपही है। (५) जिस उचित नयकी योजनासेही यानी पर-चतुष्टय और युगपत् कथनकी विवक्षासे वस्तु कथञ्चित् नास्त्यवक्तव्यही कहीजाती है। (६) तथा स्वचतुष्टय और परचतुष्टय एवं युगपत् कथनकी अर्पणा करनेसे वस्तु कथञ्चित् अस्तिनास्तवक्तव्यस्वरूपही है। (७) इस प्रकार धर्मोंके अविरोधसे शव्दों की प्रवृत्ति द्वारा सात भंगोंके समुदायकी योजना होजाती है। इसका नामही सप्तभंगी है।

निवेदक—गुलजारीलाल जैन।

जैन सन्देश प्रकाशित प्रवचन तारीख
१६ अगस्त सन् १६५४

परमपूज्य आचार्य श्री अभिनन्दनसागरजी महाराजका आध्यात्मिक प्रवचन—

"भेदविज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः। शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना द्वितीयच्युताः"। एवमिदं भेदज्ञानं यदाज्ञानस्य वैपरीत्य-

कणिकामप्यनासादयदविचलितमवतिष्ठते तदा शुद्धोपयोगमयात्मत्वेन ज्ञानं ज्ञानमेव केवलं सन्न किञ्चनापि रागद्वेषमोहरूपं भावमारचयति। ततो भेदविज्ञानाच्छुद्धात्मोपलम्भः प्रभवति। शुद्धात्मोपलम्भात् रागद्वेष-मोहाभावलक्षणः संवरः प्रभवति ॥१८१॥१८२॥१८३॥

अर्थात्:—यह निर्मल भेदविज्ञान अपने उदयावस्थाको प्राप्त होता है। इसका निश्चय करनेवाले सत्पुरुषोंको कहते हैं कि भो सत्पुरुषो! तुम इसको पाकर रागद्वेषादिकोंसे रहित होकर एक शुद्ध ज्ञानवृन्द समूहको स्वीकारकर उसमें ही लीन होते हुए सातिशय सन्तोष मानो। चैतन्यरूपको धारण करता हुआ भेदविज्ञान एवं जड़रूपको स्वीकार करता हुआ रागद्वेष इन दोनोंका जो अज्ञान अवस्थामें एकावगाह दृग्गोचर होता था, उसको आभ्यन्तरमें स्वानुभवके निजाभ्यासरूप शक्तिसे अच्छीतरह विदारण कर उदयको प्राप्त होता है। भेदविज्ञान तो चेतनास्वरूपही है एवं रागद्वेषादिक पुद्गलके विकार अर्थात् जड़ हैं सो इन दोनों अज्ञानसे एक जडरूपही अवभासते हैं। सो भेदविज्ञान जब आत्मामें प्रकाशित होजाता है तब ज्ञानका एवं रागद्वेषादिकोंका पृथक्पना आभ्यन्तरके स्वानुभवसे उत्पन्न होता है। उस समय ज्ञानका स्वभाव तो जानने मात्रही है एवं ज्ञानमें रागादिकोंकी आकुलतारूपसंकल्प-विकल्प प्रकाशित होते हैं। ऐसे ज्ञान और रागादिकके भेदका आस्वाद आजाता है। यह भेदविज्ञान सब विभावोंके मिटानेकेलिए परमकारण होजाता है। इसीका नाम परमसंवर है। यह भेदविज्ञान जिस समय रागद्वेषादिकोंके विकाररूप ज्ञानमें विपरीतपनेकी कणिका को नहीं प्राप्त करता है उस समय यह भेदविज्ञान शुद्धोपयोग स्वरूप पनेकर ज्ञानही रूप केवल किञ्चिन्मात्र भी रागद्वेष मोहभावको नहीं प्राप्त होता है। अतएव यह सिद्ध हुआकि भेदविज्ञानसेही शुद्धात्माकी प्राप्ति होती है। शुद्धात्माकी प्राप्ति से रागद्वेष मोहस्वरूप आश्रवभावोंका अभाव होकर परमसंवर होता है।

दृष्टान्त—

तीर्थे तीर्थे निर्मलं ब्रह्म वृन्दं,वृन्दे वृन्दे तत्वचिंतानुवादः।
वादे वादे जायते तत्ववोधः वोधे वोधे भासते चन्द्रचूडः॥

अर्थात्—इसी भेदविज्ञानसे आत्मस्वरूपमें एकाग्रतासे यदि निश्चल ध्यान कियाजाय तो अनादिकालसे नहीं प्राप्तहुआ ऐसा अपना आत्मस्वभाव निर्मलवृत्तिसे प्रकटहोजाता है। तत्पश्चात् रत्नत्रयके मूर्तिमान बनकर तत्वविवेचन करनेमें

लगेंगें तो निजस्वरूप दृष्टिगोचर होता है। एवं इसी प्रकार आत्मा तथा पुद्गल भिन्नभिन्न हैं, ऐसी एकाग्रतासे आत्मस्वरूपको देखने लगेंगे जानने लगेंगे तो युगपत्तत्वाववोघ होजाता है। उस तत्वाववोधसे वाह्य-पाप-क्रियाओंका त्याग होता हुआ अपनी आत्मामें ध्यान-निमग्न होकर इस केवलवोधको भेदविज्ञानी पाता है। इसी प्रकार जन्म, जरा, मरणरूप जो संसार था, उसको भेदविज्ञानी शुद्धात्माने अपनी योग्यतासे रत्नत्रयको पाकर प्रकृतिवन्ध, प्रदेशवन्ध, अनुभागवन्ध तथा स्थितिवन्ध इन चारों बन्धोंका विध्वंसकर, समस्तविभावका अपने स्वभावसे अलगकर, ज्ञानरूपीकिरणमय अपने चैतन्यस्वरूपको अखण्ड अविनाशी वनाता हुआ साक्षात् यही अन्तरात्मा परमात्मा होजाता है।

उक्तं च–

सत्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ।। १ ।।

अर्थात् भो भगवन् ! आपही निर्दोष हैं, क्योंकि आपका वचन युक्ति और आगमसे निर्वाधित है। अतएव आपके सानिध्यमें एकान्तवादी आकर वादविवाद नहीं करसकता है। अतः आपके तत्वकी प्रामाणिकतासे दोनोंही प्रत्यक्ष तथा परोक्ष-प्रमाणसे आपके वचन युक्त है, साक्षात् आपही प्रामाण्य होनेसे आपके वस्तुतत्वकोभी प्रमाण मानाजाता है।

"प्रमाणकी व्युत्पत्ति" इस प्रकार है—प्र=उत्कृष्ट, मा=समवसरण आदिक वहिरंग-लक्ष्मी तथा अनन्तचतुष्टयादिक अन्तरंग-लक्ष्मी। अणः=शव्दः द्विव्यध्वनिः इत्यर्थः।

अर्थात्– आपके दिव्यमुख कमलसे दिव्यध्वनि इसी प्रमाणानुसार एकान्तवादियोंका निराकरण तथा अनेकान्तमत-वादियोंका समर्थन करतीहुई स्याद्वादरूपसे खिरती हैं। इससे मिथ्याभिमानी, अर्थात् वैशेसिकादिकोंका आत्मा कोईभी हालतमें सर्वज्ञ नहीं वनसकता है। क्योंकि, हमही आप्त हैं इस प्रकार सदैव वे जलते रहते हैं। तथा एकान्त (मिथ्या) मतसे वस्तुका यथार्थ-निर्णय नहीं हो सकता है, अतः अनेकान्तस्याद्वादसेही वस्तुका यथायोग्य निश्चय होजाता है। इसीकानाम भेदविज्ञान है।

श्रीषोडशकारणव्रतविधान।

परमपूज्य आचार्य श्री १०८ अभिनन्दनसागरजी महाराजका भाद्रपदकृष्ण एकमसे आसोजकृष्ण एकमतक एकान्तर उपवास (दो उपवास वेलाके साथ)

चलेगा इस षोडश-कारण-व्रतविधानके उपलक्ष्यमें आर्षोक्त रीतिके अनुसार श्रीजिन-मंदिरमें मण्डलमांडकर समग्र एक मासतक व्रत, उपवास, ज्ञान, ध्यान, तप, स्वाध्याय, स्वानुभव तथा ग्रन्थावलोकन अर्थात् धर्मप्रभाव होता रहेगा।

सन् १९५३ में—आचार्य संघका बिहार—कोडरमा चातुर्मास—

श्रीसम्मेदशिखरजीसे परमपूज्य आचार्य श्री १०८ अभिनन्दनसागरजी महाराज ससंघ श्रीपावापुरी, राजगृह, वगैरह तीर्थस्थानोंका दर्शन करते हुए पटना होकर आरा पधारेंगे।

आनन्दीलालजी बजकी नसियां में चातुर्मास तारीख ७-८-५५

परमपूज्य आचार्य श्री अभिनन्दनसागरजी महाराजका आध्यात्मिक प्रवचन—

"प्रज्ञाछेत्रीशितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः
सूक्ष्मेऽन्तःसंधिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य ॥१८१॥
आत्मानं मग्नमन्तः स्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे
बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ" ॥२९४॥

भावार्थः—आत्मा तथा वन्धकों अलग करनेका यही एक प्रज्ञारूपी अमोघशस्त्र है, जो भेदविज्ञानी निष्णात पुरुष हैं, वे सावधान होकर आत्मा एवं कर्म इनदोनोंका सूक्ष्म मध्यका जो बन्ध उसमें किसी प्रकार प्रयत्नकर उस शस्त्रको ऐसा पटकना चाहिए कि वहां पटका हुआ वह शस्त्र शीघ्रही सब प्रकारका वन्ध अलग करदेगा। वह आत्माको तो अन्तरंग में स्थिर तथा स्पष्ट प्रकाशरूप तेजसे संयुक्त और चैतन्यके प्रवाहमें लवलीनकर तथा बन्धको अज्ञानभावसे भिन्न करदेगा यही इसका नियम है।

यहांपर आत्मा और वन्धका भिन्न-भिन्न करना रूप कार्य है उसका कर्ता आत्मा ही है। उसमें भी करणके विना कर्ता किससे कार्य करे? अतः करणकी आवश्यकता है, शुद्ध-निश्चय नयसे तो कर्तासे अलग करण होताही नहीं। अतएव

आत्मासे अभेद बुद्धिही इस कार्यमें करण है आत्माके अनादि वन्ध ज्ञानावरणादि कर्म हैं तथा उनका कार्य भाववंध रागद्वेषादिक हैं और नो कर्म शरीरादिक हैं। सो बुद्धिसे आत्माको शरीरसे, ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्मसे तथा रागादिक भावकर्मसे भिन्न एक चैतन्यभावमात्र अनुभवकर ज्ञानमें ही लीनरखना अलग करना है। इसीसे समस्तकर्मोंका विनाश होनेसे आत्मा सिद्ध होजाता है।

दृष्टान्त—

धर्मामृतं सदा पेयं दुःखान्तकविनाशकम्।
यस्मिन् पीते परं सौख्यं जीवानां जायते सदा॥

अर्थात्—तीर्थंकरादिक परमगुरु, अपरगुरु गणधरादिक तथा पूर्वाचार्य इत्यादिकोंसे धर्मामृत अर्थात् आत्मकल्याणकारक वैराग्य गर्भित उपदेश सदैव श्रवण करना चाहिए। इससे जन्म, जरा, मरण पैदा करनेवाले जो द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, भावकर्म रागद्वेषादि तथा नोकर्मपुद्गलादि इत्यादिकोंका नाशहोनेसे आत्मा आसन्नभव्य होकर कर्मसे छुटकारा पाता है। सम्यग्दृष्टि होकर सम्यग्ज्ञानरूपी तीक्ष्ण तलवारसे, वैराग्यरूपीकवच पहनकर विचाररूपी रणभूमिपर खड़े होकर अष्टकर्मोंके साथ युद्धकर अपने आत्मस्वरूपका स्वसंवेदनसे अनुभवकर सिद्ध होजाता है। इसलिए जिस धर्मामृतका पान करनेमात्रसे अनादिकालसे छिपी हुई आत्माकी अनंतशक्ति व्यक्त होकर आत्माको अतीन्द्रियजन्य शाश्वतसौख्य प्राप्त होता है।

"परमतत्वज्ञानीजीवः संसारशरीरभोगरूपत्रिविधवैराग्यसम्पन्नो भूत्वा शुभाशुभकर्मफलमुदयागतं वस्तुस्वरूपेण विशेषेण निर्विकार स्वशुद्धात्मनो भिन्नत्वेन जानाति" कथंभूतं जानाति ? अशुभकर्मफलं निम्बकांजीरविषहालाहलरूपेण कटुकं जानाति। शुभकर्मफलं बहुविधंगुडखण्डशर्करामृतरूपेण मधुरं जानाति। नच शुद्धात्मोत्थसहजपरमानन्दरूपमतींद्रियसुखं विहाय पञ्चेन्द्रियसुखे परिणमति, तेन कारणेन ज्ञानी वेदको भोक्ता न भवतीति नियमः"॥

अर्थात्—उत्कृष्ट आत्मानुभवी शुद्धात्मा हमेशा संसार, शरीर तथा भोगसे विरक्त रहता है, उसको पंचपरावर्तन चतुर्गतिरूप संसार कुछ नहीं कर सकता। तथा शरीरभी जन्म, जरा, मरणसे संयुक्त है तोभी इनको कर्मोंसे लिप्त नहीं करसकता। भोग भी इनको आसक्त नहीं करता। उक्तं च—विरागस्य भोगोपभोगः कर्मनिर्जरा एव कारणम्। अर्थात्—विरागीको भोगोपभोगभी कर्मवन्ध

नहीं करता, प्रत्युत कर्म निर्जराही करता है। वह तत्व वेत्ता—मन, वचन तथा कायसे वैराग्यवान होकर अपने उदयमें आये हुए शुभाशुभ कर्मफलको वस्तुतः विशेषतासे निर्विकारमय शुद्धात्मासे भिन्नही मानता है। किस प्रकार जानता है? अशुभकर्मफलको निंब, काञ्जीर, विष तथा हालाहलरूपसे अत्यन्त कडवा जानता है। तथा शुभकर्मफलको बहुप्रकारसे गुड, खण्ड, शर्करा तथा अमृतस्वरूपसे सातिशयमीठा अनुभव करता है। शुद्धात्मासे सहजरीत्या पैदा होनेवाला उत्कृष्ट आनन्दमय अतीन्द्रिय अर्थात् आत्मिक शाश्वत सुखको छोड़कर, नाशवन्त ऐसे पञ्चेन्द्रिय सांसारिक सुखमें परिणमन नहीं करता है। इस कारणसे ज्ञानी शुभकर्मफल एवं अशुभकर्मफलका भोक्ता नहीं ऐसा नियम है।

दार्ष्ट्रान्त—

यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितैर्मनुष्यै-
र्विज्ञानशौर्यविभवार्यगुणैः समेतैः।
तस्यैव जीवितफलं प्रवदन्ति सन्तः
काकोऽपि जीवति चिरं च बलिं च भुंक्ते ॥१॥

भावार्थः—इस पृथ्वी तलपर प्रतिष्ठित मनुष्योंके द्वारा जो जीवन एक-निमिषमात्रभी बिताया जायगा, उनका ही जीवन सफल माना, जायगा एवं विज्ञानका खुलासा "अविचारपूर्वकं किमपि कार्यं न कुर्यात्" अर्थात् ज्ञानीमनुष्य अविचारसे कोईभी कार्य नहीं करता है। और शौर्य ह्मने अपने पराक्रमसे तथा ऐश्वर्य आदिक अनेक गुणोंसे सुशोभित होकर समस्त मानवोंमें अग्रगण्य होजाता है, उनका ही जीवन फलद्रूप है ऐसा सन्त पुरुष कहते हैं। अन्यथा कव्वाभी वहुतकालतक अपने जीवनको योग्य समझकर दुनियाके उच्छिष्ट सेवन करताही रहता है। इससे सिद्ध होता है कि, वीर पुरुष ही अष्ट कर्मोंसे लडसकते हैं। उनका आन्तरंगिक विज्ञान, पराक्रमादिगुण सूर्य किरणके समान सर्वत्र विकसित होकर फैलजाते हैं। और अनादि कालसे काल-लब्धिको न पाकर अभीतक इस जन्म-जरा-मरणरूप संसारमें फंसे हुए हैं तथा काल-लब्धिको प्रकट कर "वीर" साधनसे आत्मसाध्य आत्मसाक्षात्कार कर सकते हैं।

तारीख २१-८-५५ में कियागया प्रवचन

परमपूज्य आचार्य श्री १०८ अभिनन्दनसागरजी महाराजका आध्यात्मिक प्रवचन—

"यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते।
तदयमुदयमात्माराममात्मानमात्मा
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥ १ ॥" १८६

भावार्थः—यदि आत्मा किसी तरह (महान् सौभाग्यसे) धारावाही ज्ञानकर निश्चल-शुद्ध-आत्माको प्राप्त हुआ तिष्ठता है तब यह आत्मा, उदय होतेहुए आत्मारूप क्रीड़ावनमें अपने आत्माको परपरिणतिरूप राग-द्वेष-मोहके निरोधसे शुद्धको पाता है। इस तरह शुद्ध आत्माकी प्राप्तिसे संवर होता है। यहां पर जो धारावाही ज्ञान कहागया है उसका अर्थ यह है कि जो एक प्रवाहरूप ज्ञान हो वह धारावाही है। सो इसकी दो रीतियां हैं— एकतो मिथ्याज्ञान, बीचमें न आये ऐसा सम्यग्ज्ञान वह धारावाही है, और दूसरा उपयोगका ज्ञेयके साथ उपयुक्त होनेकी अपेक्षा है। सो जहांतक एक ज्ञेयसे उपयोग उपयुक्त होता है वहांतक धारावाही कहाजाता है। इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्तही है बादमें विच्छेद होजाता है। सो जहां जैसी विवक्षाकी वहा वैसा जानना। श्रेणीचढ़े तब शुद्ध आत्मासे उपयुक्त हो धारावाही होता है।

"निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या
भवति नियतमेषांशुद्धमात्मोपलम्भः।
अचलितमखिलान्यद्द्रव्यदूरे स्थितानां
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः" ॥१८७॥१८८॥१८९॥

अर्थात्:—जो पुरुष भेदविज्ञानकी शक्ति कर अपने स्वरूपकी महिमामें लीन है, उसको नियमसे शुद्ध तत्वकी प्राप्ति होती है। तथा जो उस शुद्ध तत्वकी प्राप्ति होनेपर निश्चल होके समस्त अन्य द्रव्योंसे दूर ठहरा है उसका कर्मका अभाव होता है फिर कर्मका वन्ध नहीं होता है।

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्वोपलम्भात्
रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण।

विभ्रत्तोषं परमममलालोकमम्लानमेकं
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ।।१३२।।

अर्थात्:—यह ज्ञान, ज्ञानमेंही निश्चलनियमरूप उदयको प्राप्त हुआ। किस क्रमसे हुआ ? कि प्रथम तो भेदज्ञानके उदय होनेका अभ्यास हुआ, फिर उस भेदविज्ञानके अभ्याससे शुद्ध तत्वकी प्राप्ति हुई, उस शुद्ध तत्वके उपलम्भसे रागके समूहका प्रलय हुआ। रागके समूहका प्रलय करनेसे आश्रवके रुकनेसे कर्मोंका संवर हुआ तथा कर्मोंका संवर होनेसे परमसन्तोषको ग्रहण करता हुआ ज्ञान प्रकट हुआ। कैसा है यह ज्ञान ? जिस (ज्ञान) का प्रकाश निर्मल है, क्षयोपशमके दोषसे जो मलिनथा वह अब नहींरहा आपभी अम्लान है अर्थात् रागादिकसे जो कलुषता थी वह अब न होनेसे निर्मल है। फिर कैसा है ? एक है, क्षयोपशमकर भेद थे वे अब नहीं हैं एवं जिसका उद्योत हमेशा है।

उक्तं च–

दृष्टान्त–तज्जयति परञ्ज्योतिः समस्तैरनन्तपर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ।।

अर्थात्—ज्ञानका स्वभाव "स्वपरावभाषि" अपने स्वरूप तथा परस्वरूपको जानना यही ज्ञानका लक्षण है, यही क्षयोपशमज्ञान ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण कर्मका क्षय होनेसे निरावरणमय होजाता है। इसका नामही केवलज्ञान है, इस ज्ञानमें समस्त तीनलोकके चराचर पदार्थ प्रतिबिंवित होते हैं। अर्थात् आयनाके समान यह ज्ञान स्वस्वरूपका तथा परस्वरूपका मुखावलोकनकरता है।

तारीख २८-८-५५ में

परमपूज्य आचार्य श्री १०८ अभिनन्दनसागरजी महाराजका आध्यात्मिक प्रवचन—

"अचिंत्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिन्तामणिरेव यस्मात् ।
सर्वार्थसिद्धात्मतयाविधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण ।।१४४।।"

अर्थात्—जिस कारण यह चैतन्यमात्र चिन्तामणिवाला ऐसा ज्ञानी, स्वयमेव आप देव हैं। कैसा है ? कि जिसमें ऐसी शक्ति है जो किसीके विचारमें नहीं

आसकती। ऐसे ज्ञानीके सब प्रयोजन सिद्ध हैं ऐसे स्वरूप हुआ अन्यवस्तुके परिग्रह कर क्या करना ? कुछभी नहीं करना।

भावार्थः—यह ज्ञान-मूर्ति आत्मा अनन्त-शक्तिका धारक वांछितकार्यकी सिद्धि करनेवाला आपही देव है। इसलिए सबप्रयोजनोंके सिद्धपनेकर ज्ञानीके अन्य परिग्रहके सेवन करनेसे क्या साध्य है ? कुछ भी नहीं, यह निश्चयनयका उपदेश है।

उक्तं च—त्रिगुप्ति गुप्तत्वबलेन ख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धादिसमस्तपरद्रव्यालंबनशून्येनानन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वरूपेण सालम्बने भरितावस्थे निर्विकल्पसमाधौ स्थितो ज्ञानी कर्माणि बहुप्रकाराणि ज्ञानावरणादिमूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नानि निश्चयनयेन न करोति न च तन्मयो भूत्वा वेदयत्यनुभवति।

अर्थात्—मन, वचन तथा कायसे एकाग्रतारूपी आत्मबलसे ख्याति ह्मने मेरा सर्वत्र सन्मान होवे, पूजा=मेरी सेवा-शुश्रूषा तथा गुण-कीर्तन समस्त भारतवर्षमें होते रहें, लाभ=मुझे अनेक प्रकारकी सम्पत्ति मिले इत्यादि। भूतकालमें देखा हुआ विषय, तथा श्रवण कियाहुआ एवं अनुभवमें आया हुआ विषय, भोगकी अभिलाषारूप भावी-निदान बन्धादिक, समग्र परपदार्थोंका अवलम्बन करना इससे रहित होकर अर्थात् अपने स्वस्वरूपमें मग्नहोकर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य (अनन्तशक्ति) इन अनन्त-चतुष्टयके आश्रयसे पूरित होकर निर्विकल्प-समाधिमें स्थिर हुआ ज्ञानी अनेक प्रकारके अर्थात् ज्ञानावरणादि अष्टमूलप्रकृति तथा उत्तर (१४८) प्रकृतियोंका प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, अनुभागबन्ध तथा स्थितिबन्धादिकोंका जो आवरण इससे भिन्न होता हुआ ज्ञानी निश्चयनयसे कर्मबन्ध नहीं करता तथा कर्म-तन्मय होकर कर्मफलका अनुभवभी नहीं करता है।

"तर्हि किं करोति ? परमात्मभावनोत्थसुखे तृप्तो भूत्वा वस्तुस्वरूपेण जानात्येव। किं जानाति ? सुखदुःखस्वरूपकर्मफलं, प्रकृतिबन्धादिभेदभिन्नं पुनः कर्मबन्धं, सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्ररूपं पुण्यं, अतोऽन्यदसद्वेद्यादिरूपं पापं चेति। तमेव कर्तृत्वभोक्तृत्वभावं विशेषेण समर्थयति। यथा—दृष्टिः कर्त्री दृश्यमग्निरूपं वस्तुसंधुक्षणं पुरुषवन्न करोति तथैव च तप्तायः पिण्डवदनुभवरूपेण न वेदयति। तथा— शुद्धज्ञानमप्यभे-

देन शुद्धज्ञानपरिणतजीवो वा स्वयं शुद्धोपादानरूपेण न करोति न च वेदयति ।

अर्थात्– तब क्या करता है ? उत्तर– परमात्म-भावनासे उत्पन्न हुआ सुख उसमें सन्तोषित होकर वस्तुका स्वरूप यथायोग्य रीतिसे जानताहै। क्या जानता है ? उत्तर– सुख-दुःखस्वरूपका कर्मफल तथा प्रकृतिबन्धादिकोंका फल मेरे आत्मासे भिन्न हैं इस प्रकार ज्ञानी कर्मचक्रमें होताहुआभी उस कर्मफलको अपनी आत्मासे भिन्न मानता है। सातावेदनीय, शुभायु, शुभनाम तथा शुभ गोत्रसे पुण्य पैदाहोता है। असातावेदनीय, अशुभनाम, अशुभायु तथा अशुभगोत्रसे पापका वन्ध होता है। इन दोनोंका कर्ता, भोक्तापनका विशेष रीतिसे समर्थन करते हैं। जैसे इस लोकमें नेत्रसे देखनेयोग्य पदार्थ अत्यन्त भिन्न होनेसे उनके करने और भोगनेमें असमर्थ है उस भिन्नपनेसे दृश्य-पदार्थका न तो कर्ता है और न भोक्ता है। यदि ऐसा न हो तो अग्निको जलानेवालेकी तरह अग्निसे तप्तायमान लोहेके पिण्डको देखनेसे नेत्रके कर्ता भोक्तापन अवश्य आजायगा सो है नहीं। नेत्रका केवल दर्शनमात्र स्वभाव है, इसलिए दृश्यको केवल देखताही है। उसी तरह ज्ञानभी नेत्रवत्‌ही है, इसलिए कर्मसे अत्यन्तभिन्न होनेसे निश्चयकर उस कर्मको करने और भोगनेमें असमर्थ है, उसपनेसे कर्मको न तो करता है न भोगता है। केवल ज्ञानमात्र स्वभावपनेसे कर्मके वन्ध-मोक्ष-उदयको तथा उसकी निर्जराको केवल जानता ही है।

जैन सन्देश से तारीख १ जुलाई सन् १९५४ में प्रकाशित कियागया आदेश—

क्या मुनि एकलविहारी होसकते हैं ?

प्रश्न १–शिष्य नरेन्द्रकुमारजैन कोडरमा,. मुनि एकलविहारी हो सकते हैं क्या ?

गुरु आचार्यवर्य श्रीअभिनन्दनसागरजी महाराजका उत्तर–हां हो सकते हैं। मूलाचार प्रदीपमें कहा है कि:–

तपःसूत्रसत्वैकत्वभावसंहननधृतिसमग्रश्च ।
प्रव्रज्यागमबली एकविहारी अनुज्ञातः ॥ २८ ॥

भावार्थ:—जो मुनि तपश्चर्यासे, शास्त्राध्ययनसे, अपनी स्वसामर्थ्यसे, एवं निश्चल-भावसे, लब्धप्रतिष्ठितसंहननसे, धैर्य, शौर्य, पराक्रम इत्यादिसे, जिन-दीक्षित होकर आगम-वेत्ता बलवान् मुनि एक विहारी होसकते हैं, ऐसा शास्त्रज्ञ समझते हैं।

तथा अन्य प्रमाण। आचारसारशास्त्र अध्याय दूसरा—

ज्ञानसंहनन स्वान्तभावनाबलवन्मुनेः।
चिर प्रव्रजितस्यैकविहारस्तु मतः श्रुते ॥ २७ ॥

भावार्थ:—इसकाभी आशय यह है कि, जो मुनि बहुत दिनके दीक्षित हैं और ज्ञानसंहनन तथा अपने अन्तःकरणकी भावनासे बलवान हैं, ऐसेही मुनि एकलविहारी होसकते हैं। किन्तु उपरि-निर्दिष्ट विशेषणोंके अतिरिक्त अन्य मुनियोंको एकलविहार करनेका अधिकार नहीं है, ऐसा शास्त्रोल्लेख है।

जैनागम अनेकान्तमय होनेसे एकान्तमतसे वस्तुका यथार्थ निर्णय नहीं होता है। अतएव विचार-धारा-पूर्वक तत्व-विवेचन करनेकी आवश्यकता है सो ज्ञात करें। अन्यथा अज्ञानता है।

जैनगजटके अंक २९ ता० २७-५-५४ में "मुनि एकलविहारी नहीं होसकते" शंका-समाधान-शीर्षक एक छोटासा लेख प्रकाशित होचुका है। अतः हमने आर्षाधार-पूर्वक उसका निराकरण किया है।

जैनसन्देश तारीख १ जुलाई सन् १९५४ में प्रकाशित किया गया आदेश—

प्रश्न २—शिष्य नरेन्द्रकुमार जैन—

विधवासे पैदा हुए सन्तान मुनि होसकते हैं क्या ?

उत्तर—आचार्यवर्य श्री अभिनन्दनसागरजी महाराजने कहा कि नहीं हो सकते—

षट्खण्डागमे जीवस्थाने (पृष्ठ ४९) अयं विषयः प्रतिपादितः—

देस-कुल-जाइ-सुद्धो सोमंगो संग-भंग-उम्मुक्को।
गयण व्व णिरुवलेवो मुणीसो एरिसो होई ॥३०॥

भावार्थः—देश, कुल और जातिसे शुद्ध हैं, सौम्यमूर्ति हैं, अन्तरंग तथा वहिरंग परिग्रहसे रहित हैं, आकाश के समान निर्लेप हैं, ऐसे साधु होते हैं।

षट्खण्डागमके प्रथमखण्डमें तथा अनगारधर्मामृतके नवमें अध्यायमें इसका निषेध किया है। उक्तं च—

सुदेश कुलजात्यंगे ब्राह्मणे क्षत्रिये विशि।
निष्कलंकेक्षमे स्थाप्या जिनमुद्रार्चिता सताम् ॥८८॥

ब्राह्मणे क्षत्रिये वैश्ये सुदेशकुलजातिने।
अर्हतः स्थाप्यते लिङ्गं न निंद्यबालकादिषु ॥८९॥

पतितादेर्न सा देया जैनीमुद्राबुधार्चिता।
रत्नमाला सतां योग्या मण्डले न विधीयते ॥९०॥

न कोमलाय बालाय दीयते व्रतमार्चितम्।
नहि योग्ये महोक्षस्य भारे वत्सो नियोज्यते ॥९१॥

भावार्थः—देश-कुल-जातिसे शुद्ध, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन विशुद्ध जातियोंमें ही सज्जन-प्रशंसित समर्थोंमें प्रस्तुत जिनमुद्रा स्थापित कीजाती है, नान्यथा।

उपरि प्रतिपादित इन तीन जातियोंमें जिन-लिंग प्रस्थापित कियाजाता है, पिंडहीन निंदास्पद अज्ञानादिकोंमें नहीं।

तथा—गुणहीन सच्चारित्रसे भ्रष्टोंमें संत-प्रशंसित यह जिन-दीक्षा नहीं देना चाहिये। अर्थात् सज्जन ग्रहण करने योग्य रत्नमाला हीनोमें नहीं नियोजित कीजाती है।

एवं सामर्थ्य-हीन, अज्ञानी वगैरहको यह जिनलिंग नहीं दियाजाता है, किन्तु यथायोग्य सामर्थ्यवान् वैलकोही शक्त्यनुसार भार दियाजाता है वालकको नहीं दियाजाता।

इस प्रकार आधुनिक समयमें कतिपय पिंडहीन होतेहुएभी अपनी महती अज्ञानतावश मुनि वनवैठे हैं। अतः उनकी शुद्धि कैसे होसकती है?

प्रश्न ३—शिष्य नरेन्द्रकुमार जैन—

कोई भी गुरु-विना दीक्षा लेसकता है क्या?

गुरु आचार्यवर्य श्री अभिनन्दनसागरजी महाराजका उत्तर—नहीं।

उक्तं च क्रियाकलापग्रन्थे– पूर्वदिने भोजनसमये भाजनतिरस्कारविधिं विधाय आहारं गृहीत्वा चैत्यालये (श्रीजिनमन्दिरे) आगच्छेत्। ततो बृहत्प्रत्याख्यानप्रतिष्ठापने सिद्धयोगभक्ति च पठित्वा गुरुपार्श्वे प्रत्याख्यानं सोपवासं गृहीत्वा आचार्यशान्तिसमाधिभक्तिः पठित्वा गुरोः प्रणामं कुर्यात्। अथ दीक्षादाने दीक्षादातृजनाशान्तिकगणधरवलयपूजादिकं यथाशक्ति कारयेत्। स देवशास्त्रगुरुपूजां विधाय वैराग्यभावनापरः सर्वैः सह क्षमां कृत्वागुरोरग्रे तिष्ठेत्। ततोगुरोरग्रे संघस्याग्रेदीक्षायै च यांचां कृत्वा तदाशया सौभाग्यवति स्त्रीविहितस्वस्तिकोपरि श्वेतवस्त्रं प्रच्छाद्य तत्र पूर्वदिशाभिमुखः पर्यंकासनं कृत्वा आसते गुरुश्चोत्तराभिमुखो भूत्वा संघाटकं संघं च परिपृच्छ्य लोचं कुर्यात्।

भावार्थः–प्रथम दिन भोजनकालमें पात्र-संस्कार विधि पूर्वक आहार ग्रहण कर चैत्यालय (जिनमन्दिर) में जाना चाहिए। पश्चात् उत्कृष्ट त्यागवृत्तिको स्वीकार कर सिद्ध, योगिभक्ति पठनकर गुरु-सानिध्यमें प्रत्याख्यान-पूर्वक उपवास धारणकर आचार्य, शान्ति समाधि भक्ति पठन करके गुरुको नमोऽस्तु करना चाहिए।

तदनन्तर दीक्षाग्रहण समयमें दीक्षा देनेवाले गुरुजनोंकी शान्तिक-पूर्वक गणधरवलय पूजादि कार्य यथा-शक्ति करना चाहिए। पश्चात् दीक्षादाता उसको स्नानादिक करवाकर यथा-योग्य आभूषणादिकोंसे महा-उत्सवसे उसको जिनमन्दिरमें लाना चाहिए। वह देव-शास्त्र-गुरुकी पूजा करके वैराग्यभावना तत्पर समस्त लोगोंको क्षमा करके गुरुके सामने उपस्थित होना चाहिए। पश्चात् गुरु-सन्मुख एवं संघके समक्ष दीक्षाकी याचना करके उनकी आज्ञानुसार सौभाग्यवती स्त्रीकृत स्वस्तिकके ऊपर सफेद वस्त्र वेष्टितकर उसपर पूर्वदिशाको मुखकर पर्यंकासनसे बैठना चाहिए। गुरु उत्तराभिमुख होकर संघाष्टकयुक्त संघको पूछकर लोच करना चाहिए।

इस प्रकार आर्षाचार पायाजाता है। किन्तु आधुनिक समयमें कई क्षुल्लकोंमें जैनागमविरुद्ध विपरीत विधि देखीजाती है। महदाश्चर्य ?

जैन-संदेशसे तारीख १९ नवम्बर सन् १९५३ कोड़रमा-चातुर्मासमें प्रकाशित कियेगये आदेश—

क्षुल्लक साधुसंघमें रहें एवं वर्षायोग आर्षोक्त करें।

भगवान् समन्तभद्राचार्यके अभिप्रायसे क्षुल्लक मुनि-संघमें रहकर शास्त्रोक्त चातुर्मास करें।

श्री १०८ परमपूज्य उद्भट-विद्वान्, योगि-सम्राट्, चारित्र-शील-शिरोमणि, विश्ववंद्य, आचार्य अभिनन्दनसागरजी महाराजका आदेश।

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥१४७॥

भावार्थः—जो समस्त घर कुटुम्बादिसे विरक्त होकर मुनि-संघमें जाकर दीक्षा, शिक्षादिकोंको ग्रहण करता हुआ एक कौपीन तथा खंड-वस्त्र रखता हुआ जिससे समस्त अंग न ढके अर्थात् मस्तक ढके तो पैर न ढके एवं पैर ढके तो मस्तक न ढके ऐसी हालतमें डांस, मच्छर, शीत, आतप, वर्षा, पवन, वगैरह परिषह सहन करते हुए अयाचित अनुद्दिष्ट भिक्षा भोजन मौनसे ग्रहण करनेवाला अपने निमित्तसे बना हुआ भोजनको सर्वथा त्याग करनेवाला तथा बाह्य वसतिकामें रहकर उपसर्ग परिषह आजाय तो निर्भय वृत्तिसे सहनकर कायरता, दीनताको अपनी सामर्थ्यसे हटाता हुआ ज्ञान-ध्यान-स्वाध्यायमें सदाकाल लीन रहनेवाला गृहस्थके घर चर्याके निमित्त पहुंचकर गृहस्थ द्वारा अपने लिए बनाये हुए भोजन भक्ति-पूर्वक दियाहुआ भोजन ग्रहण करें वह रसरहित या रससहित कड़वा, खारा, मीठा इस प्रकार जैसा भी गृहस्थ देवें वैसा समभावसे स्वीकारकर दिनमें एकवार अन्तराय टालकर करता हुआ अष्टमी चतुर्दशी पर्व-निमित्त उपवास ग्रहण करके शक्ति-प्रमाण तपमें उद्यमी रहनेवाला ऐसा ग्यारहवीं प्रतिमाधारी क्षुल्लक होता है।

पंडितप्रवर आशाधरजीके अभिमतसे भी सागारधर्मामृतमें ऐसा ही कहा गया है कि—

वसेन्मुनिवने नित्यं, शुश्रूषेत गुरूंश्चरेत्।
तपो द्विधापि दशधा, वैयावृत्यं विशेषतः ॥४७॥

भावार्थः—क्षुल्लक सदा मुनियोंके साथ उनके निवासभूत वनमें निवास

करें। तथा गुरुओंको अन्तरंग वा बहिरङ्ग दोनों प्रकारकी तपस्याका आचरण करें। तथा खासकर दश प्रकार वैयावृत्यका आचरण करें।

विजया टीका— क्षुल्लको मुनिवने वसेद्, गुरून् शुश्रूषेद्, अन्तरङ्ग-बहिरङ्गे तपसी तपेत् तथा वैयावृत्यं विशेषतया चरेत्।

अर्थात्—क्षुल्लक हमेशा मुनि-संघमें रहकर अपनी शक्त्यनुसार गुरुओंकी सेवा शुश्रूषा करते हुए अन्तरंग छह प्रकारकी एवं वहिरङ्ग छह प्रकारकी तपश्चर्या करते हुए विशेषरीत्या आर्षोक्त दश प्रकारकी वैयावृत्य करें। किन्तु आजकल हुण्डावसर्पिणीके प्रतापसे प्रत्येक क्षुल्लक रेल, मोटरमें बैठते हैं। इस प्रकार वर्ताव करनेसे ईर्यापथशुद्धि कहां रही? जब अष्टम प्रतिमासेही आरम्भ त्याग होजाता है तब ग्यारह प्रतिमाधारीके लिए इस प्रकार आरम्भ करना कहाँतक न्यायसंगत है? इसका विचार हरेक क्षुल्लकको करनाही चाहिए। मच्छरदानी लगाना पांच-पांच हाथ प्रमाण मोटे-मोटे चद्दर ओढ़ना यह शिथिला-चार है या स्वेच्छाचार है?

प्रायः सवही क्षुल्लक वढते हुए स्वेच्छाचारकी बजहसे अपने-अपने संघ बनाकर चौमासा करने लगे हैं, ऐसे ताण्डवनृत्यको देखकर हमें महदाश्चर्य होता है?

तथा—भगवती-आराधनाग्रन्थे षोडशोत्तरषट्शतेपृष्ठे—

प्रोक्तं च— वर्षाकालस्य चतुर्षु मासेषु एकत्रैवावस्थानं भ्रमण-त्यागः। स्थावरजंगमजीवाकुला हि तदा क्षितिः। तदा भ्रमणे महान-संयमः, वृष्टया शीतवातपातेन वात्मविराधना। पतेद्वाप्यादिषु स्थाणु-कंटकादिभिर्वा प्रच्छन्नैर्जलेन कर्द्दमेन वा बाध्यत इति विंशत्यधिकं दिवस-शतं एकत्रावस्थानमित्ययमुत्सर्गः।

भावार्थः—वर्षायोग (चातुर्मास) में एकही स्थानमें श्रमण-संघ रहना चाहिए किन्तु पर्यटन अर्थात् विहार नहीं करना चाहिए। यदि आगम-विरुद्ध साधु भ्रमण करेंगे तो त्रस, स्थावर जीवोंकी हिंसा होगी तथा उस समय गमन करनेसे महान् असंयम होगा, अर्थात् प्राणिसंयम एवं इंद्रिय संयमकी संरक्षा नहीं होगी। जलवृष्टिसे तथा ठंडहवासे अपनी आत्माकी विराधना होगी और नदी, नाले, कूंये वगैरहमें गिरनेका भय रहता है, पानीमें, रास्तेके कीचडमें लकड़ीके टुकड़े एवं कांटे इत्यादि वहुत भीतर छिपे रहनेसे उनसे वाधायें होती हैं अतएव

चातुर्मासमें समस्त साधुओंको जिनाज्ञा है कि, वे (१२०) दिनतक एकही स्थानमें अपना वास्तव्य करें, यही उत्सर्गमार्ग कहाजाता है।

एवं अनगार धर्मामृतमेंभी (१२०) दिनकाही चातुर्मास होता है ऐसा कहा है यतः—

ततश्चतुर्दशी पूर्वरात्रे सिद्ध मुनि स्तुती।
चतुर्दिक्षु परीत्याल्पाश्चैत्यभक्तिगुरुस्तुतिम् ॥६६॥
शान्तिभक्ति च कुर्वाणैर्वर्षायोगस्तु गृह्यताम्।
ऊर्जशुक्लचतुर्दश्यां पश्चाद्रात्रौ च मुच्यताम् ॥६७॥

भावार्थः—चार लघु चैत्यभक्तियोंको बोलते तथा पूर्वादिक चारों ही दिशाओंकी तरफ प्रदक्षिणा देतेहुये आषाढ़शुक्लाचतुर्दशीकी रात्रिको प्रथम प्रहरमें सिद्ध-भक्ति एवं पंचगुरुभक्ति तथा शान्ति भक्तिकोभी बोलकर आचार्य और इतर सम्पूर्ण साधुओंको वर्षायोग प्रतिष्ठापन करना चाहिये। यह वर्षायोगके प्रतिष्ठापन-की विधि है।

यही विधि निष्ठापनमें भी करनी चाहिये। अर्थात् कार्तिकशुक्ला चतुर्दशीकी रात्रिको अन्तिम-प्रहरमें पूर्वोक्त विधानके अनुसारही आचार्य और साधु-ओंको वर्षायोग निष्ठापन करदेना चाहिये। किन्तु इस समयमें क्षुल्लक (१०५) दिनका वर्षायोग विताकर विहार करने लगे हैं। ज्योतिष-शास्त्रके अनुसार शुक्लपक्ष-के वाद कृष्णपक्ष आता है किन्तु उत्तर-प्रान्तके लोग प्रथम कृष्णपक्ष मानकर पश्चात् शुक्लपक्ष मानते हैं। अर्थात् इस समय आसोजकृष्णपक्ष चलरहा है, इसको ही कार्तिक कृष्णपक्ष माननेसे गड़वड़ है, क्योंकि, क्षुल्लकोंको अवसर मिल गया कि, चलो हमारा चौमासा वीरनिर्वाणके पश्चात् खतम हुआ। यदि ज्योतिष-शास्त्रके माफिक विचार करें तो कार्तिक-कृष्णा जो लिखा गया है वह साड़ेचार मासका चौमासा होगा, ऐसा नहीं हो सकता। चौमासा १२० दिनका ही हो सकता है अन्यथा नहीं।

अर्थात् वर्षायोग प्रतिष्ठापन तथा निष्ठापन विधिका जो पं० आशाधरजी का जो शास्त्राधार है वही "ऊर्जकृष्णचतुर्दश्यां" के स्थानमें "ऊर्जशुक्लचतुर्दश्यां" ही पाठ ठीक वैठता है। अन्यथा दक्षिण-प्रान्तकी प्रथा एवं उत्तर-प्रान्तकी प्रथा इन दोनोंमें रूढ़ीके वजहसे परस्पर विरोध प्रतीत होता है अतएव प्रचलित रूढ़ीवादको वृद्धसम्प्रदायके अनुसार चलनेसे कोई हानि नहीं है। अतः चातुर्मास

१२० दिनका ही होता है यह सिद्ध हुआ। इसलिये आगमकी आज्ञा शिरोधार्य करते हुए क्षुल्लक-गण मुनि-संघमें रहें तथा चातुर्मास १२० दिनका ही करें।

प्रेषक—गोविन्दराम शास्त्री, झूमरीतिलैया, (कोडरमा)

जैन-संदेश जेष्ठकृष्णा ७-८ वीरनि० संवत् २४७६ तारीख ४ जून सन् १९५३

तारीख २१-४-५३ को प्रातःकाल ७।। बजेसे परमपूज्य उद्भट विद्वान् आचार्य श्री १०८ अभिनन्दनसागरजी महाराजका केशलोच लगभग ४०० जैन-जैनेतर नरनारियोंके बीचमें हुआ। आप दो मासमें ही उत्कृष्ट-रीतिसे केशलोच करते हैं। यह केशलोच अनेक स्तुति एवं प्रार्थनाओंके मध्य हुआ। इसी अवसरपर आचार्य श्री का केशलोचकी सार्थकता बतलाते हुए दो घंटोंतक अत्यंत मार्मिक, सारगर्भित एवं प्रभावशाली प्रवचन हुआ, जनता श्रवणकर मन्त्र-मुग्ध हुई थी। पश्चात् गुरु-आज्ञापाकर गोविन्दरामशास्त्रीजीने भी इसी विषयपर भाषण दिया तदनन्तर सभा स्थानान्तर होगई।

निवेदक— नेमीचन्द छावड़ा।

जैनमित्राङ्क १९५० के अंक ४२ में प्रसिद्ध हुआ

पणदरे (सोलापुर) चातुर्मासमें—उद्भटविद्वान्, सकलशास्त्र-निष्णात, परमपूज्य आचार्य श्री अभिनन्दनसागरजी महाराजका आदेशः—

परमपूज्य आचार्य श्री अभिनन्दनसागरजी महाराज आदेश देते हैं कि, वर्तमानमें जिनमुनियोंको गृहस्थोंद्वारा आचार्यपद दियाजाता है वह आर्षविरुद्ध है मुनिको आचार्यपद "दीक्षा गुरु द्वारा या अन्य आचार्यद्वारा" दिया जाता है, शिष्य मुनिकी योग्यता देखकर आचार्य दीक्षागुरु वा अन्य आचार्य-पद देसकते हैं ऐसा आर्षाधार है—

सुकुमारचरित्रे पञ्चमसर्गे प्रोक्तं च—

विश्वप्राणिहिताकांक्षी निराकांक्षो जगत्सुखे।
सर्वजेष्ठोऽन्यशिष्याणामभूज्जेष्ठोगुणैः क्रमात् ॥१०॥
तथाविधं तमालोक्य सूर्यमित्रगणाग्रिमम्।

संघभारक्षमं ज्ञात्वा विधिना संघसाक्षिकम् ॥११॥
संघाटकं समर्प्यास्मै दत्वा सूरिपदं महत् ।
गुरुरेकविहारी स जातो निर्वाणसिद्धये ॥१२॥
सुधर्माचार्य एकाकी कुर्वन्घोरतरं तपः ।
यत्नेन विहरन्नानादेशग्रामपुरादिकान् ॥१३॥

भावार्थः—समस्त विश्वप्राणियोंका कल्याण होवे, ऐसी जिनकी अभिलाषा है, तथा जगत्पर मोह नहीं होनेसे अपने आत्म-कल्याण व्यतिरिक्त परपदार्थपर उनकी कोई प्रकारकी आकांक्षा नहीं रही इसलिये वे परम निर्मोही एवं अन्य शिष्योंमें अनेक ज्ञानादि गुणोंसे श्रेष्ठ ऐसे सूर्यमित्रनामक साधुसंघके तिलकको देखकर, ये ही शिष्य संघसंरक्षण करनेमें समर्थ हैं ऐसे समझकर, संघसाक्षी-पूर्वक आचार्य-पदकी घोषणा करवाकर, महान् इस विशेषणको ग्रहण करनेवाला आचार्यपद सूर्यमित्रको देकर, गुरुने संघका भार उनको सुपुर्द कर दिया । और मोक्ष प्राप्तिके लिये एकविहारी होकर सुधर्माचार्य प्रयत्नसे नानाप्रकारके देश, विविध ग्राम (नगर) पुरादिक अर्थात् मांडलिक, महामांडलिकोंके राजधानियोंमें विहार करने लगे ।

एवं— अन्य आर्षाधारः कुन्दकुन्दाचार्यकृतमूलाचार ग्रन्थे—

प्रोक्तं च— शिष्यानुग्रहकुशलो धर्मोपदेशकश्च संघप्रवर्तकश्च ।
मर्यादोपदेशकोपि च गणपरिरक्षो ज्ञातव्यः ॥३५॥

पञ्चाचाररतः शिष्यानुग्रहे कुशलो महान् ।
दीक्षाशिक्षादिसंस्कारैराचार्यः सद्गुणार्णवः ॥७०॥

भावार्थः—जो आचार्य शिष्योंका संरक्षण करनेमें निपुण हैं तथा धर्मोपदेश करनेमें व्यवहार-चतुर, बुद्धिमान् हैं और संघमें कोई प्रकारकी आपत्ति, व्याधि, दुर्जनोपसर्ग इत्यादि न आवें इस विषयमें लोक-स्थितिके अनुसार अपना संघ चलानेमें प्रवीण हैं । तथा हित, मित, प्रिय अर्थात् लोगोंका हित होवे, शास्त्रानुसार भाषण अल्प तथा अर्थगांभीर्य होवे और उपदेश मधुर, कोमल-वचनगर्भित, जनताके कर्णप्रिय होवें इत्यादि इस आशयके उपदेश देनेवाले एवं साधुगणकी संरक्षा करनेमें चतुर हो ऐसे महात्माको आचार्य समझना चाहिये ।

तथा स्वयमेव पंचाचार पालनेवाले और शिष्योंसे भी (दर्शनाचार,

ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार) इन पंचाचारोंको पलवानेवाले एवं शिष्यसमुदायके अनुग्रह करनेमें हरतरहसे महान् कुशल अर्थात् व्यवहार चातुर्य गुणसे भूषित ऐसे आचार्य अन्योंको दीक्षा, शिक्षा ह्मने पठन, पाठन वगैरह करनेमें, करवानेमें उद्युक्त इत्यादि संस्कारोंसे जो संयुक्त होते हैं और अनेक गुण संपन्न होनेसे, इन आचार्यप्रभृतिको गुणसमुद्र ऐसे कहते हैं।

तथा—आत्मानुशासनेऽपि प्रोक्तं च—

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः
प्रास्ताशाः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः।
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारि परानिन्दया
ब्रूयाद्धर्मकथां गुणगणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः॥

भावार्थः—इस श्लोकमें आचार्य कैसे होते हैं ? उनका लक्षण कहते हैं—

प्राज्ञः=बुद्धिमान्, समस्त शास्त्र अपने हृदयमें ग्रहण करनेमें समर्थ तथा लोकव्यवहारको भी यथा योग्य रीतिसे जाननेमें निष्णात तथा आशारूपी दासीको जिन्होंने अपनी प्रतिभाशाली बुद्धिसे विध्वस्त किया है और सन्तोषको धारण करनेसे महाशान्तमुद्राधारी प्रशमवान् एवं प्रश्न करनेवाले लोगोंके अभिप्रायको प्रथमही जानकर उनके अभिप्रायानुसार उत्तर देनेमें कुशल, प्रायः लोगोंके सीधे या टेढ़े प्रश्न होनेपर भी शान्तिसे उत्तर देकर उन प्रश्नोंकी वक्रताको सहन करनेमें सामर्थ्यशाली तथा श्रोताओंके मनको हरण करनेमें भी प्रभावशाली उपदेश देकर उनके मनआकर्षण करनेमें अपूर्वशक्तिधारी और दूसरे साधुओंकी या अन्य गृहस्थोंकी निन्दा मनसे, वचनसे तथा शरीरसे स्वप्नमें भी नहीं करनेवाले एवं धर्मोपदेश अर्थात् प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चारों अनुयोगोंके अनुकूल धर्मकथादि-गर्भित उपदेश देनेवाले ऐसे आचार्य होते हैं।

इस प्रकार आचार्यपद भगवान् समन्तभद्राचार्यने, अपने शिष्य शिवकोटी मुनिको उनकी योग्यता देखकर आचार्यपद दिया था। तथा कुन्दकुन्द मुनिकी योग्यता अवलोकनकर उनके गुरु जिनचन्द्राचार्यने आचार्यपद दिये थे। इसलिये अनेक शास्त्राधार तथा प्रमाण विद्यमान हैं। आजकल गृहस्थ समाज मुनियोंको आचार्य-पद देरही है अतः गृहस्थही मुनिका गुरु होगया है, तथा मुनि गृहस्थका चेला बनगया यह महदाश्चर्य ?

श्रीभगवती-आराधना-ग्रन्थे प्रोक्त च–

वर्षासु क्रोशार्द्धगमनं अर्धयोजनं वा। ततोऽधिकक्षेत्रगमनं क्षेत्र-प्रतिसेवा। इति

अर्थात्–चातुर्मासमें यदि उपसर्ग, दुर्भिक्ष, कालिरा, रोग वगैरह उपस्थित होजाय तो चातुर्मास-स्थान छोड़कर चार माइलतक साधुसंघ जासकता है। अन्यथा उससे अधिक गमन करें तो प्रायश्चित्त लेवें।

परमपूज्य आचार्य श्रीअभिनन्दनसागरजी महाराजका जीवन-चरित्र महाराष्ट्रभाषामें है, उसका हिन्दी अनुवाद निम्न प्रकारहै–

भो पाठक-महोदय! इस दुनियामें समस्त लोग शाश्वत सुखके लिये अहर्निश (रातदिन) प्रयत्न करते हैं, यह वात आबाल वृद्धोंतक सिद्ध है। छोटे वच्चे भी सुख पैदा करनेकेलिये तत्पर रहते हैं, "वच्चे तुम क्या करते हो!" ऐसे पूछा जाय तो हम खेल, कूदरहे हैं इस प्रकार जवाव देते हैं, खेलकूद इनने सुख पैदा करनेका एक प्रकारका प्रयत्न है, तब छोटे वच्चोंसे लेकर बूढ़ोंतक सुख यह विषय सव प्राणिमात्रको प्रिय है। अतः वह सुख सहज रीतिसे पैदा करनेके लिये प्राणिमात्र प्रयत्न करते हैं।

कई लोग द्रव्य-सम्पादनार्थ पुरुषार्थ कररहे हैं, कतिपय लोग स्त्रीप्राप्त्यर्थ निरन्तर यत्न करते हैं और अनेक लोग विद्या सिद्धयर्थ कार्य करते हैं। और भी स्वराज्य प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार विश्वमें भिन्न-भिन्न लोगोंके भिन्न-भिन्न विचार प्रचलित हैं।

उक्तञ्च–'सुखं च न विना धर्मात्'

अर्थात्–धर्मविना सुख नहीं मिलता है धर्मही सुखका मुख्य-साधन है। पूर्वाचार्योंने भी सुखके दो भेद वतलाये हैं एक विनाशक, दूसरा अविनाशक इन दोनोंको अभ्युदय (स्वर्ग) निःश्रेयस (मोक्ष) ऐसा नाम दिया है।

संसारी जीवोंको स्त्री, पुत्र, भाइयोंसे जो सुख मिलता है उसको अभ्युदय कहते हैं। और जन्म, जरा, मरणादिकोंसे रहित होकर जो शाश्वत सुख मिलता है उसको निःश्रेयस कहते हैं। ये दोनों सुख प्राणियोंको धर्मसेही पैदा होते हैं, ऐसे आचार्योंने कहा है।

यह लौकिक व पारलौकिक सुख प्राप्त करनेके लिये अपना नाशवंत तथा क्षणभंगुर लक्ष्मीका सदुपयोगार्थ परमपूज्य आचार्य श्री १०८ अभिनन्दनसागरजी महाराजका जीवन चरित्र प्रकाशनार्थ श्रीरामपुर नगरस्थ समस्त दिगम्बर जैन

समाजने पूरा खर्चाका भार उठाया था। सन् १९५१ में पौष शुद्ध सप्तमीके शुभदिन दीतवार तारीख १४-१-५१ ईसवी श्रीरामपुर (जिला अहमदनगर) में श्रीसरस्वती-भवनका उद्‌घाटन-समारम्भ पूज्य आचार्य महाराजके पवित्र हस्तसे हुआ था। उस समय स्थानीय जैन-समाजने (२५१) की आमदनीका प्रवन्ध किया था। तव आचार्य श्रीअभिनन्दनसागर ग्रन्थमाला शुरू हो गई।

मन्त्री—चतुर्भुज जवाहरलाल पाटनी।

श्रीरामपुर तारीख १४-१-१९५१।

स्याद्वादवारिधि, वादिगजकेसरी, चारित्रशीलशिरोमणि, जगद्वन्द्य श्री १०८ परमपूज्य आचार्य अभिनन्दनसागरजी महाराज (भरमप्पा सातप्पा कान्ते) की जन्म कुण्डली–

❀ श्रीगणधराय नमः ❀

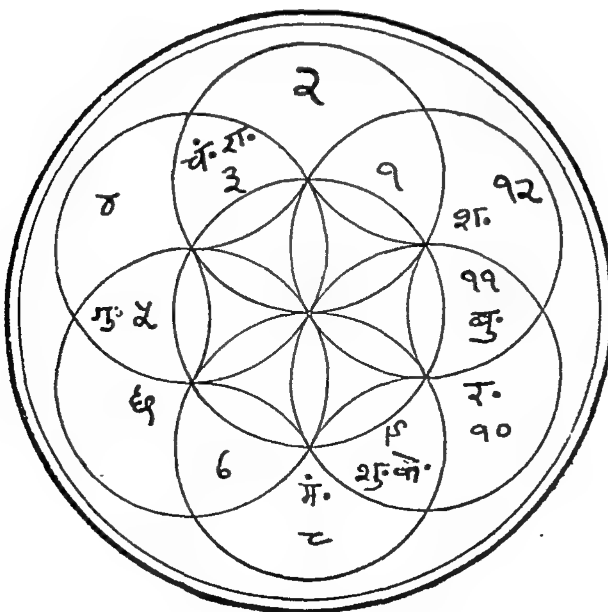
स जयति गणधरदेवो यत्पादपंकजस्मरणम्।
वासरमणिरिव तमसां राशीन्नाशयति विघ्नानाम् ॥१॥
एकदन्तो महाबुद्धिः सर्वज्ञो गणनायकः।
सर्वसिद्धिकरो देवो लक्ष्मीपुत्रो विनायकः ॥२॥
ब्रह्मा करोतु दीर्घायुर्विष्णुः कुर्याच्च सम्पदाम्।
हरो रक्षतु गात्राणि यस्यैषा जन्मपत्रिका ॥३॥
सूर्यः शौर्यमथेन्दुरुच्चपदवीं सन्मंगलं मंगलः
सद्बुद्धि च वुधो गुरुश्च गुरुतां शुक्रः सुखं शं शनिः॥
राहुर्बाहुबलं करोतु विपुलं केतुः कुलस्योन्नतिः
नित्यं प्रीतिकरा भवन्तु भवतां सर्वे प्रसन्ना ग्रहाः ॥४॥
कल्याणं कमलासनः स भगवान् विष्णुः सजिष्णुःस्वयं
प्रालेयाद्रिसुतापतिः सतनयो ज्ञानं च निर्विघ्नताम्।
चन्द्रज्ञास्फुजिदर्कभौमधिषणच्छायासुतैरन्वितम्
ज्योतिश्चक्रमिदं सदैव भवतामायुश्चिरं यच्छतु ॥५॥

स्वस्ति श्रीमन्नृपविक्रमार्कसमयातीतसंवत् (१९६५) सिद्धार्थिनामसंवत्सरे उदगयने शिशिर ऋतौ महामांगल्यप्रदमासोत्तमे माघमासे शुद्धपक्षे शुभतिथि १२ घटि ७ पल २९, मंगलवासरे आर्द्रा

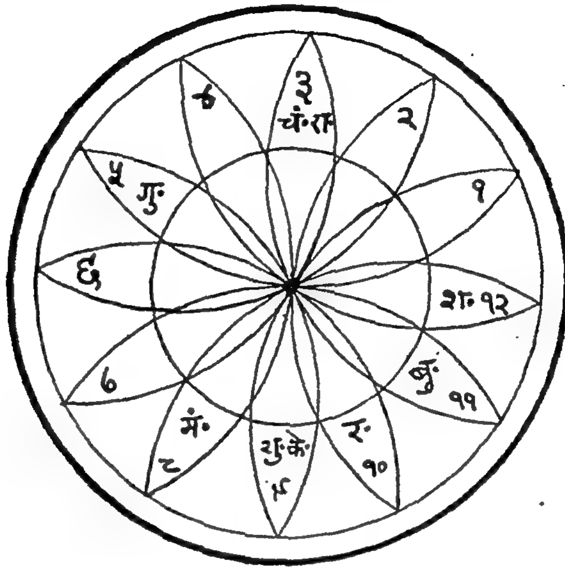
नक्षत्रे घटि ३४ पल ४१ विष्कम्भयोगे घटि ४६ पल २२ बालवकरणे मकरराशिस्थिते श्रीसूर्ये, मिथुनराशिस्थिते चन्द्रे, वृश्चिकराशिस्थिते भौमे, कुम्भराशिस्थिते बुधे, सिंहराशिस्थिते देवगुरौ, धनराशिस्थिते शुक्रे, मीनराशिस्थिते मन्दे, मिथुनराशिस्थिते राहौ, धनराशिस्थिते केतौ एवमादि पञ्चांग शुद्धाऽवत्रदिने श्रीसूर्योदयात् इष्टगत घटि १८ पल ४५ तत्समये सातप्पा पदमप्पा कान्तेगोत्रीयगृहे भार्या सौभाग्यवति वज्र-चूडेमण्डित उभयकुलानन्ददायिनी लक्ष्मीमति नाम्नि सुकुक्षे पुत्ररत्नम-जीजनत्। देवद्विजगुरुप्रसादात् दीर्घायुर्भूयात् तस्य अवकहडचक्रानु-सारेण आद्रानक्षत्रस्य द्वितीयचरणे जन्म कुलदेवतानां कुलदेवताभक्त-जन्मनाम घनश्याम अस्य व्यावहारिकनाम भरमप्पा कूर्म योनिः मनुष्यगणः आद्यनाडी वैश्यवर्णः। अथ घातादि—घातमास आषाढ, घाततिथि १,७,१२ सोमवार स्वातिनक्षत्र वस्त्रालंकारादिधारणप्रसंगे वर्जयेत श्री शुभम्। जन्म तारीख २ फैब्रुवारी १९०९।

भोग्य स्पष्ट रविः ९ धन २० अंश स्पष्टलग्न वृषभ घटि ३ पल १५

जन्म-लग्न-कुण्डली



राशि-कुण्डली



भावार्थः—वाह्याभ्यन्तरके ऐश्वर्ययुक्त श्रीगणधर भगवान्को नमोऽस्तु, भगवान् गणधरदेव जयशील होवें। जिनके चरणयुगल मेरे हृदयमें सदैव विराजित रहें तथा हमेशा मुझे याद आवें, सूर्यके समान गणधर भगवान्के ज्ञानरूपी किरण श्रोतृसमुदायके अज्ञानरूपी अन्धेराराशिको नष्ट करदेते हैं ॥ १ ॥

महाबुद्धिके धारक गणधर भगवान् सर्वज्ञके समान मुनि-समुदायके अधिपति हैं, वे गणधर हम लोगोंको भी सौख्य पैदा कर हमें शाश्वतमोक्ष सुख देवें ॥ २ ॥

ब्रह्मदेव हमें दीर्घायु करें एवं विष्णु मोक्ष-रूपी सम्पत्ति देवें तथा अर्हन्त भगवान् हमारी संरक्षा करें, इस प्रकार जिनकी यह जन्म पत्रिका लिखी जाती है ॥ ३ ॥

सूर्यके समान जिन भगवान् हमारा अज्ञानांधकार विध्वंस कर हमें केवल ज्ञानरूपी श्रेष्ठपदवी देवें। और तीर्थंकर प्रभुके समवसरणमें अतिशयके प्रभावसे जैसे एकादशग्रह वगैरह युगपत् पैदा होते हैं वैसे बुध, गुरु, शुक्र इत्यादिक हमारे सद्बुद्धिमें विघ्न नहीं पैदा करें तात्पर्य यह है कि, ये सभी एकादश ग्रह हमें सदैव प्रसन्न करें ॥ ४ ॥

और जिनेन्द्रभगवान् हमारे आत्म-कल्याण करें। एवं निर्विघ्नरीत्या केवल-ज्ञान प्राप्त करदेवें, चन्द्रके समान हमारा सम्यग्ज्ञान उत्तरोत्तर शुक्लपक्षके सदृश बढ़े। और हमारी आयु आत्म-कल्याणमें सहकारी होकर चिरकालतक "यावच्चन्द्रदिवाकरौ" अर्थात् जबतक दुनियामें सूर्य, चन्द्रमा रहें तबतक यशश्वी रहें॥ ५॥

स्वस्ति श्रीमान् राजा विक्रमके संवत् १९६५ में सिद्धार्थ नाम संवत्सरे अर्थात् सिद्धार्थनाम वर्षकी शिशिर ऋतुमें महान् सौभाग्यमय माघमासमें शुक्लपक्षकी शुभतिथि द्वादशीके दिन घड़ी ७ पल २९ के मंगलवारके दिन आद्रानक्षत्रमें घड़ी ३४ पल ४१ व विष्कम्भ योगमें घड़ी ४६ पल २२ वालवकरण, मकर-राशिस्थित सूर्य, मिथुनराशिस्थित चन्द्र, वृश्चिकराशिस्थित भौम, कुंभराशि-स्थित वुध, सिंहराशिस्थित देवगुरु, धनराशिस्थित शुक्र, मीनराशिस्थित मन्द, मिथुनराशिस्थित राहु, धनराशिस्थित केतु, एवं आदि-पंचांग शुद्ध दिनमें सूर्योदयके पश्चात् इष्टगत घड़ी १८ पल ४५ तारीख २ उस समयमें पिता सातप्पा, माता सौभाग्यवती बज्रचूड़ामणिभूषित उभयकुलानन्ददायिनी लक्ष्मी-मतिजीके सुकुक्षीसे यह पुत्र-रत्न पैदा हुआ है।

देव-गुरुके प्रसादसे दीर्घायु होवें। इनके अवकहड-चक्रानुसार आद्रा-नक्षत्रके दूसरे चरणमें जन्म। कुलदेवता तथा कुलदेवताभक्त जन्मनाम घनश्याम और इनका व्यावहारिक नाम भरमप्पा, कूर्मयोनी, मनुष्यगण, आद्यनाड़ी वैश्यवर्ण। घातमास आषाढ़, घाततिथि १,७,१२, सोमवार, स्वातिनक्षत्र, प्रहर तीसरा, घातांक ९ इनकी यात्रा तथा नूतनवस्त्रालंकारादिकोंका त्याग करना चाहिये। श्रीशुभ-जन्म-दिनमें तारीख २, फरवरी मास, सन् १९०९ है।

सामान्यफलादेश—लग्नेश धनराशिका शुक्र अष्टममें, अष्टमेश सिंहस्थगुरुका सम्वन्ध नवपंचम योगमें है। लग्नस्वामी अष्टमेशके साथ शुभयोगमें है और द्वितीयाधिपति तथा पंचमाधिपति वुध (दशमस्थ) लाभयोगमें है। होनेवाला त्रिकोण एवं लाभयोग, उत्तम बुद्धिमत्ता, पारमार्थिक सिद्धान्तज्ञान, लेखन व वक्तृत्वका परिपोषक है। धर्मपर विविध प्रकारके ग्रन्थ लिखेंगे। द्वितीयमें उच्चस्थराहु चन्द्रमाके साथ, गुरुसे लाभयोगमें तथा धर्मके सम्वन्धमें, वादविवादमें अखण्ड विजयकी अनुकूलता एवं वादविवाद करनेवाले आपको गुरु मानकर एवं पूज्य समझकर शिष्यत्व स्वीकार करेंगे। द्वितीय स्थानमें उच्चस्थराहु चन्द्रमाके साथ वाणी-संस्कारके बावतमें दिग्दर्शित फल तथा अधिकार-युक्त भाषा शैली, भाषा

स्पष्ट, बोलनेमें निर्भयपन, भाषा प्रभावशाली, दूसरोंके अन्तःकरण आकर्षित करनेकी शक्ति, एवं आकाशवाणीके समान अनुभव देनेवाली।

लाभेश व अष्टमेश गुरु केन्द्रमें, शुक्र, बुध, चन्द्र, उच्चस्थराहुके साथ शुभयोग, कतिपय शिष्यत्वाधिपत्य उमर ४२ से मिलना शुरू होगा।

नवम (धर्म) स्थानका अधिपति शनि लाभ-स्थानेश गुरुके राशिस्थान व धर्म-स्थानमें प्रखर-रवि लाभयोगमें तथा ९,१०,११ स्थानसे होनेवाला लाभयोग, उत्तम वैराग्य, शीलपन, धर्मके अमोघ तत्वज्ञान, न्यायशीलपन इत्यादि सद्बुद्धिको परिपोषक उच्चतत्वज्ञान, वैराग्यशील वृत्तिको वृद्धिगत करने वाली धैर्यता, धर्म-जागृति धर्म-प्रसार अत्यंत प्रचुर प्रमाणमें होनेका योग।

उसी प्रकार नवमस्थ मकरराशिका रवि आत्मसाक्षात्कार कर देनेवाला होगा। धर्मकार्य, उमर वर्ष ४२ से ४७ तक बहुत उच्चकोटिमें होकर उपरिनिर्दिष्ट योगभी उसी कोटिमें आवेंगे। उमर वर्ष ४९ से मध्यमायु ६८ तक आत्मानुभवमें प्रतिदिन ४ से ५ घंटोंतक एकान्त-स्थान प्राप्त होगा उस सुअवसरमें ऋद्धि-सिद्धिकी भी अनुकूलता होगी।

स्वास्थ्य-आरोग्य समाधानकारक आखिरकी आयु शान्तिप्राप्त्यर्थ समाप्त होगी। मध्यमायु उमर वर्ष ६८ से ८१ तक धर्म, परमार्थ, ज्ञानमार्ग, वैराग्य, मानवधर्म, आत्मज्ञान, स्वानुभवका साक्षात्कार, गुरुपद, अजरामर सत्कीर्ति इत्यादि तत्वोंका विचार करते-करते इस कुंडलीका दर्जा सत्पुरुषोंकी कुंडलीयोंमेंसे भी श्रेष्ठ माना जायगा।

इति शुभं भवतु।

ज्योतिषी—वासुदेव दाजी शास्त्री

ठि० प्रवरासंगम (जि० अहमदनगर)

मु० श्रीरामपुर ता० २९-१-१९५१

❀ समर्पण ❀

यह जीवन-चरित्र यथामति तैयारकर स्याद्वादवारिधि, वादिगज-केसरी, चारित्रशील-शिरोमणि, विद्वज्जनवन्द्य, तपोनिधि, परमपूज्य आचार्य श्री १०८ अभिनन्दनसागरजी महाराजके करकमलमें समर्पण करता हूं।

लेखक—
दादा तनय।

❀ लेखकके दो-शब्द ❀

अपने आत्म-कल्शाणकेलिये सद्गुरुजीकी अत्यन्त आवश्यकता है, देखिये ! रातमें अपनी आंख होते हुएभी जिस प्रकार दीपककी आवश्यकता चाहिये उसी प्रकार इस क्षणभंगुर-संसारमें सद्गुरुकी गर्ज है, सद्गुरु विना आत्मज्ञान होकर आत्म कल्याण कैसे होगा ?

आदर्शभूत-सद्गुरु-चरित्र अपने सामने चाहिये। उसके विना भक्ति कैसे होगी ? भक्ति विना मुक्ति कैसे मिलेगी ? इसी प्रकार गुरु-शिष्य-परम्पराकी संलग्नता है।

सद्गुरुका महत्व क्या है ? वह साहित्य-रूपसे दिखाया है, तदनुसार अपने ध्यानमें आयगा। इस विषयमें मुझे जितना विदित हुआ उतना सम्पादन कर अपने सामने रक्खा है, मेरी अल्पबुद्धयनुसार हीनाधिकता आई होगी तो पाठक शीघ्र ही खबर करेंगे। इसके आगामीकी आवृत्तिमें सुधारकिया जायगा। अतः मेरेसे जो अपराध हुआ उसके लिये सज्जन क्षमा करेंगे।

करकृतमपराधं क्षंतुमर्हन्तु सन्तः।

आपका विनीत—
लेखक

नानाप्रकारके अनाज प्राप्त होते हैं अर्थात् उस कोल्हापुरस्टेटमें अत्यंत शोभायमान एक नसलापुर-नामक ग्राम है।

वहां सम्यग्दर्शनसे पवित्र सम्यग्दृष्टि, श्रावकोत्तम, श्रेष्ठधर्म प्रेमी अर्थात् सकलगुण-सम्पन्न, धर्मवीर, दानवीरपदविभूषित सातप्पा नामके एक सद्गृहस्थ रहते थे। उनको धर्मचन्द्रिका, दानशीला, श्रीमती, महासती शीलशिरोमणि, अनेक सद्गुणोंसे शोभायमान् तथा जिनपूजा, सत्पात्रदान, उपवास, शील इत्यादिसे सुशोभित गृहलक्ष्मीही हैं ? इस सार्थक नामको ग्रहण करनेवाली लक्ष्मीमती नामकी भार्या थी। इन दांपत्यको "कतिपयभवप्राप्यनिर्वाणपद आसन्नभव्यरिति" इस आर्षवचनानुसार कमसेकम दो-तीन भव, अधिकसे अधिक सात-आठ भव लेकर मोक्षगामी, कुलदीपक सत्पुत्र 'भरमप्पा' नामका ईसवी सन् १६०६ में माघ-शुद्ध द्वादशी तिथिके शुभ अवसरमें प्राप्त हुए हैं। येही हमारे चरित्र-नायक हैं। अपने सौकुमार्य तथा शैशवक्रीड़ासे माता-पिताजीको अहर्निश (दिनरात) सुखदेने लगे।

वालपन सुखोपभोगमें व्यतीत हुआ उमरके पांचवर्ष व्यतीत होनेपर षष्ठम वर्षमें ईसवी सन् १६१४ तथा शकनामसंवत्सर १८३६ में उपनयन-संस्कार पूर्वक यज्ञोपवीत ग्रहण करवाकर शास्त्रोक्त-विधिके अनुसार विद्याध्ययनार्थ विद्यालयमें पदार्पण करवाया गया। शैशवावस्थासे ही माता-पिताजीके उत्तम संस्कारसे हमारे चरित्रनायक जिनमन्दिरमें जाकर भगवान्के दर्शन करते थे अतएव वाल्यसंस्कारसेही इनका लक्ष धर्ममें लगगया।

चार वर्षमें अर्थात् उमरके दसवें सालमें मराठी चौथी क्लासकी परीक्षामें उत्तीर्ण होगये। ई० सन् १६१८ सालमें अध्ययन छोड़कर उमरके वाईस-वर्षोंतक इन्होंने व्यापार धंदा किया। पश्चात् उमरके २२ वर्षमें सन् १६३० वें सालमें वर्षायोग-निमित्त श्री १०८ मल्लिसागरजी मुनि महाराज नसलापुर पधारे थे। तव चातुर्मास पूराहोनेतक उनके सानिध्यमें रहकर सेवा की। पश्चात् सत्संगतसे इनका वैराग्यभाव उत्तरोत्तर वढ़ने लगा। वाल्यावस्थासे ही धर्ममें अतिशय रुचि थी, फिर सत्संगतसे पूछना ही क्या ? दूधमें शक्करके समान धर्ममें रुचि, पूर्ण श्रद्धा होगई, तव इस क्षण-भंगुर निःसारमय संसारसे विरक्त होकर, "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" अर्थात् ज्ञानविना आत्महित नहीं होसकता है। इस प्रकार विचार करते हुए संस्कृत विद्याव्ययन करनेका दृढ़ निश्चय किया। एक दिन अपने मल्लेमें सुवह पांच वजे मांगल्यमय समयमें एकाग्रतासे

बारानुप्रेक्षाका चिंतवन करते ध्यानस्थ थे, उस अवसरमें एक घंटातक चूहोंका घोर उपसर्ग हुआ था तथापि इन्होंने बहुत शान्तिसे सहन किया, दोनों पैरोंकी समस्त उंगलियां कटकर खूनकी धाराएं बहने लगीं, तब माता-पिताजीने औषधोपचार एक मासतक किया, तत्पश्चात् पूर्ववत् उंगलियां होनेसे पूराजखम ठीक होगया। जैसा निश्चय था वैसाही शेडबाल नामक ग्रामके विद्यालयमें प्रवेशकर संस्कृत अध्ययन शुरू किया।

उस विद्यालयमें दोवर्ष जैनधर्म, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, द्रव्यसंग्रह, तत्वार्थ (मोक्षशास्त्र) संस्कृत-प्रथम-पुस्तक, इत्यादिका अभ्यास किया। तदनन्तर तीन वर्ष कोल्हापुरमें संस्कृत-द्वितीय-पुस्तक, हितोपदेश, क्षत्र-चूड़ामणि वगैरह अभ्यासक्रम पूरा किया। तदनन्तर कारञ्जा-ब्रह्मचर्याश्रममें वास्तव्यकर दो वर्षोंमें न्यायप्रथमा, न्यायमध्यमा, सागारधर्मामृत, चन्द्रप्रभकाव्य, जीवकाण्ड गोम्मटसार, इन ग्रन्थोंका अध्ययन किया। पश्चात् सोलापुरमें एकवर्षभर सर्वार्थ-सिद्धि वगैरह कोर्स पूर्ण कर, वहांसे मोरेना गये। उस विद्यालयमें सर्वार्थसिद्धि, चन्द्रप्रभसाहित्य, शाकटायन-व्याकरण आदि ग्रन्थोंकी पूर्ति की। वहांसे बनारस गये, वहां स्याद्वाद-महाविद्यालयमें तीन सालतक रहकर शास्त्रीय-परीक्षा दी। तथा शास्त्रीयके तीनों खण्डोंके साथ न्याय-तीर्थ परीक्षा देकर उसमें उत्तीर्ण होगये। इस प्रकार बारा वर्षोंतक अर्थात् एक तप पूरा अध्ययनमें व्यतीतकर अनादि-कालसे पिशाचके समान लगे हुए जन्म, जरा, मरण, इनका नाशकरनेकेलिये सद्विद्यारूपी ज्ञान-लक्ष्मी पैदा की।

बुद्धिमान् महेंद्रादि विद्वच्छ्रेष्ठ पण्डितोंके सानिध्यमें इनका काल व्यतीत हुआ। स्याद्वादमहाविद्यालयका कोर्स पूरा करके सन् ईसवी १९४३ में कलकत्ता ऐसोशयेसिन युनिवर्सिटी केन्द्रीय अन्तर्गत इंदौर सेंटरमें न्यायतीर्थ परीक्षा उत्तीर्ण-की। इस प्रकार सकलशास्त्रनिष्णात होकर हमारे चरित्र-नायक इच्छित-मार्ग स्वीकार करना आवश्यक समझकर पुनः स्वनगर अर्थात् नसलापुरमें आगये।

इस प्रकार विद्याध्ययनमें पारंगत होकर अपना पुत्र-रत्न वापस घर आनेसे प्रेमी माता-पिताजीको सन्तोष होना वास्तविकहीथा कोई भी कार्यमें एक तप व्यतीत हुए विना उस कार्यकी पूर्ति नहीं होसकती। इनका सम्यग्ज्ञानपूर्वक वैराग्य प्रतिदिन बढनेलगा, ऐसी हालतमें जनक-जननीका ऐसा विचार हुआ कि— भो पुत्र! अब तुम एक सच्छील कन्याके साथ विवाहकर हमारी सद्भावना पूरी करो? उस समय हमारे चरित्र-नायकने जवाब दिया कि, भो माता-पिताजी! अनादि अनिधन ऐसे अनन्त संसारके कारणीभूत विवाहका क्या प्रयोजन?

इस क्षणभंगुर नाशवंत संसारका परिमर्दन करनेकेलिये शाश्वत-सुख दायिनी मोक्ष-लक्ष्मीके साथ विवाह करूंगा, नान्यथा। ऐसी मेरी सद्भावना है इस प्रकार कहते हुए माता-पिताजीका समाधान कर अपने स्वस्थान नसलापुरसे इच्छितस्थानप्रति गमन करते कोल्हापुर प्रान्त गर्भित उदगांव (कुञ्जवन) में समाधिस्थ समाधिसम्राट् आचार्य १०८ आदिसागरजी महाराजके सानिध्यमें आगये।

कई दिनोंके वाद आदिसागरजी आचार्यमहाराजने अत्यन्त शान्ततासे धर्म-प्रभावनापूर्वक समाधि-मरण प्राप्तकिया। यह महोत्सव वहुत प्रभावशाली हुआ था। सल्लेखना गृहण करते समय धर्म-प्रेमी गृहस्थोंने सर्वत्र सल्लेखनाकी खवर करवायी थी। प्रतिदिन पञ्चामृत अभिषेक, पूजा,शान्तिमन्त्र वगैरह दिनचर्या शुरूकी थी, तव वहुत दूर-दूरके लोग अपने-अपने परिवार सहित आगये अर्थात् उस समय एक भारी प्रमाणमें मेला होगया था।

चतु:संघ अर्थात् मुनि, यति, ऋषि, अनगार एवं मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकाएँ इनका समूह जमगया था। प्रतिदिन धर्मोपदेश, जप-जाप्य समाधिका महत्व वगैरह विषयोंकी तत्व-चर्चा होतीथी, इस समारोहका कथन प्रचुर है, अत: संक्षेपसे प्रतिपादन कर अव मैं मेरे विषयका कथन करूंगा। महाराजजीके पुण्य-प्रभावसे दिग्देशस्थ समस्त जैनलोगोंका अपूर्वही मेला भरगया। रोज भजन, पूजन, सदुपदेश होतेथे, १२ दिन १२ घंटोंके समान चलेगये तथा पूज्य-महाराजका शरीर कृष होने लगा, किन्तु आत्मवल उत्तरोत्तर वृद्धिगत होता हुआ समग्र वारह दिनोंतक चतुर-आहारका त्यागकिया उसी दिन दो-वजे रातमें महाराजजी इहलोक-यात्रा पूरीकर परलोकके लिये गमन करगये अर्थात् वहुत शान्तिसे समाधि होगई। तथा दहन-संस्कार-क्रिया आर्षोक्त यथास्थित होगयी।

पूज्य इन समाधिस्थ महाराजजीके परमशिष्य आचार्य श्री १०८ महावीरकीर्तिजी महाराजसे फाल्गुन शुद्ध द्वादशी तिथि, शक नाम १८६५, ई० सन् १९४३ में हमारे चरित्रनायक अर्थात् अभिनन्दनसागरजीने क्षुल्लक दीक्षाली थी। दो-मासके पश्चात् वैशाखकृष्णा ५ पंचमी, शक १८६६, ई० सन् १९४४ में सांगलीनगरमें आचार्य श्री १०८ महावीरकीर्तिजी महाराजसे दिगम्वर-दीक्षा ग्रहणकी थी उस समय इनका नाम श्री अभिनन्दनसागर ऐसा रक्खा गया था। श्री अभिनन्दनसागरजी उद्भटमहाविद्वान् वाल-ब्रह्मचारी हैं।

इस प्रकार विहार करते-करते प्रथम चातुर्मास वेलगांव-जिलान्तर्गत

गलतगा नामक ग्राममें किया था। श्री अभिनन्दनसागरजी महाराज सुशान्त-स्वभावी तथा वाक्पटुता, व्यवहार, चातुर्य इत्यादि अनेक गुणोंसे सुशोभित हैं। (अवाग्वपुषा) न कहते हुएभी अपनी शान्त-मुद्रासे मोक्षमार्गका स्वरूपही प्रतिपादन कररहे हैं ? ऐसा आभास होता है तथा रत्नत्रय-सम्पन्न होकर इस भवरोगसे मुक्त होनेके लिये प्रतिदिन धर्मोपदेश देने लगे। श्रवणकर स्थानीय जनता मन्त्र-मुग्ध होती थी। जैन समाजपर उपदेशका असर होने लगा, तथा भाक्तिक लोगोंको क्षणिक वैराग्यभी पैदा होने लगा। इस प्रकार प्रथम चातुर्मास आनन्दपूर्वक व्यतीत हुआ।

फिर अनेक स्थानोंमें विहार करने लगे, शक १८६७, ई० सन् १९४५ में वर्षायोग बोरगांव नामक ग्राममें हुआ वहांभी समग्र चारमास आनन्दसे प्रतिदिन धर्मोपदेश, स्वानुभव, तत्व-विवेचनपूर्वक चातुर्मास समाप्त हुआ। उस स्थानीय समाजने श्री आचार्य अभिनन्दनसागरग्रन्थमाला शुरू की है, वह ग्रन्थ अद्यापि विराजमान है अनेक लोग स्वाध्याय, पठन, पाठनकर आत्मकल्याण कररहे हैं।

पश्चात् शक १८६८, ई० सन् १९४६ में चौमासा सिदनाल ग्राममें हुआ वहांभी प्रभावशाली उपदेश देनेलगे वहांके स्थानीय समाजनेभी श्री सरस्वती-भवन स्थापित किया तथा समग्र भवनका प्रबन्ध करके आचार्य श्री अभि-नन्दनसागरग्रन्थमाला शुरू की। उस समय 'कवलचान्द्रायणव्रतकथादिसंग्रह' ग्रन्थ महाराष्ट्र-भाषामें प्रकाशित हुआ है। वहांभी लोगोंके ऊपर उपदेशका बहुत असर होकर बड़ी धर्मप्रभावना हुई।

चातुर्मासके पश्चात् विहार करते-करते श्रवण बेलगोल अर्थात् जैनबिद्रीमें भगवान् बाहुबली स्वामीके दर्शनार्थ गये वहांभी प्रतिदिन धर्मोपदेश होता था। श्रवणार्थ हजारों लोग उपस्थित होते थे, उपदेशामृतका पानकर लोग मन्त्र-मुग्ध होनेलगे। उस समय जिनदत्त शास्त्रीजी दर्शनार्थ आयेथे, वह अतिशय क्षेत्र श्रमण बेलगोल मेरे श्वसुरका जन्मस्थान है। वहां प्रतिवर्ष भगवान् नेमिनाथप्रभुका चैत्रमासमें पंचकल्याण होता रहता है। इससे उस क्षेत्रको अतिशय शोभा प्राप्त हुई है। तत्समय भगवान् बाहुबली स्वामीके चरण-कमलकी पूजाभी होती हैं। इस प्रकार वहांसे विहार करते हासननामक जिला शहरमें आगये वहांभी एक मासतक रहकर धर्मोपदेश दिया। वहांकी जनतानेभी प्रोत्साहित होकर असीमगुरुसेवा की। और वहांसे विहार होकर लोगोंने वेणूर, कारकल, धर्मस्थल,

मूडबिद्री वगैरह धर्मतीर्थ अतिशय स्थानोंकी यात्रा करवाते धारवाड़-जिलान्तर्गत लक्ष्मेश्वर तथा हलीपुर ग्रामतक सानन्द आवागमन करवाया था।

दुनियामें समस्त जन अपने नैसर्गीय स्वभाव छोडकर विभाव परिणाममें परिवर्तनकर संकल्प तथा विकल्परूपी लहरोंसे संसार-समुद्रमें डूबने लगे हैं तथा शारीरिक-मानसिक इन उभय दुःखोंसे संतप्त हैं। ऐसी हालतमें सम्यग्ज्ञान सम्पादनकर दान, पूजा, शील तथा उपवासादिकोंसे धर्म, ध्यानमें समय व्यतीतकर, व्रताचरण करके अन्तरात्मा द्वारा शुद्धात्माका स्वानुभव करनेसे इनका आत्मोद्धार होसकता है। इस आशयका उपदेश देकर समस्त जैन-समाजको अपनी प्रतिभा बुद्धिसे शान्तवन किया।

मुझे ऐसा दृष्टिगोचर होता है, कि पूज्य आचार्य श्री अभिनन्दनसागरजी महाराजका उपक्रम स्तुत्यही दीखता है। क्योंकि, विचार करने लायक है कि समस्त प्राणियोंमें यह मानव प्राणि श्रेष्ठ है और इसी मानव-देहसे सम्पूर्ण कर्म नष्टकर मोक्ष जासकते हैं। अतएव यह सामर्थ्य नरदेहव्यतिरिक्त अन्य देहमें नहीं है। यह संसारी जीव मिथ्यात्व, कषाय वगैरह विजातीय परपदार्थोंके संसर्गसे दुःखी होने लगे हैं। रागद्वेषादिमल जीवोंके न होकर पर पदार्थोंसे पैदा हुए हैं। जिस प्रकार कीचड़ पानीको मलिनकर देता है, उसी प्रकार यह रागद्वेश आत्माको मलिनकर देता है। इसलिये इस मलिनताका नाश करनेके लिये द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इनका पर्याप्त विचार करना चाहिये तथा भेद-विज्ञान प्राप्तकर इसके द्वारा आत्मदर्शन होजाय ऐसा मोक्ष-पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिये।

तब यह अन्तरात्मा परमात्मा अर्हन्त बनसकता है। अरहन्त होनेके उपरान्त अघाति कर्मसमुदायको भी नष्टकर अरहन्त भगवान् मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त करते हैं।

इस पंचेन्द्रियकी इच्छा परिपूर्ण करनेके लिये हम बहुत पुण्यांश खर्च कररहे हैं। किन्तु इससे भेदविज्ञान पैदा नहीं हो सकता है, हमें भेदविज्ञान शक्तिकी आवश्यकता है, उससेही हमारा विभाव-परिणाम दूर होसकता है। और अनादिसे ढकाहुआ आत्मस्वातन्त्र्य पैदा होसकता है, इसीसे हमारा मोक्षमार्ग अक्षुण्ण रहेगा नान्यथा।

इस नश्वर दुनियामें किसी प्राणीको भी सुख नहीं, अपने पुण्य तथा पाप कर्मही हमें सुख कारक तथा दुःख कारक हैं। हम रागद्वेषकी वजहसे परप्राणियों-

पर कपायभाव करते हैं, यह हमारा अज्ञान है अनादिकालके कर्म-संयोगसे यह जीव परद्रव्य तथा परभावपर मिथ्या-श्रद्धा करता है। जबतक वीतरागी परमशुद्धात्मापर श्रद्धा नहीं बैठती, तबतक हमारा तमाम कर्तव्य मिथ्या माना जाता है। शुद्धात्मभावना, स्वानुभूति पर सच्चा प्रेम पैदा होना चाहिये। स्वानुभवका निजानन्द होने लगा, तो हमारे भावमें कर्मजन्य रागद्वेष, मोह, मिथ्या-भाव नहीं होसकते हैं। इन समस्तकी सिद्धि करनेके लिये सद्भावना रखना अत्यन्त जरूरी है।

अभेदरत्नत्रय रूपसे सम्यग्दृष्टि जीव निर्विकल्प समाधिके बलसे निश्चय-रत्नत्रयाराधक बनकर शुद्ध परमात्माकी अनुभूतिकर स्वानुभवमें लवलीन होजाता है। दुनियामें मेरा कोई नहीं और मैं भी किसीका नहीं हूँ, मैं किसीका कुछभी करता नहीं और मुझे कोईभी प्राणी कुछ नहीं कर सकता है। इसलिये परस्पर अर्थात् आपसमें जो उपकार-अपकार होते हैं वे सब व्यवहार-नयानुसार होते हैं। पुद्गलोंके साथ जैसा-जैसा सम्बन्ध भिन्न-भिन्न पुद्गलोंका होता रहेगा वैसा-वैसा रागद्वेष, मोह, भाव, उत्तरोत्तर बढ़ताही रहेगा। इस विषयमें कोई किसीका रत्तीभर भी बिगाड़ नहीं सकता, इसीप्रकार चिन्तवन करनेसे हर्ष, विषाद, चिन्ता, भय इत्यादि मिथ्या परपरिणतिको आस्पद नहीं देने से स्वतन्त्र, सहजानन्द, स्वानुभवमें मग्न होकर त्याग, संयम तथा वैराग्य भावना वृद्धिगत करनेसे ही आत्म-कल्याण हो सकता है। यह बात समस्त लोगोंकेद्वारा स्वीकार कीजायगी तो सच्चा सुख साम्राज्य ह्मने स्वात्मानुभव ही है। इसलिये अत्यन्त सावधानीसे अपना कर्तव्य समझकर, मुनि या श्रावकको अपना आत्म-कल्याण करना श्रेयस्कर है।

पर-पदार्थ पर-मोह अर्थात् जड-पुद्गलादि वस्तुओंमेंसे प्रेम नष्ट होनेसे जैसे सूर्य पर बद्दलोंका आवरण था वह दूर होनेसे युगपत् प्रताप तथा प्रकाश पैदाहोते हैं। वैसे आत्माके ज्ञानावरणादि आवरण विध्वस्त होनेसे आत्मरूपी सूर्य निरावरण होकर देखनेवाले भव्योंको दीखेगा। जिस प्रकार निर्मल जलमें अपना मुख स्पष्ट दीखताहै, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानके प्रभावसे निर्मल शुद्ध स्फटिक-मय अपना आत्मज्ञान अर्थात् अन्तरात्म-स्वभावसे परमात्म-स्वभावका प्रतिभास हरसमय होता है। आत्मानुभवी निकट-भव्यको स्वानुभव-साक्षात्कार समय-समयमें असंख्यात गुणश्रेणि-कर्म निर्जरा रूप प्रतीत होने लगजाता है। यह दिव्य अनन्त शक्ति प्रत्येक संसारी प्राणिमात्रमें शक्ति रूपसे सत्तामें विद्यमान है। जब सद्गुरुका

उपदेश मिलेगा तब सुनकर काललब्ध्यादि पाकर, करणलब्धिके अनुसार अध:करण, अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरणत्रयको स्वीकारकर ध्यानावस्थामें षष्ठमसे सप्तममें अर्थात् प्रमत्तगुणस्थानसे सातिशय अप्रमत्तगुणस्थानमें प्रवेशकर वहां अन्तर्मुहूर्ततक निर्विकार, निर्विकल्प, सहजानन्दस्वरूपका अवलोकन करेगा, तो अनादिकालसे संसारी-प्राणी शक्ति रूपसे अनन्तचतुष्टयस्वरूपीय दैगम्बरीय जिन दीक्षा लेकर उसको अभीतक मोक्ष-पुरुपार्थसे व्यक्त नहीं किया था अब व्यक्त किया। "संसारिणो मुक्ताश्च" ऐसा सूत्र है अर्थात् पंचपरिवर्तन चतुर्गतिमय संसारमें जबतक जन्म, जरा, मरण करते रहेंगे तब तक संसारी संज्ञासे सहित रहेंगे। जब मुक्त होजावेंगे तब संसारसे छूटेंगे।

हे भव्य! तू किसी भी प्राणिमात्रकी हिंसा मतकर, क्योंकि जीवकी हिंसा करने प्रति परमेश्वरकी हिंसाही होगी, प्रत्येक जीवमें परमेश्वर-परमात्मा शक्तिरूपसे वास करता है इसलिये 'हिंसा सर्वत्र गर्हिता' 'अहिंसा सर्वत्र प्रशंसिता' अर्थात् हिंसा समस्त भारतवर्षके, कोने-कोनेमें निन्दास्पद होनेसे निन्दनीय है। किन्तु अहिंसा सब जगहमें स्तुत्य होनेसे हरेक भव्य जीवको ग्रहण करने योग्य है। दृष्टान्त– वैरभावसे किसी भी निर्बल प्राणिका वध करनेसे वही निर्बल जीव जन्म-जन्मान्तरसे अर्जित अशुभ-कर्मके उदयसे निदानादि बन्ध बाँधकर 'शठं प्रति शाठ्यम्' इस कहावतके अनुसार अपनेको जानसे मारा हुआ जीवका बदलालेगा ही। अत: दुनियाका यह यथार्थ न्याय है कि हिंसक जीवको अपने किये हुए अशुभ कर्मोंके फल भोगना ही जरूरी है। हमेशा उसको रोग, संकट, दरिद्रता, अपघात वगैरह नाना प्रकारसे कृत-कर्मोंके फल मिलतेही हैं। यह बात प्रत्येक प्राणिको ग्रहण करनीही चाहिये अन्यथा इसका आत्म-हित स्वप्नमें भी नहीं होसकता है, इसलिये अहिंसाधर्म स्वीकारकर अपना आत्म-कल्याण कीजिये तब नर-भव सार्थक होगा।

मूड़बिद्रीमें हमारे चरित्रनायकका शुभागमन वहाँ सिद्धान्त संज्ञा प्रसिद्ध जिनमंदिरमें सार्वजनिक प्रभावशाली प्रवचन हुआ तथा वहाँ के सिद्धान्त ताड़पत्रीयग्रन्थोंका एवं रत्नादिक प्रतिमाओंका दर्शन हुआ। विशेपरीतिसे प्रति-रोज प्रवचन होकर अपूर्व धर्म प्रभावना हुई, उस मूड़बिद्रीको आधुनिक लोग 'काशी' नामसे पुकारते हैं।

वहाँ से विहारकर हुमचमें पदार्पण हुआ यहभी एक अतिशयक्षेत्र है। यहाँ जिन-शासन देवता पद्मावती नामकी देवी प्रसिद्ध है, विशेप वर्णन

जिनदत्तराय चरित्रमेंसे देखलेवें। वहींपर ज्येष्ठ श्रुत पंचमीका योग आनेसे षट्खण्डागमगर्भित धवलादिग्रन्थोंकी पूजा कीगई तथा श्रुतपंचमी विषयपर सारगर्भित प्रभावशाली प्रवचन हुआ।

तत्पश्चात्–विहार करते-करते गुडगेरी तालुकान्तर्गत (जिला धारवाड़) हर्लापुरमें शुभागमन हुआ, शक १८६९, ई० सन् १९४७ का वर्षायोग वहीं हुआ वहांसे चार माइलपर लक्ष्मेश्वर ग्राम है। चातुर्मासमें आनेजानेका चार मीलका अन्तर रक्खागया था, उससे दोनों नगरोंमें बराबर धर्मोपदेशका लाभ होता था, वहांके अनेक लोगोंने व्रती बनकर आत्मकल्याण किया। लक्ष्मेश्वरमें अनेक प्राचीन मन्दिर हैं तथा सहस्र बिम्बादिक प्रतिमा मनोहर हैं। वर्षायोगमें धर्मप्रभावनार्थ आने-जानेका रास्ता खुला हुआ था, अतः समग्र चार मासतक समस्त जैनसमाजको अत्यधिक लाभ हुआ। वहां अर्थात् लक्ष्मेश्वरमें श्रीकवल-चान्द्रायणव्रतकथादि संग्रह नामक शास्त्रका अनावरण समारम्भ करवाया गया, वहांके भाक्तिक श्रावकोंने उत्साहपूर्वक शास्त्र श्रवण, धर्मोपदेश, पठन, पाठन अध्ययनादिकर शास्त्रज्ञान पैदा किया। इस प्रकार धर्मप्रभावना करते मैसूरस्टेटअंतर्गत दावणगिरी शहरमें आगये वहां एक मासतक वास्तव्य था। उसी नगरीमें आदप्पावेले समडोलीवालेको समस्त जैनसमाजसम्मिलित आर्षोक्त क्षुल्लक दीक्षा दीगयी अर्थात् आचार्य महाराजके द्वाराही दीक्षा, शिक्षादि कार्य कियेजाते हैं ऐसा शास्त्राधार है। इस आर्षानुसार परमपूज्य आचार्य श्री १०८ अभिनन्दनसागरजी महाराजने वहुत जन समुदायके समक्ष दीक्षाका स्वरूप यथार्थ समझाकर प्रातःकाल आठसे नवतक मांगल्यमय समयमें दीक्षा दी, तथा समाज संघटनका महत्व दिग्दर्शित करके प्रचुरधर्म प्रभावना की।

वहांसे विहारकर तुमकुरग्राम चलेगये, वहांपरभी एक मासतक निवासकर प्रतिदिन अनेक विषयोंपर भिन्न-भिन्न भाषण होते थे, श्रवणकर ग्रामजनता मन्त्र-मुग्ध होती थी, एवं अणुव्रत वगैरह लेकर अपना आत्मकल्याण करनेके लिये सद्भावनापूर्वक साधुसंघ सेवा उत्सुकतासे करती थी। इस प्रकार अपूर्व धर्मप्रभावना होगयी। फिर वहांसे श्रवणवेलगोलकी तरफ विहार हुआ अर्थात् दो दफे श्रवणवेलगोल गये पुनर्दर्शनकर वहांसे शिवमोग्गा मार्गसे विहारकर वर्षायोग निमित्त गोकाक शहर आगये। शक १८७०, ई० सन् १९४८ सालमें चातुर्मास वेलगांवजिलान्तर्गत गोकाकशहरमें हुआ काफी जैनसमाज विराज-मान होनेसे चारमास पूरा होनेतक एक उपवास तथा आहार इस प्रकार ६४ उपवास इतनेही आहार हुए, शहरसे करीब आधामाइलपर एक प्राचीन गुफाथी

उस गुफामें इनका एकाग्रतासे स्वानुभव हुआ प्रतिदिन ध्यानका प्रभाव वढताही रहता था, इसी प्रकार चातुर्मासमें 'न भूतो न भविष्यति' इस कहावतके अनुसार संवरपूर्वक असंख्यातगुण कर्म निर्जरा होती थी, यह विषय आत्मध्यान करने वालेही अपने स्वसंवेदन (भेदविज्ञान) से जानसकते हैं। चातुर्मास आनन्दपूर्वक समाप्तकर तीर्थयात्रानिमित्त श्री कुंथलगिरि सिद्धक्षेत्रमें आगये, समस्त प्रतिमाओंके दर्शनकर अत्यंत संतोषित होगये तथा प्रभावशाली प्रवचनसे स्थानीय लोगोंको आनन्दित किया, तथा अन्तिम समय देशभूषण व कुलभूषण उभयकेवलीयोंकी प्रतिमा दर्शनकर वार्शी (सोलापुर) में आगये। उस समय गुरु आचार्य श्री महावीर कीर्तिजी ससंघ थे, एकदिन शुभमुहूर्तपर श्री १०८ अभिनन्दनसागरजी महाराजको यथायोग्य समझकर "आचार्यपद" उन्होंने आर्षोक्त अपने शिष्यको समर्पण किया। सुकुमारचरित्रपंचमसर्गमें कहा है कि सुधर्माचार्यजीको इस प्रकार विदित हुआकि सूर्यमित्र-मुनिको अवधिज्ञान प्राप्त हुआ है, अतः वे मुनि समस्त मुनिगणके अग्रगण्य तथा संघभार सम्हालनेमें समर्थ हैं ऐसे समझकर सुधर्माचार्यने सूर्यमित्रमुनिको आचार्यपद दिया। एवं समस्त संघभार उनको देकर, स्वयमेव मोक्षप्राप्त्यर्थ एकविहारी होगये। शास्त्राधार निम्नप्रकार—

तथाविधं तमालोक्य सूर्यमित्रगणाग्रिमम्।
संघभारक्षमं ज्ञात्वा विधिना संघसाक्षिकम्॥ ११॥

संघाटकं समर्प्यास्मै दत्वा सूरिपदं महत्।
गुरुरेकविहारी स जातो निर्वाणसिद्धये॥ १२॥

आगमानुसार हमारे चरित्रनायक अर्थात् श्री १०८ अभिनन्दनसागरजी महाराजकी योग्यता अवलोकनकर गुरुवर्य आचार्य श्री महावीरकीर्तिजीने ई० सन् १९४९ सालमें आचार्यपद समर्पण किया है। उस समय अपूर्व धर्मप्रभावना हुई तथा वहुजन समुदाय उपस्थित था। स्थानीय ब्रह्मचर्याश्रमका निरीक्षणकर समाधान प्रकट करके विहारकर वार्शी आगये। ई० सन् १९४९ सालका वर्षायोग वार्शीमें हुआ स्थानीय जैनसमाजने चातुर्मासका प्रवन्ध वहुत अच्छा किया था तथा चौमासा पूरा होनेतक अपूर्व धर्म प्रभावना हुई, प्रतिदिन अनेक विषयोंपर अलग-अलग रीतिसे प्रवचन होते थे। दुपहरमें तत्वविवेचन इत्यादिसे अत्यन्त आनन्द रहा।

तदनन्तर हमारे चरित्रनायक पूज्य आचार्य श्री अभिनन्दनसागरजी महाराजका अतिशयक्षेत्र दहिगांवमें शुभागमन हुआ, जिनप्रतिमाका दर्शनकर दुपहरके सामायिकके पश्चात् केतकीनिमगांवमें आगमन हुआ। वहां २०-२५ दिनतक धर्मोपदेश, तत्वविवेचन होता था, जैनसमाज काफी संख्यामें उपस्थित होकर धर्मश्रवण करती थी। इस प्रकार अपूर्वधर्मजागृति हुई।

निमगांवसे शुभावसरपर अकलूजमें प्रवेश हुआ। दो मासतक शास्त्र प्रवचन हुआ, प्रतिदिन श्रोतासमुदाय बहुत संख्यामें आकर प्रवचन सुनता था। उसी समय उत्कृष्टकेशलोचभी दो मासके अन्तिममें हुआ था। स्थानीय लोगोंने धर्मलाभ उठाया।

पश्चात् म्हसवड़ ग्राममें शुभागमन हुआ समग्र एक मासतक भाषण होता था। उससे लोगोंने अपूर्व पुण्यलाभ प्राप्त किया। फलटन शुभागमन हुआ वहांके जिनमन्दिर अतीव सुन्दर, भव्य, मनोहर, दर्शनीय हैं, लोग धर्म-प्रेमी तथा भाक्तिक हैं। एक मासतक सुवह प्रवचन, दुपहरमें तत्वविवेचन होता था स्थानीय समाजने अहर्निश संघसेवा-शुश्रूषाकर पुण्यबंध किया तथा उपदेशामृतका पानकर आत्मोन्नति की।

तदनन्तर विहारकर बारामतीमें शुभागमन किया, वहां धर्मप्रेमी रामचन्द्रजी मलुकचन्दजी मेथा इनके वगीचेमें निवास था, शहरसे एक माइल दूरीपर होनेसे लोग उपदेशामृतका पान करनेकेलिये आमसंख्यामें आने लगे एवं आहारदान, गुरुसेवा, गुरुभक्तिकर शुभकर्मका लोगोंने सातिशयबन्धकर-लिया। धर्मप्रभावना करते बारामतीसे विहारकर पणदरेमें आगमन किया, शक १८७२, ई० सन् १९५० सालका चातुर्मास पणदरेमें धारणकर प्रतिदिन धर्मोपदेशसे लोगोंकी उन्नति की तथा अपूर्व धर्मप्रभावना करते-करते सर्वत्र दिग्देशोंमें 'वीरशासन' का प्रचार भारतवर्षके कोने-कोनेमें करनेके लिये विहार करने लगे।

इनका विहार जहां-जहां होता है, वहां-वहां प्रभावशाली धर्मोपदेश तथा धार्मिक कार्य-प्रणाली वहुत जोरदार रीतिसे होती है। अतः इनकी गम्भीर, मधुर-वाणीका प्रभाव लोगोंके दिलमें एक प्रकारका चमत्कार पैदा करता है। सुख यह विषय आवालवृद्धोंको चाहिये, इसलिये सुख पैदा करनेका अमोघ उपाय धर्म ही है। उसका धारण हरेक प्राणीको करना आवश्यक होगा। "धर्माद्विना कथं सुखम्" अर्थात् धर्मके बिना सुख कहां? इस कथनानुसार सुखका जो साधन

धर्म है, उस तरफ लोगोंकी दृष्टि ही नहीं है और धर्मके अलावा प्रचुर-प्रयत्न करते हैं वे सब आकाशपुष्पके समान या खरशृंगके समान अथवा वंध्या-पुत्रके समान हैं। इससे क्या प्रयोजन ? इसलिये धर्ममार्गावलम्बनकर शीघ्र संसारी प्राणिमात्र सुखी होजावें ऐसा उपदेश है तथा धर्ममें प्रत्येक जीव स्वातन्त्र्य पाकर आत्मानुभव करता है और पंचेन्द्रिय-सुख हेय तथा छोडने लायक है, अतीन्द्रिय-सुख उपादेय एवं ग्रहण करने योग्य है इस प्रकार समय-समयमें प्रत्येक आसन्नभव्य, सम्यग्दृष्टिजीव सांसारिक सुख यह नाशवंत है और अन्तमें प्राणियोंको दुःख देता है। और अतीन्द्रिय आत्मिक सुख यह शाश्वत है प्राणी मात्र को सुख देता है अतएव सम्यग्दृष्टिमानव लौकिक सुख त्याज्य मानकर पारमार्थिक सुखानुभवमें अपना अमूल्य समयका सदुपयोग करता है।

उक्तञ्च—'सम्यग्दृष्टिः कालं गमयति ज्ञान वैराग्यभावेन। इति

अर्थात् सम्यग्दृष्टिका काल व्यतीत होता है ज्ञान=हेय क्या चीज है ? इसका अनुभवकर तुरन्त त्याग करता है और उपादेय= क्या चीजहै ? इसका स्वरूप समझकर ग्रहण करता है इसलिये इनका समय ज्ञान तथा वैराग्य वृत्तिसे व्यतीत होता है यही आत्म-कल्याणका मार्ग है।

स्याद्वादवारिधि, वादिगजकेसरी, चारित्रशीलशिरोमणि, प्रातः स्मरणीय, तपोनिधि, विश्ववन्द्य, परमपूज्य आचार्य श्री १०८ अभिनन्दनसागरजी महाराजका जीवन चरित्र संस्कृतमें क्षुल्लिका राजमति विरचित—

शुभे कोल्हापुरे प्रान्ते महाराष्ट्राख्यमण्डले।
धनधान्यादिसम्पन्नं राजते नसलापुरम् ॥१॥

भावार्थः—पवित्र ऐसे कोल्हापुर प्रान्तान्तर्गत समस्त ऐश्वर्यसम्पन्न तथा अनेक प्रकारके धनधान्यादि और विपुल (पर्याप्त) सम्पत्तिसे शोभायमान ऐसा नसलापुर नगर है।

सातप्पाख्यो वणिग्वर्यस्तत्राभूद्धार्मिकाग्रणीः।
सम्यग्दर्शनपूतात्मा श्रावकाणां गुणोत्तमः ॥२॥

अर्थात्—सम्यग्दर्शन भूपित समस्त श्रावकोंमें श्रेष्ठ धर्मवीर, दानवीर पदसे अलंकृत सातप्पा इस अन्वर्थक नामसे एक सद्गृहस्थ रहते थे।

लक्ष्मीमतीति तद्भार्या दानपूजासु तत्परा।
सेयमन्वर्थमापन्ना सुशीलादिगुणोज्वला ॥३॥

अर्थात् उन श्रेष्ठीवर्यजीको पातिवृत्यगुणसे सुशोभित महासती श्रीमती शीलशिरोमणि, सत्पात्रदानपूजातत्पर लक्ष्मीमती नामकी धर्मपत्नी थी।

तयोः श्रीभरमप्पाख्यो जातोऽयं पुत्रपुङ्गवः।
भव्यत्वादिगुणं चासौ दर्शयन्बाललीलया ॥४॥

अर्थात् उन मातापिताजीको सुखदेनेवाला अनेक भव्यत्वादिगुण सम्पन्न तथा अपनी बाल्यक्रीड़ासे सुशोभित ऐसा भरमप्पा इस नामको ग्रहण करनेवाला कुलदीपक पुत्र प्राप्त हुआ।

षोड़शाब्दे गते स्वस्य विद्याध्ययनहेतवे।
सद्विद्यास्थानमासाद्य कारञ्जाद्याश्रमं वरम् ॥५॥

अर्थात् तव अपनी उमरके सोलहवें वर्षमें जन्म, जरा, मरण रूपी संसार समुद्रसे पार होनेकेलिये संस्कृतविद्याध्ययनार्थ इस अभिलाषासे कारंजादि आश्रम (विद्यालय) में प्रवेश करता हुआ।

न्यायाचार्यपदोपेताज्जैनवादशिरोमणेः।
महेन्द्रादिकुमारान्तात्सुधीः श्रीशास्त्रिवर्यतः ॥ ६ ॥

अर्थात् वुद्धिमान् ऐसा महेन्द्रादिशास्त्री श्रेष्ठोंसे सदैव उनके सानिध्यमें रहता हुआ शास्त्रीय कक्षातक (शास्त्रीपरीक्षा उत्तीर्ण) अध्ययन करताहुआ, सकलशास्त्रनिष्णात होगया।

सद्विद्योपार्जनं कृत्वा न्यायतीर्थपदान्वितः।
परं निर्वेदमापन्नः स्वपुरं पुनरागतः ॥ ७ ॥

तदनन्तर वनारसके श्रीस्याद्वादमहाविद्यालयमें अभ्यासकर ईसवी सन् १९४३ में कलकत्ता-केन्द्रीय-इन्दौर-सेंटरमें न्यायतीर्थ उत्तीर्ण हुए तथा वैराग्यसम्पन्न होकर फिर अपने स्वग्राम नसलापुरमें आगये।

युवकं पुत्रकं दृष्ट्वा पितृभ्यां भणितस्तदा।
त्वं मतिं कुरु भो पुत्र ! विवाहविषये मुदा ॥ ८ ॥

नव उमरमें आये हुए ऐसे योग्य पुत्रपुंगवको देखकर मातापिताजीने कहा कि, हे सत्पुत्र ! तुम एक कुलीन सत्कन्यासे विवाह करलेनेका विचार करो।

संसाराङ्गेन भो तात ! नारीपरिणयेन किम् ।
मोक्षलक्ष्मीविवाहाय जन्मसन्ततिनाशिने ॥ ९ ॥

हे पूज्य पिताजी ! अनादि अनिधन क्षणभंगुर ऐसे संसारसमुद्रसे पार होनेकेलिये मैं प्रयास कररहा हूं अतः विवाह करनेका मेरा विचार नहीं है, किन्तु मैं मोक्ष लक्ष्मीके साथ विवाह करूंगा ।

ममेच्छा वर्तते तस्मान्नाहं गृह्णामि कन्यकाम् ।
इति ब्रुवन्नसौ बाल्याद् गृहीतो ब्रह्मचर्यकम् ॥ १० ॥

भो तात ! दुर्लभ (मुश्किल) ऐसा नरभव पाकर उसको व्यर्थ खोना यह उचित नहीं है, इस मानवभवको सफल करनेकेलिये मेरी सद्भावना है । अतः विवाह नहीं करूंगा किन्तु आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण कर आत्मकल्याण करनेका मेरा सद्धेतु है ।

त्रिंशदब्दे गते स्वस्य स्वपुरान्निर्गतो मुदा ।
परं वैराग्यसम्प्राप्तो गुरुभक्तिपरायणः ॥ ११ ॥

अर्थात् अपनी उमरके तीस वर्ष व्यतीत होनेके पश्चात् स्वनगर नसलापुरसे सानन्द गमन करता हुआ और परमवैराग्यसम्पन्न होकर गुरुभक्तिपारंगत हुआ ।

महावीरकीर्तिसत्सूरेः पार्श्वे गत्वा सुधीरधीः ।
मुक्तदेहमहामोहस्त्यक्तसर्वपरिग्रहः ॥ १२ ॥

अर्थात् अपने दीक्षागुरु आचार्य महावीरकीर्तिजी महाराजके पास जाकर पापभीरु (पाप से भयभीत) बुद्धिमान् निर्मोही होकर समस्त बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्यागकरता हुआ ।

तस्माद्दीक्षामिमां जैनीं भवसन्तापनाशिनीम् ।
आदाय वपुषाऽपापं मोक्षमार्गं निरूपयन् ॥ १३ ॥

अर्थात्—जन्म, जरा, मरण, नाशक ऐसी दिगम्बरदीक्षा ग्रहणकर अवाक् (वचनरहित) अपनी सौम्य प्रतिभासे ही मोक्षमार्गका प्रतिपादन करने वाले (खुलासा—वचनोपदेशसे मोक्षका स्वरूप बतलावें तो यह मामूली बात है और न कहते हुए भी इनकी सौम्यमूर्तिका अवलोकनमात्र ही मानो भव्य लोगोंको साक्षात् मोक्षमार्ग बतलारहा है ।)

सुदृग्बोधादिचारित्राद्भवसागरपारगः ।
वर्षयन् धर्मवृष्टिं च भव्यसत्वाञ्जिनोदिताम् ।। १४ ।।

अर्थात् सद्रत्नत्रयपरिपूरित ऐसे जहाजसे संसारसमुद्र तरनेकेलिये श्रीजिनेन्द्रप्रतिपादित सद्धर्मोपदेश भव्य लोगोंको करने लगे।

श्रवणबेलगोलाख्यं श्रमणानां वरं पुरम् ।
आयातो गोमठेशस्य सोऽयं दर्शनहेतुना ।। १५ ।।

जव भगवान् बाहुबली स्वामीके दर्शन करनेकी भावना हुई तव दर्शननिमित्त श्रवणबेलगोल पधारनेसे यह जीवनचरित्र लिखागया है।

सर्वेषां भव्यसत्वानां नन्दनादभिनन्दनः ।
सत्तपोमण्डितः पूज्य आचार्यपदभूषितः ।। १६ ।।

अर्थात् समस्त भव्य लोगोंको अपने सुसौम्य ऐसे दिव्य दर्शनसे आनन्दित करनेवाले होनेसे इनका नाम भी दीक्षा गुरुने "श्रीअभिनन्दनसागर" ऐसा प्रशंसावाचकही रक्खा। क्योंकि इन्होंने अपनी सद्विद्या तथा तपश्चर्याके प्रभावसे परमपूज्य आचार्यपद प्राप्त किया।

श्रीराजीमतिदेवीति क्षुल्लिकापदधारिणी ।
जयकीर्तिविनीताऽहं वन्दे तं मुनिपुङ्गवम् ।। १७ ।।

यह संस्कृत लघुजीवनचरित्र क्षुल्लिका राजमतिने लिखा है। तथा विनयशालिनी होकर परमपूज्य आचार्य श्री १०८ अभिनन्दनसागरजी महाराजको एवं मुनि श्रीजयकीर्तिमहाराजको सद्भावसे नमोऽस्तु कर यह अल्पचरित्र समाप्त किया है। उक्तञ्च—'कृतमुपकारं नहि विस्मरन्ति साधवः' अर्थात् अपनेपर कियेहुए उपकारको स्मरण करना यह साधु तथा साध्वीका परम कर्तव्य है, ऐसा होनाही आवश्यक है।

इन्दौरमें चातुर्मास—

ईसवी सन् १९५१ तथा १९५२ के वर्षायोग अर्थात् दो चातुर्मास परमपूज्य, योगिसम्राट्, उद्भटविद्वान्, चारित्रशीलशिरोमणि, तपोनिधि, विश्ववन्द्य आचार्य श्री १०८ अभिनन्दनसागरजी महाराजके हुए हैं। वहींपर श्री षोड़शकारणव्रतविधान शुरू किया। प्रतिदिन श्री मारवाड़ी जिनमन्दिरमें इनका अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण प्रतिभाशाली प्रवचन होता था, श्रवणकर जनताने

लाभ उठाया। इसी प्रकार दो उपवास, एक आहार एक मासतक समग्र व्रत विधान चलता था, तो भी तीन-तीन घंटोंतक दीतवार बाजारमें सूत्र प्रवचन तथा पब्लिकको लाभ देनेकेलिये सार्वजनिक भाषण होता था। अनेक लोगोंने व्रत, नियम वगैरह धारण कर अपना नश्वर मानवजीवन सफल बनाया। अनेक अणुव्रती, सप्तम प्रतिमाधारी हुए। यथायोग्यरीतिसे अपूर्व प्रभाव होने लगा तब अग्रवालकुलोत्पन्न रामचन्द्रजी रामप्रसादजीने पूजनपुस्तक भक्ति-वश हो स्वद्रव्यसे बनाकर दिग्देशस्थ समस्त जैनसमाजको भेंट की थी। तथा चातुर्मासके पश्चात् सेठ रामचन्द्रजीने परमपूज्य आचार्य श्रीअभिनन्दन-सागरजी महाराजको ससंघ तीर्थयात्रा करवायी। श्रीसिद्धवरकूट, पावागिरि, बड़वानी वगैरह सिद्धक्षेत्रोंकी समस्त यात्रा कुटुंब सहित अत्यन्त उत्साहसे करवा कर सातिशय पुण्यबंध करलिया। जब इन्दौरमें श्रीकेशलोच होते थे तब दस बारा हजार जैनजैनेतर उपस्थित होते थे उस समय संगीतकलासहित अर्थात् पेटी, तब्बल इत्यादि कलाओंसे गुरुवर्य की पूजा, स्तुति, गुणगायन कर अनेक प्रकारसे अपना जीवन लोगोंने पवित्र किया। तथा अजरामर दुनियामें वीर-शासन का प्रचार होगया। इसीप्रकार वहाँसे करीब २७-२८ माइल पर एक बनेड़िया नामक अतिशय क्षेत्र है, वहां प्रत्येक चैत्रमासमें मेला होता है, वहां भी पूज्य आचार्यश्रीने संघसहित विहारकर उपदेशामृतका पान करवाया था इत्यादि।

सन् १९५२ में इन्दौरसे विहारकर श्रीसम्मेदशिखरजी तीर्थयात्रा निमित्त संघसहित पधारे। तब अनेक देश, ग्राम, नगर, बड़े-बड़े शहरोंसे समग्र तीन-चार मासतक करीब १५०० माइलका विहार हुआ था। अनेक कष्ट, आपत्ति उठाते हुए अर्थात् सहन करते हुए निर्विघ्नरीतिसे वैशाखशुद्ध सप्तमीको ससंघ श्रीसम्मेदशिखरजी पहुँचकर दर्शन किये। वहांसे विहारकर श्रीकोडरमामें पदार्पण हुआ, वहांके स्थानीय जैनसमाजने वर्षायोगनिमित्त सद्गुरुवर्यसे नम्रप्रार्थनाकीथी तब गुरु पूज्य आचार्य श्रीमहाराजने लोगोंकी प्रार्थना मंजूर कर १९५३ का चातुर्मास झूमरीतिलैया (कोडरमामें) किया। द्वितीय चातुर्मास भी सन् १९५४ का था।

उक्तंच—

अथ चारित्रस्वरूपं विभावयतिः—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो सम्मोत्तिणिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ ७ ॥

स्वरूपे चरणं चारित्रं स्वसमयप्रवृतिरित्यर्थः। तदेव वस्तु स्वभावत्वाद्धर्मः। शुद्धचैतन्यप्रकाशनमित्यर्थः। तदेव च यथावस्थितात्मगुणत्वात्साम्यम्। साम्यं तु दर्शनचारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्तमोहक्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः। तथाहि शुद्धचित्स्वरूपे चरणं चारित्रं, तदेव चारित्रं मिथ्यात्वरागादिसंसरणरूपेण भावसंसारे पतन्तं प्राणिनमुद्धृत्य निर्विकारशुद्धचैतन्ये धरतीति धर्मः। स एव धर्मः स्वात्मभावनोत्थसुखामृतशीतजलेन कामक्रोधादिरूपाग्निजनितस्य संसारदुःखदाहस्योपशमकत्वात् शम इति। ततश्च शुद्धात्मश्रद्धानरूपसम्यक्त्वस्य विनाशको दर्शनमोहाभिधानो मोह इत्युच्यते। निर्विकारनिश्चलचित्तवृत्तिरूपचारित्रस्य विनाशकश्चारित्रमोहाभिधानः क्षोभ इत्युच्यते। तयोर्विध्वंसकत्वात्स एव शमो मोहक्षोभविहीनः शुद्धात्मपरिणामो भण्यत इत्यभिप्रायः।

भावार्थः—निश्चयकर अपनेमें अपने स्वरूपका आचरणरूप जो चारित्र वह धर्म अर्थात् वस्तुका स्वभाव है। जो स्वभाव है वह धर्म है। इस कारण अपने स्वरूपके धारण करनेसे चारित्रका नाम धर्म कहा गया है। जो धर्म है, वही समभाव है ऐसा श्रीवीतरागदेवने कहा है। वह साम्यभाव क्या है? उद्वेगसे रहित आत्माका परिणाम वही साम्यभाव है। अभिप्राय यह है कि, वीतरागचारित्र वस्तुका स्वभाव है। वीतरागचारित्र, निश्चयचारित्र, धर्म, समपरिणाम ये सब एकार्थवाचक हैं। और मोहकर्मसे जुदा निर्विकार जो आत्माका परिणाम स्थिररूप सुखमय वही चारित्रका स्वरूप है। इस प्रकार धर्मका स्वरूप बतलाते हुए प्रतिदिन धर्मोपदेश होताथा।

बीचमें प्रश्न उपस्थित हुआथा कि, श्रावकका लक्षण क्या है? १ लज्जावन्त २ दयावन्त ३ प्रसन्नता ४ प्रतीतिवन्त ५ परदोषाच्छादक ६ परोप-

कारी ७ सौम्यदृष्टि ८ गुणग्राही ९ श्रेष्ठपक्षी १० मिष्टवादी ११ दीर्घविचारी १२ दानवन्त १३ शीलवन्त १४ कृतज्ञ १५ तत्वज्ञ १६ धर्मज्ञ १७ मिथ्यात्वरहित १८ सन्तोषवन्त १९ स्याद्वादभाषी २० अभक्ष्यत्यागी २१ षट्कर्मप्रवीण।

श्रावककी ५३ क्रिया—

मूलगुण—तीन मकारोंका त्याग अर्थात् मांस, मदिरा, मधु, और पञ्च उदुम्बरका त्याग गूलर, कठूम्वर, वड़फल, पीपलफल, पाकरफल इत्यादि। तथा १२ व्रत—पञ्चाणुव्रत, तीनगुणव्रत, चारशिक्षाव्रत। १२ तप—अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्या, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश ये वाह्यतप छह प्रकारके हैं। अन्तरंग छह प्रकारके हैं यथा—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग तथा ध्यान। १ समताभाव। ११ प्रतिमा—१ दर्शनप्रतिमा, २ व्रतप्रतिमा, ३ सामायिकप्रतिमा, ४ प्रोषधोपवासप्रतिमा, ५ सचित्तत्यागप्रतिमा, ६ रात्रिभुक्तित्यागप्रतिमा, ७ ब्रह्मचर्यप्रतिमा, ८ आरम्भत्यागप्रतिमा, ९ परिग्रहत्यागप्रतिमा, १० अनुमतित्यागप्रतिमा, ११ उद्दिष्टत्यागप्रतिमा। ४ दान—आहारदान, औषधदान, अभयदान तथा शास्त्रदान। ३ रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। १ जलगालनक्रिया। १ रात्रिभोजनत्याग।

नोट—ये ५३ क्रिया श्रावकके आचरण योग्य हैं यानी इन ५३ क्रियाओंको करनेवाला श्रावक नाम कहलानेका अधिकारी है।

तथा ५७ आश्रव ५ मिथ्यात्व १२ अविरत २५ कषाय १५ योग।

५ मिथ्यात्व—

१ एकान्त मिथ्यात्व, २ विपरीत मिथ्यात्व, ३ विनय मिथ्यात्व, ४ संशय मिथ्यात्व, ५ अज्ञान मिथ्यात्व।

१२ अविरत—

१ पृथिवी, २ अप् (जल), ३ तेज (आग), ४ वायु, ५ वनस्पति, ६ त्रस, ७ स्पर्श, ८ रसना, ९ घ्राण, १० चक्षु, ११ श्रोत्र, १२ मनको स्वाधीन रखना।

२५ कषाय—

४ अनन्तानुवन्धिक्रोध, मान, माया, लोभ, ४ अप्रत्याख्यानक्रोध, मान, माया: लोभ, ४ प्रत्याख्यानक्रोध, मान माया, लोभ, ४ संज्वलन-क्रोध, मान, माया, लोभ, (सोलह कषाय) तथा नवकषाय—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद तथा नपुंसकवेद।

१५ योग–

१ सत्यमनोयोग, २ असत्यमनोयोग, ३ उभयमनोयोग, ४ अनुभयमनोयोग, ५ सत्यवचनयोग, ६ असत्यवचनयोग, ७ उभयवचनयोग, ८ अनुभयवचनयोग, ९ औदारिककाययोग, १० औदारिकमिश्रकाययोग, ११ वैक्रियककाययोग, १२ वैक्रियकमिश्रकाययोग, १३ आहारककाययोग, १४ आहारकमिश्रकाययोग, १५ कार्माणकाययोग। कुल सत्तावन आश्रव हैं।

ॐ नमोऽर्हद्भ्यः

आदिपुराणपर्व ७ पृष्ठ ४४३ से ४५२ तक जिनस्तुति

(चालः–चन्द्रकान्त यति। मात्रा ४-४-५) मराठीपद्यमाला

मानसीक–पीड़ानचलवही ऐशा परमेशा ॥
नमन असो तुज, आराधी मी कर्मारी-नाशा ॥ १ ॥

अनन्त तवगुण, वर्णन त्यांचें करण्या गणधरही ॥
समर्थ नसली, परिमी करितो सौख्यदभक्ति ही ॥ २ ॥

सुख पावे तव भक्त निरन्तर, लाभे श्री त्याला ॥
स्वर्ग मोक्ष मिलती तव ठायीं–भक्ति रक्षकाला ॥ ३ ॥

यास्तव भजती भव्यतुला, शुभ मनवचकाया ही ॥
फलइच्छाकरणा–यांसी तूं–सेव्य कल्पतरु ही ॥ ४ ॥

दुष्कर्माच्या तापें लागे तृष्णा बहु ज्यासी ॥
भ्यालेल्या ऐशा संसारी जीव–चातकासी ॥ ५ ॥

धर्माची वृष्टी करणारा तूं नूतन-ऐशा ॥
मेघासम आनन्ददायका ! असती परमेशा ॥ ६ ॥

कार्यार्थी जनरविप्रकाशी–मार्गे जातिजसें ॥
आत्महितैषी तव प्रदर्शित धर्मपन्थें तैसे ॥ ७ ॥

तव दर्शविलें तत्व समूलचि भवनाशक खचित ॥
इह परलोकेष्टार्थसिद्धबा ! तत्तत्वें होत ॥ ८ ॥

अति वैभव--साम्राज्य श्रीपदा सोडुनि सर्व वसे ॥
शिवलक्ष्मीला वर होसी तूं हें आश्चर्य असें ॥ ९ ॥

दयावेल चढ़लीसे ज्यावर, आणिक परलोकीं ॥
उत्तम सुख फलदायक होईल ऐसा परम सुखी ॥ १० ॥

उंच वृद्धिलापावे जो बहु इच्छितार्थ पूर्ण ॥
करणारा ऐसा तूं आह्मां कल्पवृक्ष जाण ॥ ११ ॥

कर्मारींचा छेदन करण्या तपधारा ज्यासी ॥
अत्युग्र असें धर्मचक्र तूं हातीं धरिलासी ॥ १२ ॥

बलिष्ठ कर्मारीस जिकते समर्थो तूं कांहीं ॥
क्रोधा चढुनी भिवई वरतीं चढवीली नाहीं ॥ १३ ॥

दान्त ओठनच चावलेहि बा ! पटुत्वनिज ज्यानें ॥
त्यजिले आहे ऐसे स्थानहि न च रचिलेंहि मनें ॥ १४ ॥

असुनि दयालुहि बलिष्ठ ऐशा मोहारी यांसी ॥
जिंकाया तप-कठिण-कुठाराहातीं धरिलासी ॥ १५ ॥

अज्ञरूप जलसेंचन यांहीं बाढलिसे सबल ॥
नाना दुःखदफल देणारी भवरूपीवेल ॥ १६ ॥

वाढविलीत्वां तरिवाढतना, हें आश्चर्यगण ॥
छेदिलि असतां वाढेल कसो ? पाहा शोधून ॥ १७ ॥

तवपदकमल प्रसन्न झालें ह्मणजे श्रीछान ॥
प्रसन्न होते, नाहींतरती विमुख होय जाण ॥ १८ ॥

पदकमलशोधकांस लक्ष्मी प्राप्तचि होत असें ॥
तवपद भक्ति न करणा-यांसी प्राप्तचि होतनसें ॥ १९ ॥

इतरां न मिले ऐसी प्राप्ति-हार्यरूप विभुति ॥
धारण करुनी नवलसे महावीतराग जगतीं ॥ २० ॥

अशोकतरु हा शीतलछाये-युत तव आश्रयसे ॥
भव्यशोक बा ! दूरकरोनी फारच शोभतसे ॥ २१ ॥

फुल्ल कल्पतरु मेरु भोंवतीं पुष्पवृष्टि करिती ॥
देवतसें तव भोंवतीं सदा पुष्पवृष्टि करिती ॥ २२ ॥

समस्त भाषानुकरिणी तव दिव्यवाणी खासी ॥
पशुजीवांच्या मनांतीलही अज्ञतपानाशी ॥ २३ ॥

चंद्रासमजणु निर्मल ऐशा वरून पडणाऱ्या ॥
झरिसम शोभे चामर-जोडी ढालिलि जाणाऱ्या ॥ २४ ॥

शोभे आसन सोनेरी सिंहानीं धरिलेंसें ॥
मेरुगिरीच्या शिखरांशीतें स्पर्धाकरीत असें ॥ २५ ॥

ज्योतिर्मंडल भेदुन जगतीं प्रभा पसरलीसें ॥
सकल जगाचें अघतमविनाश करणारें ऐसें ॥ २६ ॥

रविमंडलचा तिरस्कार बा ! करणारें ऐसें ॥
अलंकार समभामंडल तव देहां शोभतसें ॥ २७ ॥

देव दुंदुभी गंभीर शब्दें नभीं पसरलासा ॥
जगत्रयाचा प्रभु तूं एकचिघोषकरी ऐसा ॥ २८ ॥

चंद्राशीं स्पर्धा करणारे छत्रत्रय तव हें ॥
प्रभुत्व प्रकटि लोकोत्तर तव शीर्षा वरिल चिन्हें ॥ २९ ॥

जगत्रयांतिल सार मिलोनि जमुन एक ठायीं ॥
रासीसम जणु दिसती प्रभु तव प्रातिहार्यें ही ॥ ३० ॥

इंद्राज्ञेनें रचिलेला हादेवांनीं भवतीं ॥
प्रातिहार्य--गणविरागता तव नचहरकत करिती ॥ ३१ ॥

व्याधचौरादि दावानलादि सर्पसिंह हत्ती ॥
बंधरोग हे स्मरतां तवपद सर्वशांत होती ॥ ३२ ॥

ज्यांच्यागंडस्थलांतूनि मदगलत असे आणि ॥
तयामुलेंजो घनसम दिसतो भला कृष्णवर्णी ॥ ३३ ॥

असाभयंकर हत्तीआला घातक इच्छेनें ॥
तरि बा ! त्याला जिंकिति मानव तुझिया स्मरणानें ॥ ३४ ॥

करिकुम्भस्थल भेदुनिझालीं नखें तीव्रज्याचीं ॥
अशाकेसरी सपाटच्यांतजो सांपडला, वाचीं ॥ ३५ ॥

तवपदचिंतन करतांत्यांसी मारितना जाण ॥
यास्तवराहो मम हृदयीं नवा संतत तवचरणा ॥ ३६ ॥

असतीतीव्र ज्यालाज्याच्या, असाभडकलेला ॥
अग्नि शान्तहो, तवपदचिंतन शीतजलेंचिभला ॥ ३७ ॥

शीतजलाच्या धारींज्याचा वेगशांत झाला ॥
ऐसा होऊनि, उपद्रवचितो करीतना कसला ॥ ३८ ॥

केलीसे वरफणाजयानें क्रोधेंतीव्रमहा ॥
विषओकितसे, प्रत्यक्षअसा सर्पभयंकरहा ॥ ३९ ॥

तवपदरूपी औषधि यांच्या संस्कारा योगें ॥
निर्विषहोतो तत्कालची बा ! समूल अतिवेगें ॥ ४० ॥

तवपद सेवक वैश्य महत् हो दुष्ट लुटारूंच्या ॥
जातिसुखें वनि टंकाररवें भयंकर शराच्या ॥ ४१ ॥

भयंकरैशा वायूंयांहीं प्राणी भडकून ॥
शब्दनिघतसे मोठाज्याचा आणिक खवलून ॥ ४२ ॥

तीरावरजो चढुनियेतसे अशाजलधितून ॥
तवपद आश्रय करणारे जन सहज जातितरून ॥ ४३ ॥

गुह्य, संध्यादि अवघडठायीं समुत्पन्न तीव्र ॥
व्रणापासुनी झालेले हो रोगीजन सर्व ॥ ४४ ॥

तवपदचिंतन–औषध-यांहीं निरोगि तत्काल ॥
होतीमगते करितन कां ? हो ! भवरोग समूल ॥ ४५ ॥

कर्मबंधन विमुक्त अशा बा ! तुझिया स्मरणानें ॥
बंधमुक्तहो बंधयुक्त मन दृढ बंधन यानें ॥ ४६ ॥

विघ्नांसी बा ! विघ्नक, ऐशां उपासना तवही ॥
विघ्नमुक्त शांतीसाठीं करितों भक्तियुक्त हृदयीं ॥ ४७ ॥

जगप्रकाशी ज्योतिरूप तूं, एकचि असती तूं ।।
हितकर्तागुरु बंधुहि तूंची, असे जगत्पति तूं ।। ४८ ।।
समस्तविद्या–प्रकाशकजिना ! तूंचमूल असती ।।
समस्तयोगी जगामधीं तूं प्रथम योगि असती ।। ४९ ।।
धर्मतीर्थ वा ! यांचा असती तूंच आदिकर्ता ।।
हितोपदेशकजीवां सद्गुरु असें आदि जगतां ।। ५० ।।
सर्वांचेंहित करणारा तूं समस्त विद्यांचा ।।
अधिपति असती, समस्तलोकां बघणारासाचा ।। ५१ ।।
केली स्तुति तवपुरी तेवढी आतापर्यंत ।।
यास्तव पुढती हे जिनदेवा ! विस्तार न करित ।। ५२ ।।
देव अशा तुजनमुनी स्तुतिसह मागतना दुसरें ।।
हे जिन ! मजतव ठायीं ऐशीदे दृढभक्ति त्वरें ।। ५३ ।।
सर्व अभ्युदय मोक्षादिक फलती मजदेईल ।।
कवि जिनसेनाचार्य कवन करिजिन जन्मा सफल ।। ५४ ।।

आदिपुराण पर्व ९ पृष्ठ ५५९ से ५६३ तक

अथवा साधुसमागममहिमा

चारणमुनि-सद्गुरु-स्तोत्र

(चाल—चन्द्रकान्त)

अगाध आहे महिमा ऐसा साधुसमागम हा ।।
आणिक त्यामधिं चारण मुनियुग अधिक विशेष पहा ।। १ ।।
हृत्संतापा दूरकरोनी वाढवि आनंदा ।।
मनवृत्तीला तृप्तक ऐसा लावी सच्छंदा ।। २ ।।
बहुत योग्यता वाढविणारा पापा दूर करी ।।
स्वर्ग मोक्षही साधुन देण्या समर्थसे सुपरी ।। ३ ।।

मोक्षमार्ग साधण्या साधुंनि स्वबुद्धि धन अर्पी ॥
जन इच्छेपरि वागुनि त्यांना श्रेष्ठ अर्थ नापि ॥ ४ ॥

असति महात्मे परोपकारी स्वभाव हा त्यांचा ॥
परहित करण्या इच्छेनेंते केवल हो साचा ॥ ५ ॥

अन्य जन्मिही गांठ घेउनी बोधिति मोक्ष पथा ॥
ऐसें करण्यामाजीं त्यांचा हेतु नच कोणता ॥ ६ ॥

स्वतां भवाच्या यातनेतुनी मुक्त व्हावयाच्या ॥
उद्योगीं गढलेलेच महा-पुरुष हे स्वतःच्या ॥ ७ ॥

दुःखाविषयीं अगदीं निर्दय पूर्णपणें असती ॥
दुसऱ्यांच्यापण दुःखानें ते दुःखि मात्र होती ॥ ८ ॥

आणिक निरिच्छ बुद्धिनें तेदुसऱ्यांच्या मुक्ती ॥
हिताकरितां कमर बांधुनी तयार असताती ॥ ९ ॥

योग्य सुखासी अशी भूमिही आणि आह्मी कोठें ॥
गरज न कसली ज्यांना इतके निस्पृह मुनिकोठें ॥ १० ॥

ऐसें असलें तरी अनुग्रह बहु आह्मावरतीं ॥
करण्यामाजीं तपस्वी कसें ? जागृतहे असती ॥ ११ ॥

कष्टि जीव भविं त्यांतुनसुटुनी होवोतसुखी ते ॥
यत्न करीती ह्मणुनी त्यांना यतिनांव येतें ॥ १२ ॥

दूरदेशयांहूनहिं येउनि आह्मांवर पाही ॥
उपकार जसा केला या द्वय-चारणा मुनी यांहीं ॥ १३ ॥

ज्यापरि करिती; त्यापरि करि हे महापुरुष संत ॥
परहित करण्या माजीं तैशी प्रीति ठेविताात ॥ १४ ॥

तपोग्नितापें ज्यांनीं निजतनु कृश केला आहे ॥
असें द्वय मुनी प्रत्यक्ष तयां अर्जुनि पाहता हे ॥ १५ ॥
चारणमुनिपदिं विनम्र झालों, त्यासमयीं त्यांनी ॥
स्नेहदक्ष मज केलें स्पर्शुनि निजमृदु हस्तांनी ॥ १६ ॥

धर्म तृषितशा मजला दर्शन, अमृत पाजविलें ॥
विषयभोग ममताप निवारुनि ममभन तोषविलें ॥ १७ ॥
दोघांपैकीं ज्येष्ठ मुनीजो प्रीतिंकर खास ॥
नामापरि तो प्रीतिंकर हो समस्त भव्यांस ॥ १८ ॥
प्रीतियुक्तशासर्वत्र गमत करणाऱ्या मुनि हीं ॥
सत्पथबोधें प्रेमदाविलें अपुलें भलायीं ॥ १९ ॥
महाबलभवीं प्रीतिंकर हा स्वयंबुद्ध होता ॥
तेव्हांहि भलादर्शनदेउनि मजला, गुरुमाझाझाला ॥ २० ॥
आतांहि पहा ! तेंच विशेष किं शुद्ध करूनिभला ॥
सम्यग्दर्शन देउनि मजला, गुरुमाझाझाला ॥ २१ ॥
प्राप्त न होती गुरु संगतिविण सद्‍गुण जीवांना ॥
सद्‍गुणविण न च जन्म सफल हो, कारण गुरुजाणा ॥ २२ ॥
वनस्पतिरसें पुट धातूचें सुवर्ण होजैसें ॥
भव्यात्मा हो शुद्ध गुरुगुणीं संस्कारित तैसें ॥ २३ ॥
तारुविना न च तरतां येई सुखें जलधितून ॥
तैसें गुरूपदेशा वांचुनिभव जलधींतून ॥ २४ ॥
यथांधकारीं स्थितवस्तू न च दिसती दीपविना ॥
नच जीवादिक पदार्थ दिसती गुरूपदेशाविना ॥ २५ ॥
यामानुजावरीं उभय प्रेमकरी गुरुआणिक बंधू ॥
त्यांमधिं असती श्रेष्ठ गुरु च हे तत्पादीं वंदू ॥ २६ ॥
बंधु असति जे याच भवीं ते प्रेमाचे असती ॥
परंतु गुरु हे इहपरलोकीं सदा प्रीति करिती ॥ २७ ॥
गुरु बोधें निजदर्शन शुद्धी झालीज्या अर्थी ॥
प्राप्त हो आह्मां जन्मान्तरीहि सद्‍गुरु पदभक्तीं ॥ २० ॥
यापरिंचितन करण्यानें या गुरुमहात्म्याचें ॥
सम्यक्त्वाची भावनाहि हो दृढ मन-तनु वाचें ॥ २९ ॥

कल्पलतेसम भावनाच ही पुरवी इष्टार्थ ॥
दादात्मज हा विनवी ऐशा भक्ति प्रीत्यर्थ ॥ ३० ॥

पं० जिनदत्त दादा शास्त्री मालगांव (संस्थान) (मिरज)
जीवन चरित्र समाप्त

प्रातः स्मरणीय परमपूज्य आचार्य श्री अभिनन्दनसागरजी महाराज की पूजा

पूजा, जयमाला तथा आरती

॥ ॐ ॥

ज्ञानस्यराशिं यतिवंशहंसम् ।
त्रीरत्नस्थानं धर्मस्य सूर्यम् ॥
प्राग्भारदीक्षां जैनीमिमां ताम् ।
अभिनन्दसूरिं प्रणमामि नित्यम् ॥

(चाल—चन्द्रकान्त)

बाह्याभ्यंतर ग्रंथ त्यजुनि जो स्वात्मींरत झाला ।
स्थापितसे त्या श्री अभिनन्दनसागर चरणाला ॥ १ ॥
ॐ ह्रीं आचार्य श्री अभिनन्दनसागरचरणा
अत्र आगच्छ-आगच्छ संवौषट् । ॐ ह्रीं अत्र तिष्ठ-तिष्ठ ॥
ठठ ॐ ह्रीं अत्र मम सन्निहितो भव-भव वषट् स्वाहा ।
आह्वानन—स्थापनसन्निधीकरणम् ॥ २ ॥

अमल सुवासिक गंगादिकत्या प्रासुक उदकांनीं ।
भव दुःखार्ते हरण्या यजितों अभिनन्दन चरणीं ॥ १ ॥
ॐ ह्रीं आचार्य श्री अभिनन्दनसागरचरणेभ्यो
दिव्यजलं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २ ॥

केशर कुंकुमचन्दन मिश्रित ऐशा गंधानीं।
सुगंध काया मिलण्या यजितों अभिनन्दन चरणीं ॥ ३ ॥
ॐ ह्रीं आचार्य श्री अभिनन्दनसागरचरणेभ्यो।
दिव्य गंधं निर्वपामीति स्वाहा ॥

चन्द्रकिरणसम अखंड अक्षत शुभ्रतंदुलांनीं।
अक्षय पदतें मिलण्या यजितों अभिनन्दन चरणीं ॥ ४ ॥
ॐ ह्रीं आचार्य श्री अभिनन्दनसागरचरणेभ्यो।
दिव्य अक्षतं निर्वपामीति स्वाहा ॥

परिमल सुंदर कमलादिक बहु प्रफुल्ल सुमनांनीं।
काम शरातें हरण्या यजितों अभिनन्दन चरणीं ॥ ५ ॥
ॐ ह्रीं आचार्य श्री अभिनन्दनसागरचरणेभ्यो।
दिव्य पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा ॥

मधुर मनोहर अमृतयुतत्या नानाविध चरुंनीं।
क्षुधारोगतो हरण्या यजितों अभिनन्दन चरणीं ॥ ६ ॥
ॐ ह्रीं आचार्य श्री अभिनन्दनसागरचरणेभ्यो।
दिव्य चरुं निर्वपामीति स्वाहा ॥

उज्वल ऐशा कांतियुक्त घृतकर्पुरदीपांनीं।
मोहतमासी हरण्या यजितों अभिनन्दन चरणीं ॥ ७ ॥
ॐ ह्रीं आचार्य श्री अभिनन्दनसागरचरणेभ्यो।
दिव्य दीपं निर्वपामीति स्वाहा ॥

अगरु तगरु कृष्णागरु आदिक दशांग धूपांनीं।
अष्टकर्म संदहना यजितों अभिनन्दन चरणीं ॥ ८ ॥
ॐ ह्रीं आचार्य श्री अभिनन्दनसागरचरणेभ्यो।
दिव्य धूपं निर्वपामीति स्वाहा ॥

रसाल सुंदर पक्व सुवासिक अनेक सुफलांनीं।
मोक्ष फलातें मिलण्या यजितों अभिनन्दन चरणीं ॥ ९ ॥

ॐ ह्रीं आचार्य श्री अभिनन्दनसागरचरणेभ्यो।
दिव्य फलं निर्वपामीति स्वाहा ॥

जलगंधादिक द्रव्यें पात्रीं भरुनीं अर्घ्यांनीं।
अनर्घ्य पदतें मिलण्या यजितों अभिनन्दन चरणीं ॥ १० ॥

ॐ ह्रीं आचार्य श्री अभिनन्दनसागरचरणेभ्यो।
दिव्य अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

अथ जयमाला

(चाल–सुलभा अथवा चन्द्रकान्त)

श्री अभिनन्दनसागर गुरुवर चरणीं मी नमितों ॥
भक्ति भरानें जयमालाही आनन्दे गातों ॥ धृ ॥

नसलापुरि यानगरिं जन्मुनि धन्य धन्य झाला ॥
लक्ष्मीमतीनीं सातप्पा ह्या जननी जनक भला ॥ १ ॥

दानसुपूजा करण्यामाजी तत्पर दंपत्ती ॥
असुनी शोभे सुशील उज्वल आदिक सुगुणतती ॥ २ ॥

बालपणींत्या बाललीलया घालवुनी मोदें ॥
विद्याध्ययनीं सन्मार्गीरत होई स्वच्छंदें ॥ ३ ॥

न्यायतीर्थपद भूषित होऊनि निर्वेगी बनला ॥
परन्तु माता-पिता इच्छती गृहस्थ बनण्याला ॥ ४ ॥

संसृति वृद्धी साठींकांहो भवनारी वरणें ॥
जन्मसंतती नाश कराया मोक्षलक्ष्मी वरणें ॥ ५ ॥

वैराग्याच्या भावें मुक्ती–लक्ष्मी वरण्याला ॥
उदगांवींत्या आदिसागर आचार्य सन्निधि आला ॥ ६ ॥

सद्धर्माच्या उपदेशानें दृढचि भाव झाला ॥
यास्तव क्षुल्लक महावीरकीर्ति आचार्य सन्निध बनला ॥ ७ ॥

मगस्वस्तिश्री महावीरकीर्ति समीप जाऊनि ॥
सांगली नगरीं यांची दीक्षा दिगंबरी जैनी ॥ ८ ॥

शक आठरासें सासष्टवर्षि दीक्षाविधि होई ॥
वैशाख दिनीं कृष्णपंचमीं जिनदीक्षा घेई ॥ ९ ॥

श्री अभिनन्दनसागर गुरुवर नामें संबोधी ॥
भवसागर हा तरण्यासाठीं केली सत्सिद्धि ॥ १० ॥

सद्दृष्टीनी वोध-वृत्त हे भवनिधि ताराया ॥
कारण यास्तव जाणुनि पाली बोधुनिजनताया ॥ ११ ॥

जिन भाषित त्यामार्गे वोधुनि धर्मामृत पाजी ॥
भव्य जनांना कल्याणास्तव सुपथ दावि आजी ॥ १२ ॥

परमपूज्य आचार्य पदानें भूषित हो सुजनां ॥
सत्तपमंडित होऊन शोभे आनंदी सुमना ॥ १३ ॥

जिन वाणीच्या अढल भक्तीनें प्रेरित होउन ॥
सिदनालामधिं स्थापना केलें सरस्वती भवन ॥ १४ ॥

ऐशापरि निज उत्सुकतेनें स्वधर्म कार्य करी ॥
सद्वोधानें भाविक जनता लावी सुपथि बरी ॥ १५ ॥

जय जयमाला जय जय नामें वदतों तव चरणीं ॥
दादात्मज हा प्रेमें प्रार्थी शिवसुख इच्छूनी ॥ १६ ॥

सामुदायिक अर्घ्य

उदक चन्दन तंदुल पुष्प कैश्चरुस दीपसु धूप फलार्घ्यकैर्धवल मंगलगानरवांकुले गुरुगृहे गुरुनाथ महंयजे ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं आचार्य श्री अभिनन्दनसागर चरणेभ्यो दिव्य पूर्णार्घ्य निर्वपामीति स्वाहा ॥ इति शांतिकं शांतिधारादिव्यपुष्पांजलिः ॥१॥

आरती

चाल–मालकंस, मात्रा ८

ओवालीतों पंचारति ही । भक्ति भरानें नत तवपायीं ॥ धृ ॥
करितव पूजा स्तुति वंदन ही । पापें सगलीं विलया नेई ॥ १ ॥
मोहतमाला संहारक ही । अनुपम उज्वल ज्ञान दीपही ॥ २ ॥
अष्टकर्म ते नष्टचि होई । केवल बोधक पावक वह्निही ॥ ३ ॥
मंगल द्रव्यें ठेवुनि पात्रीं । ओवालीतों प्रेम भरा ही ॥ ४ ॥
मंगल दायक मंगलमूर्ती । अवतारीतो मंगल आरती ॥ ५ ॥
लावुनि कर्पुर धृतज्योती ही । अर्पण करितों सन्मति देई ॥ ६ ॥
तवचरणीं मज आश्रय देई । हीच विनंती करितव पायीं ॥ ७ ॥

पद्य

(चाल–आनंदाचाकंद)

श्री अभिनन्दनसागर गुरुवर चरणां । भक्ति भरेत्या करूंया नमना ॥
जोषड्जीवां रक्षण करण्या । पंचेंद्रियनी षड्रिपु दमना ॥ १ ॥
आवश्यक षट्क्रिया पालनां । करण्या करितों सदा प्रयत्ना ॥ २ ॥
दुःखद चोविस परिग्रह त्यजुनी । उग्रदिगंवर दीक्षा घेउनीं ॥ ३ ॥
सद्धर्मामृत भव्या पाजित । मोक्षमार्ग तो सकलां दावित ॥ ४ ॥
होउनी रत्नत्रय गुण भूषित । याजनिं सुन्दर वहुपरि शोभत ॥ ५ ॥

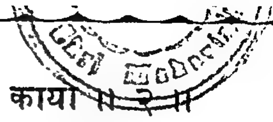
(चाल–संशय कांमनी)

वंदन करि गुरुराया । श्री अभिनन्दन गुरुवर पाया ॥ धृ ॥
मोहपसारात्यजुनि होई श्री जिन गुरुराया ॥ १ ॥
धन्य धन्य तव दर्शन घडलें पावन करि सदया ॥ २ ॥
पूजा स्तुति करि श्री जिन कवि हा शिवसुख मिलवाया ॥ ३ ॥

आरती

राग–मिश्र, (चाल–गोधूरजाने) मात्रा १२

ओवालु आरती या । गुरुवर्य वंद्य पाया ॥ धृ ॥
संसार भोग विषयां । विषतुल्य जाणुनीया ॥ १ ॥



दुर्मोह आणि माया । सोडीममत्व काया ॥ २ ॥
ध्यानी बने स्व-आत्मीं । निजकर्म तें हराया ॥ ३ ॥
उपदेश देजनाला । स्वपरात्म सिद्धि व्हाया ॥ ४ ॥
तवपाद पूज्य ह्मणुनी । भावेसुपूजि पाया ॥ ५ ॥
करि वंदना स्तुति ही । गुणगीत गाउनीया ॥ ६ ॥
लावूनि पात्रि ज्योती । मोहारि नाशव्हाया ॥ ७ ॥
घृत कर्पुरारती ही । ओवालि चरणीं सदया ॥ ८ ॥
गाऊनि भाव भक्ती । चिरसौख्य लाभ व्हाया ॥ ९ ॥
दादात्मजें विनंती । केली पदीं हिताया ॥ १० ॥

शान्तिपाठ

ंपूजकानां प्रतिपालकानां, यतीन्द्रसामान्यतपोधनानाम् ॥
शिस्य राष्ट्रस्य पुरस्यराज्ञः करोतुशान्तिं भगवान्जिनेन्द्रः ॥ १४ ॥
सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान्धार्मिको भूमिपालः ।
काले काले च सम्यग्वर्षतु मधवाव्याधयो यान्तुनाशम् ॥
र्भिक्षं चौरमारिः क्षणमपि जगतां मास्मभूज्जीवलोके ॥
नेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्यप्रदायि ॥ १७ ॥
तद्द्रव्यमव्ययमुदेतु शुभः सदेशः, सन्तन्यतां प्रतपतां सततं सकालः ।
भावः सनन्दतु सदायदनुग्रहेण ।
रत्नत्रयं प्रतपतीह मुमुक्षु वर्गे ॥ १६ ॥
प्रध्वस्त घातिकर्माणः केवलज्ञानभास्कराः ।
कुर्वन्तु जगतां शान्तिं वृषभाद्याजिनेश्वराः ॥ १७ ॥

क्षेपक श्लोका

शान्तिः शिरोधृत जिनेश्वर शासनानाम् ।
शान्तिर्निरन्तर तपोभवभावितानाम् ॥
शान्तिः कषायजयजृम्भित वैभवानाम् ।
शान्तिः स्वभाव महिमानमुपागतानाम् ॥ १ ॥

जीवन्तु संयमसुधारस पान तृप्ताः, नन्दन्तु शुद्ध सहसोदय—
सुप्रसन्नाः, सिध्यन्तु सिद्धिसुख संगकृताभियोगाः।
तीव्रं तपन्तुजगतांत्रितयेऽर्हदाज्ञः ॥ २ ॥
शान्तिः शंतनुतां समस्तजगतः संगच्छताम्।
श्रेयः श्री परिवर्धतां नयधुरां धुर्यो धरित्रीपतिः ॥
सद्विद्यारसमुद्गरन्तु कवयोनामाप्य धस्यास्तुमाम्।
प्रार्थ्यं वा शिवदेक एव कृद् धर्मोजयत्वर्हताम् ॥ ३ ॥

परमपूज्य आचार्य श्री १०८ अभिनन्दनसागरजी महाराज-का संक्षिप्त परिचय एवं पूजन

प्रकाशक

रामचन्द्र जैन अग्रवाल, दलाल

१७७, एम० टी० क्लाथमार्केट, इन्दौर (मध्यभारत)

की ओर से भेंट।

वीर नि० सं० २४७७

कोल्हापुर जिलेमें नसलापुर ग्राम है। वहां दिगम्बरजैन पंचम जातीय श्रीमान् सातप्पा नामक धार्मिक सज्जन रहते थे। उनकी धर्मपत्नीका नाम लक्ष्मीमती था। विक्रम संवत् १९६५ की माघशुक्ला १२ मंगलवार तारीख २ फरवरी ईसवी सन् १९०९ को आपके पुत्र रत्नका जन्म हुआ। जिसका नाम भरमप्पा रक्खा गया। छोटी उम्रमेंही इस पुत्रके लक्षण विरक्तिके दृष्टि गोचर होरहे थे। माता-पिताने विवाहके लिये बहुत समझाया पर इसकी इच्छा जराभी संसारमें अनुरक्त होनेकी नहीं रही। इस पुत्रने संस्कृत विद्याका पर्याप्त अध्ययन करलिया और ईसवी सन् १९४३ में न्यायतीर्थ तथा शास्त्री तककी परीक्षा उत्तीर्ण करली। नवयुवक अवस्थामें अविवाहित रहकरही ये ध्यानका अभ्यास करने लगे। एक दिन खेतमें सामायिक करते हुए इन्हें चूहोंने पैरोंकी अंगुलियोंमें काटलिया और उनमें खूनभी निकला, पर उस समय अपनी एकाग्रताको भंग नहीं किया। उदगांवमें जब श्री १०८ पूज्य आचार्य

आदिसागरजी महाराज पधारे तब वहां उनके संपर्कसे आपके विशेष वैराग्य-मयी भाव जागृत हुए और वि० संवत् २००० की फाल्गुन शुक्ला १२ को श्री १०८ परमपूज्य आचार्य आदिसागरजी महाराजके परमशिष्य आचार्य श्री १०८ महावीरकीर्तिजीके पास क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। इस प्रकार इस पदमें दोमास रहनेके पश्चात् वैशाख कृष्णा ५ वि० संवत् २००१ को केशलोचके शुभ अवसरपर एवं शुभ नक्षत्रमें सांगलीमें श्री १०८ आचार्य महावीरकीर्तिजी समीप दिगम्बरजैन दीक्षा अंगीकार किये। आपका शुभनाम तब श्री १०८ यतिराज अभिनन्दनसागरजी रक्खा गया। उक्त श्री १०८ परमपूज्य आचार्य-वर्य महावीरकीर्तिजो महाराजने समस्त संघके समक्ष बार्शीमें वि० संवत् २००६ में आपको आचार्यपद प्रदान किया।

परमपूज्य आचार्य श्रीके इन्दौरमें दो चातुर्मास

पूज्य आचार्य श्री १०८ अभिनन्दनसागरजी महाराज स्थान-स्थान पर विहारकर धर्मोपदेश द्वारा स्वकल्याण एवं परकल्याण करते हुए इस वर्ष दिगम्बर जैन समाज इन्दौरके सौभाग्यसे यहां पधारे। यहीं चातुर्मासका सुयोग हुआ और समस्त दिगम्बर जैनसमाजको आपके धर्मोपदेशका लाभ मिला। आपकी निरपेक्ष और शान्त वृत्तिका यहां बहुत प्रभाव हुआ है। प्रतिदिन १ घंटा प्रातः मारवाड़ी दिगम्बर जैनमन्दिर शक्कर बाजारमें आपका धर्मोप-देश होता रहा है। इस वर्ष दशलक्षणी (पर्यूषण) पर्वमें दीतवारिया बाजार सभामण्डपमें दोपहरको २ से ५ तक ३ घंटे आपने सूत्रजींका प्रवचन कर सबको महाआनन्द पहुंचाया है। आपका दो बार इन्दौरमें केशलोचभी हो चुके हैं। यहीं पर मैंने आचार्य श्री की भक्तिके प्रभावसे हिंदीमें आपकी पूजन एवं स्तुति पदरचे हैं। आशा है श्रावकगण इससे लाभ उठायेंगे।

—रामचन्द्रजैन अग्रवाल इन्दौर

श्री महावीरायनमः

परमपूज्य आचार्य श्री १०८ अभिनन्दनसागरजी महाराजकी स्थापना

सौम्यमूर्ति और शांत छविमय, प्रकट हुए भुवमें महाराज ।
अटल तपस्या देख तिहारी कांपउठा जगमें यमराज ॥ १ ॥
निरख कांतिमय मुद्रास्वामी, मुक्तिरमणी हरषाई आज ।
आय विराजो हृदय कमलमें, अभिनन्दन सूरिऋषिराज ॥ २ ॥

ॐ-ह्रीं आचार्य श्री तपोनिधि अभिनन्दनसागर गुरुवर ! अत्र' अवतर संवौषट् । अत्र तिष्ठ-तिष्ठठ-ठ । अत्र मम सन्निहितो भव-भव वषट् स्वाहा ।

पूजन

सुर तरनीको उज्वल जलले, कर्म कलंक अनादि धोले ।
जासों स्वामी बने आत्मा, जन्म जराहारी ॥ १ ॥
आचार्य अभिनन्दन ऋषिराज आपहो चन्द्रछटा धारी ।
डूबतहों भव-सिंधु बचाओ अरज यही हमारी ॥ २ ॥

ॐ-ह्रीं तपोनिधि आचार्य श्री अभिनन्दनसागर गुरु चरण-कमलेभ्यो जन्मजरा मृत्यु विनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

कश्मीरीमय चन्दन घिसकर, चरणकमलके अग्रचढ़ाकर ।
ऐसे विधिना मिले मिटे मोरी, भवाताप सारी ॥ ३ ॥
आचार्य अभिनन्दन ऋषिराज आपहो चन्द्र छटा धारी ।
डूबतहों भवसिंधु बचाओ, अरज यही हमारी ॥

ॐ-ह्रीं तपोनिधि आचार्य श्री अभिनन्दनसागर गुरु चरण-कमलेभ्यो संसार तापविनाशनाय चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा ।

चुग चुग तंदुल उत्तम लाया, सुभग पात्रभरि आगे धराया ।
अक्षयपदके हेतु आजमैं, पूज करो थारी ॥

आचार्य अभिनन्दन ऋषिराज, आपहो चन्द्र छटा धारी।
डूबतहों भवसिंधु बचाओ, अरज यही हमारी ॥ ४ ॥

ॐ-ह्रीं तपोनिधि आचार्य श्री अभिनन्दनसागर गुरु चरण-कमलेभ्यो अक्षयपद प्राप्तये अक्षतं निर्वपामीति स्वाहा।

पुष्प सुगंधित सुंदरलाकर, भक्तियुक्तहो तुह्मे चडाकर।
काम अग्निकी ताप मिटावन, दरश शांत वारी ॥
आचार्य अभिनन्दन ऋषिराज, आपहो चन्द्र छटा धारी।
डूबतहों भवसिंधु बचाओ, अरज यही हमारी ॥ ५ ॥

ॐ-ह्रीं तपोनिधि आचार्य श्री अभिनन्दनसागर गुरु चरण कमलेभ्यो कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा।

नानाविधि नैवेद्य बनाया, चरण कमलमें आन चढ़ाया।
क्षुधा वेदनी हरो यह ड़ाइन लागे महा खारी ॥
आचार्य अभिनन्दन ऋषिराज आपहो चन्द्र छटा धारी।
डूबतहों भवसिंधु बचाओ, अरज यही हमारी ॥ ६ ॥

ॐ-ह्रीं तपोनिधि आचार्य श्री अभिनन्दनसागर गुरु चरण कमलेभ्यो क्षुधारोग विनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा।

मोहराजका राज मिटाने, मनहर सुंदर दीप सजाने।
पादपम्दकी करूं अर्चना, तोरी छवि न्यारी ॥
आचार्य अभिनन्दन ऋषिराज आपहो चन्द्र छटा धारी।
डूबतहों भवसिंधु बचाओ, अरज यही हमारी ॥ ७ ॥

ॐ:ह्रीं तपोनिधि आचार्य श्री अभिनन्दनसागर गुरु चरण कमलेभ्यो मोहान्धकार विनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा।

कृष्णागरकी धूप बनाई, बात होत्रमें चरण चढ़ाई।
या प्रसादसे हमारी गुरुवर मिटे करम कारी ॥
आचार्य अभिनन्दन ऋषिराज आपहो चन्द्र छटा धारी।
डूबतहों भवसिंधु वचाओ, अरज यही हमारी ॥ ८ ॥

ॐ-ह्रीं तपोनिधि आचार्य श्री अभिनन्दनसागर गुरु चरण कमलेभ्यो अष्टकर्म विनाशनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा ।

श्रीफल और बादाम सजाऊं पूज चरण हृदय हरषाऊं ।
तपोनिधि अब ऐसी करो मोहि वरे मुक्ति नारी ॥
आचार्य अभिनन्दन ऋषिराज, आपहो चन्द्र छटा धारी ।
डूबतहों भवसिंधु बचाओ, अरज यही हमारी ॥ ९ ॥

ॐ-ह्रीं तपोनिधि आचार्य श्री अभिनन्दनसागर गुरु चरण कमलेभ्यो मोक्षफल प्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा ।

अष्ट द्रव्यले अर्ध्य चढ़ाया, शुद्धभाव धरि शरणें आया ।
हुआ यह अनुभव आज जगतकी सारी विपत टारी ॥
आचार्य अभिनन्दन ऋषिराज आपहो चन्द्र छटा धारी ।
डूबतहों भवसिंधु बचाओ, अरज यही हमारी ॥१०॥

ॐ-ह्रीं तपोनिधि आचार्य श्री अभिनन्दनसागर गुरु चरण कमलेभ्यो अनर्ध्यपद प्राप्तये अर्ध्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

जयमाला

दोहा

महागुणोंकी खान हो, प्रगटे पंचम काल ।
हरो हमारे दोषकों, गाऊं शुभगुण माल ॥ १ ॥

पद्धरिछन्द

जय जय जय अभिनन्दन गुरु महान्, पितुसातप्पा आनन्द कन्द ।
जननी लक्ष्मीमतीके नन्द, जाति पंचमके सूर्यचन्द ॥
तोरी जन्मभूमि नसलापुरीय, शुभ महुरतमें तहां अवतरीय ।
गुरु धन्य भयो दक्षिण सुदेश, तहांराज था कोल्हापुर नरेश ॥
तुम बाल्यकालसेही उदास, आतममें समकितको प्रकाश ।
याही प्रकार यम विततजाय, क्रम क्रम आयू द्वय बीसथाय ॥

तब जननी जनक कीनो विचार, कोई सौम्यकन्या कांति आगार।
इक योग्य पुत्रको देखसार, कीजे विवाह मनहर्ष धार ।।
तब तुम जानी पितु जननि बात, दीनो जबाब पुलकित सुगात।
मैंव्याह करनको नांहि तात, ये नारी नरन जगमें डुबात ।।
मोरी है शिवरमणि सूँचाह, पितु जननी ऐसो कीजे विवाह।
तुम श्रावक व्रतधारी महान्, तब खेत मांहि धारयोसुध्यान ।।
तबही मूषक गणतहां आय, तुम चरणोंकी अंगलियां खाय।
नहिं ध्यान भंग कीनो गुरु महान्, जय जय जय अतिसाह शीश ।।
तुम ध्यान पूर्ण जब हुआ आय, जानी चरणोंसे रुधिर जाय।
तब मात-पिता उपचार कीन, नहिं भाव भये तुमरेसु दीन ।।
तब तुम जानी जगहे असार, पढ़िये विद्या संस्कृत अपार।
इम बहुत काल अभ्यास कीन, तुरंतही विद्यामें भये प्रवीन ।।
आये आदिसागर आचार्य, उदगांव मांहि थिरता करीश।
विक्रम संवत् द्वयहजार, फाल्गुन सुदी वारस सवार ।।
शुभ महूरत पुखनक्षत्र मांहि, तहां श्रावक जन वहुरहे छाहि।
वहां क्षुल्लक वृति धारी महान, महावीर कीर्ति आचार्यके पास ।।
फिर मास द्वयके पूर्णबाद, वैशाख कृष्ण पंचमी याद।
यादिना सांगली गांव खास, आचार्य महावीरकीर्तिजीके पास ।।
भये निरग्रन्थ गुरुराजचन्द, श्री अभिनन्दनसागर स्वच्छद।
परमपूज्य आचार्य पदसे, भूषितहो सुजान ।।
श्री आचार्य अभिनन्दनसागर, पदसार्थक हो महान्।
तुम वाम हस्तपै नागचिह्न, अबहरो दुःख हम अर्ज कीह्न ।।
सब जीवनके हो पिहर आप, अब हरउ हमारा मोहताप।
तुम शांतचित्त चेतन स्वरूप, नहिं वरणि सकें महिमा अनूप ।।
मुख दर्श देख हम याद आय, तुरिकाल जिसी छविरही छाय।
भवि अर्ज करे आखरी आज, मोहि जगसे निकालो राखो लाज ।।

ॐ-ह्रीं तपोनिधि आचार्य श्री अभिनन्दनसागर चरण-कमलेभ्यो पूर्णार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

धत्ता

आचार्य अभिनन्दन चन्दा, गुरु वरिन्दा, हरो हमारे फन्दाजू।
शिवरानीन्दा भावीनरेन्दा, काटो करमका कन्दाजू॥
भव भय हन्दा आनन्द कन्दा, हमरे हियेके चन्दाजू।
रामसु चन्दा अरज करिन्दा, मेटो गोरख धन्दाजू॥

(इत्याशीर्वादः)

स्तुति

ॐ जय अभिनन्दन सूरी, जय अभिनन्दन सूरी।
आरतभाव निवारण कारण चरण शरण तेरी॥
ॐ जय अभिनन्दन सूरी॥ टेक॥

(१) धर्म ध्यानमें निशिदिन रहते, रौद्रध्यान हारी।
स्वामी रौद्रध्यान हारी, शुक्ल ध्यान धरने को ऋषि॥
इन्द्रियां दमी सारी॥ ॐ जय॥

(२) क्रोध मान और माया लोभ की जगमें ताप भारी।
स्वामी जगमें ताप भारी। ताहि बुझावन प्रगटे गुरुवर
ज्ञानामृत वारी॥ ॐ जय०॥

(३) पंचमहाव्रत पंचसमिति अरु तीन गुप्ति धारी।
स्वामी तीन गुप्ति धारी, बालब्रह्मचारी अवतारी॥
आत्म बोध कारी॥ ॐ जय०॥

(४) भवि कमलोंके सूर्य तुम्ही हो अर्ज सुनो हमारी।
स्वामी अर्ज सुनो हमारी। निज आतमका ज्ञानशिखाकर
मेटो भव फेरी॥ ॐ जय०॥

(५) काल अनादि भ्रमें जगमें अब शरण मिली तेरी।
स्वामी शरण मिली तेरी, रामचन्द्रको वेगि उबारो हो
करुणा लहरी॥ ॐ जय०॥

(पद १)

सूरि अभिनन्दन चरणों का दर्श जो पहले हो जाता ।
तो चेतन अबतक संसार में गोते नहीं खाता ॥ टेक ॥

(१)

टोलसा अज्ञानी होकर ठोकर दर दर की खाई ।
नारकि तिरयंच गती, नर स्वर्ग की बार बार पाई ॥
जन्म की बीमारी छूटती जों, चरणगुरु हार हों पाता ॥ सूरि ॥

(२)

तुझे इस कर्म वैरीने जगत में यूं रूलाया है ।
मधुर सुख परियन में दिखला मिष्ट में जहर पिलाया है ॥
निकलता सूर्य यह पहले, ज्ञानका कमल खिल जाता ॥ सूरि ॥

(३)

पधारे आप जो स्वामी बने हम आज बड़ भागी ।
मिली है आत्म निधि मानो अनादि भूल सब भागी ॥
बेड़ियां कर्मकी कट गई 'राम' अब निश्चय यूं लाता ॥ सूरि ॥

(पद २)

ऋषिराज तुम्हीं दुःख हरते हो मेरा साथी न संगी कोय ॥ टेक ॥
नरक निगोद अनन्त रहायो, नीठ नीठ स्थावर गति आयो ॥
तहां छेदन भेदन दुःख सहै वो केवलि जाने सोय ॥ १ ॥
याविधि वेदन पाप घनेरी, त्रसहो भयो तिरयंच सवेरी ।
फिर भारारोपण कष्ट पड़े, वो कहि न सकूं मैं पोय ॥ २ ॥
कोई पुण्य उदय भयो भारी, मैं देव भयो रिद्धिर धारी ।
वहां पर की सम्पत्ति देख ऋषिजी झाल उठी तन जोय ॥ ३ ॥
आयु जलधि तेतीस बिताई, मरण चिह्न माला मुरझाई ।
फिर मात गरभ में पड़कर स्वामी, सुधबुद विसरी सोय ॥ ४ ॥
कठिन कठिन नव मासही आये, जो दुःख पाये केवलि गाये ।
'राम' खड़ा बन भिक्षुक दर पै झोलि मोक्ष हो मोय ॥ ५ ॥

पद (३)

आचार्य अभिनन्दन ऋषिराज, अरजचित्त धारना जी ।
मैं अब भवसागरमें डूब्यो, नैया तारना जी ॥ टेक ॥
थे हो समकित तणां निशान, मैं सब अज्ञानी ।
गलती होगई करदो माफ चरणों वारना जी ॥ १ ॥
ऋषिवर चरित्र चोख संभाली, आतमज्ञानकी किरिया पाली ।
तुम हो भेद विज्ञानी गुरुवर, हमें निहारना जी ॥ २ ॥
सहते बाईस परिषह भारी, तपस्वी क्रोध लोभ मदहारी ।
हमको कर्मोंने है घेरा, संकट टारना जी ॥ ३ ॥
करुणा कीजो करुणा धरजी यही 'रामचन्द्र की अरजी ।
भ्रम रहा लख चौरासी मांही, बेग उबारना जी ॥ ४ ॥

रामचन्द्र रामप्रसाद जैन अग्रवाल इन्दौर (मध्यभारत)
कृत पूजन भजन तथा परिचय समाप्त ।

जैनसंदेश से तारीख ५ नवम्बर सन् १९५३ में प्रकाशित हुआ आदेश

उत्सर्ग तथा अपवाद मार्ग का खुलासा—

स्याद्वाद वारिधि वादिगजकेसरी, चरित्रशील शिरोमणी, योगीसम्राट् विश्ववंद्य, परमपूज्य आचार्य श्री १०८ अभिनन्दनसागरजी महाराजका आदेश——

श्री भगवती आराधना ग्रन्थ में यह विषय प्रतिपादित है—

आचे लक्कं लोचो वोसट्ट सरीरदाय पडिलिहणम् ।
एसोहु लिंग कप्पो । चदुव्विहो होदि उस्सग्गे ॥ ८२ ॥
उस्सग्गिय लिंग गदस्स लिंग मुस्सग्गियं तयं चेव ।
अववादिय लिंगस्सवि, पसत्थमुव सग्गियं लिंगं ॥ ७९ ॥

औत्सर्गिकमचेलत्वं लोचो व्युत्सृष्ट देहता ।
प्रति लेखनमित्येवं लिंगमुक्तं चतुर्विधम् ॥ ८२ ॥
तदौत्सर्गिकलिंगानां लिंगमौत्सर्गिकं परं ।
अनौत्सर्गिकलिंगानामपीदं वर्ण्यते जिनैः ॥ ७९ ॥

मूलाराधनायां–द्वितीयोऽध्याये-पूर्वनिर्दिष्टोत्सर्गलिंगस्वरूपनिरूपणार्थोत्तरगाथा–सम्मिलिताविजयोदया–अच्चेलक्कमिति । अच्चेलक्कं अचेलता । लोचोकेशोत्पाटनं हस्तेन । वोसट्टसरीरदाय व्युत्सृष्टशरीरताच । पडिलहणं प्रतिलेखनं । एसोदु एषः । लिंगकप्पो लिंगविकल्पः । चउव्विहो चतुर्विधः भवति । उस्सग्गे औत्सर्गिकसंज्ञितेलिंगे ।

मूलाराधना–आचेलक्कं वस्त्राद्यभावः । नैर्ग्रंथ्यमित्यर्थः । लोचोहस्तेन केशोत्पाटनं । वोसट्ट व्युत्सृष्टं त्यक्तं, असंस्कारं इत्यर्थः । लिंगकप्पो लिंगविधिः ॥

विजयोदया–उस्सग्गियलिंगकदस्स उत्कर्षेण सर्जनंत्यागः सकलपरिग्रहस्य उत्सर्गः । उत्सर्गेत्यागे सकलग्रन्थपरित्यागे भवंलिंगं औत्सर्गिकं । किंकरोति क्रियासामान्यवचनोऽत्रसृज्यर्थो ग्राह्यः । तेनायमर्थः औत्सर्गिकलिंगस्थितस्य भक्तप्रत्याख्यानाभिलाषवतः तंचेव उस्सग्गिगं लिंगंतदेव प्राक्गृहितं लिंगंऔत्सर्गिकम् । अववादियलिंगस्सवियतीनामपवादकारणत्वात् परिग्रहोऽपवादः, अपवादो यस्यविद्यते इत्यपवादिकं परिग्रहसहितं लिंगं अस्येत्यपवादिकलिंगं भवति । वाक्यशेषं कृत्वा एवं पदसंबन्धः कार्यः ।

जइ पसत्थलिंगं जइ यदि प्रशस्तं शोभनंलिंगं मेहनं भवति । चर्मरहितत्वं, अतिदीर्घत्वं, स्थूलत्वं, असकृदुत्थानशीलतेत्येवमादिदोषरहितं यदि भवेत् । पुंस्त्वविगता इहगृहीतेति लिंजयोरपि लिंगशद्वेन ग्रहणं । अतिलम्बमानतादिदोषरहितता । प्रशस्ततापितयोर्गृहीता ।

मूलाराधना–उस्सग्गियलिंगकदस्स उत्कर्षणसर्जनमुत्सर्गः सकलपरिग्रहत्यागः । तत्र भवमौत्सर्गिकं तच्चतल्लिंगं च तत्र कृतः

स्थितः तस्ययतेर्भक्तं त्यक्तुमिच्छोः । तयं चेव तदेव प्राग्गृहीतमेव भवेत् । अववादियलिंगस्स । यतीनां अपवादहेतुत्वादपवादः परिग्रहः सोऽस्यास्तीत्यपवादिकं लिंगं यस्यसोऽपवादिर्कलिंगः सग्रन्थचिह्न आर्यादिस्तस्यापि भक्तं त्यक्तुमिछोरौत्सर्गिकमेवलिंगं वर्णितम् । यदिनिश्चर्मत्वातिदीर्घत्वस्थूलत्वासकृदुत्थानशीलत्वादिदोषरहितं, वृषणौ चातिलम्वमानतादिदोषवर्जितौ स्याताम् ।

(८२) गाथा तथा संस्कृत विजयोदयाका हिंदी अर्थः—पूर्वमें नाममात्रसे कहे हुए उत्सर्गलिंगका स्वरूप कहते हैं——

संपूर्ण वस्त्रोंका त्याग नग्नता, लोच-हाथसे केश उखाड़ना शरीर-परसे ममत्वका त्याग करना अर्थात् कायोत्सर्ग करना, तथा प्रतिलेखन प्राणिदयाका चिह्न, मयूर पीछि हाथमें ग्रहण करना इस तरह चार प्रकारका औत्सर्गिकलिंग है।

(७९) गाथा तथा विजयोदयाका हिंदीं अर्थः—उत्सर्ग समस्त परिग्रहका त्याग करना यह उत्सर्ग है, अर्थात् अखिल परिग्रहका जब त्याग होताहै तव उस समयमें जो चिह्न मुनि ग्रहण करते हैं उसको औत्सर्गिकलिंग कहते हैं; अभिप्राय यह है कि, जिस साधुने समग्र परिग्रह छोड़कर पूर्ण दिगम्बरता स्वीकारकी है उसलिंगको औत्सर्गिकलिंग कहते हैं। जब साधु भक्त प्रत्याख्यान ग्रहण करता है, तबभी उनकानग्नत्व ही लिंग रहेगा।

यतीको परिग्रह अपवादका कारण होता है अतएव परिग्रह युक्त लिंगको अपवादिकलिंग कहते हैं। अपवादलिंग धारक गृहस्थ जब भक्त प्रत्याख्यानके लिये उद्युक्त होताहै तव उसके पुरुषलिंगमें यदि दोष नहीं हो तो औत्सर्गियलिंग धारण कर सकता है, पुरुषके लिंगमें चर्म नहीं होना, अतिशय दीर्घ होना, वारवार चेतना पैदा होकर ऊपर उठते रहना, ऐसे दोष यदि होंगे, तो वह ग्रहस्थ दिगम्वर-दीक्षा लेनेके योग्य नहीं है। उसी तरह उसका अंड़कोशभी अतिशय मोटा हो तोभी गृहस्थ दैगम्वरीयदीक्षाकेलिये अयोग्य है। किन्तु एवं दोपविशिष्ट ग्रहस्थ भक्तप्रत्याख्यानके समय एकान्त स्थानमें ही सब परिग्रहका त्याग करके नग्न हो सकता है।

श्री भगवती आराधनाग्रन्थेऽन्यापि संस्कृत वृत्ति विद्यते यथा—द्रव्यलिंगं प्रतीत्येति—तत्किं ? केचिदसमर्था महर्षयः शीतकालादौ

कम्बलशद्ववाच्यं कौशेयादिकं गृह्लन्ति, न तत्प्रक्षालयन्ति न सीव्यन्ति न प्रयत्नादिकं कुर्वन्ति। अपर काले परिहरन्ति। केचिच्छरीरे उत्पन्न दोषाल्लज्जितत्वात् तथा कुर्वन्तीति व्याख्यानमाराधना भगवती प्रोक्ताभिप्रायेणापवादरूपं ज्ञातव्यं। उत्सर्गापवादयोरपवादो विधिर्बलवानिति तावद्यथोक्तमाचेलक्यं प्रोक्तमस्ति। आर्यासमर्थदोषवच्छरीरापेक्षयापवाद व्याख्याने न दोषः अमुमेवाधारं गृहीत्वा जैनाभासाः केचित् सचेलत्वं मुनीनां स्थापयन्ति। तन्मिथ्या साक्षात् मोक्षकारणं निर्ग्रन्थलिंगमिति वचनात्। अपवाद व्याख्यानमुपकरण कुशीलापेक्षया कर्तव्यम्।

भावार्थः—द्रव्यलिंगको लेकर साधुओंमें विभाग किये गये हैं, इसका क्या प्रयोजन हैं ?

समाधान—कई असमर्थशाली महर्षीगण शीतकाल आदि ऋतुओंमें कम्वल शव्दसे वाच्य कौशेय आदिकके वस्त्रोंको ग्रहण करते हैं तथापि उनके प्रक्षालन, सीवन, सम्हाल आदिका प्रयत्न नहीं करते हैं तथा अन्य ऋतुओंमें उनका परित्याग भी कर देते हैं एवं कोई कोई महर्षि शरीरमें दोष पैदा होनेसे लज्जित होकर वस्त्रादि स्वीकार करते हैं, ऐसा अपराजितसूरिके कथित अभिप्राय से व्याख्यान को अपवाद रूप जानना।

उत्सर्गलिंगकी अपेक्षा अपवाद मार्गियोंकी वहुलता होनेसे अपवादमार्ग को ही वलवान माना गया है। इसलिये उपरोक्त अपवाद रूप आचेलक्य कहा गया है।

आर्यिकाके लिये असमर्थ होनेसे अपने सदोषित शरीरापेक्षया वस्त्र ग्रहण करनेसे इस अपवाद व्याख्यानमें कोई दोष नहीं आता। कतिपय जैनाभास इस आधारको लेकर मुनियोंको वस्त्र सहित स्थापित करते हैं, किन्तु उनका वैसा करना मिथ्या है, क्योंकिसाक्षात् मोक्षका कारण निर्ग्रन्थलिंग ही कहा गया है।

अपवाद व्याख्यान जो किया गया है वह उपकरण कुशीलापेक्षया है सो ज्ञात करें। आधुनिक समयमें कलिकाल दोषके कारण परम वीतरागी अधिकांश साधुगणभी अपनी सामर्थ्य हीनताको प्रकट करते हुए शीतकालादिमें मोटे-मोटे वस्त्रोंकी गुमठियों तथा मच्छर दानियोंको प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं,

आचेलक्य महाव्रतधारी निष्परिग्रही साधुओंको इस प्रकार स्वच्छन्द वर्तन करना यह आर्षमार्ग नहीं है।

कुन्द कुन्दाचार्य कृत योगसार पाहुड़ (प्राभृत) में कहा है–

भरये पंचम काले जिण मुद्राधार ग्रंथ सव्वसे।
साड़े सात करोर जाइये निगोय मज्जमि ॥ १ ॥

अर्थः–इस भरत क्षेत्रमें इस पंचम कालके निमित्तसे परिग्रह लोभको धारण कर दिगंवर या दिगंवर (मुनि) उपासक कहला कर साढ़ेसात करोड़ ऐसे भ्रष्ट परिग्रहधारी लोभी मुनि तथा भ्रष्ट अंधश्रद्धाधारी नामधारी गृहस्थ निगोद जायेंगे। क्योंकि परिग्रह लोभी दिगंवर संप्रदायमें इस पंचमकालके माहात्म्यसे विषय कषायके लोभमें जीव फसकर दुःखी होंगे ऐसा सिध्दान्त है।

सिध्दान्तमें यहभी वतलाया गया है कि इस भरतक्षेत्रमें ऐसे भी जीव उत्पन्न होंगे जो कि यहां से सम्यक्त्वसे मरकर सीधे विदेह क्षेत्रमें उत्पन्न होकर (सम्यग्दृष्टिही) नववर्ष वाद केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष चले जावेंगे।

सन् १९५३ में जैनहितेच्छुके अङ्कमें दिया हुआ आदेश निम्नलिखित

–मुनि संघमें आर्जिकाका निषेध–

वज्जेह अप्पमत्ता अज्जासंसग्ग मग्गिविससरिसं।
अज्जाणुचरो साधू लहदि अकित्तिखु अचिरेण ॥ ३३० ॥

त्याज्यार्या संगतिर्गरवद्वह्नि ज्वालेव तापिका।
दुर्न्नीतेरिव निंद्याया दुःकीर्ति लभते ततः ॥ ३३० ॥

विजयोदया–वज्जेह वर्जयत अग्निना विषेण सदृशः आर्याजन-संसर्गः। प्रमादरहितैर्भवद्भिस्त्याज्यः। अज्जाणुचरो आर्यानुचरः। साधू साधुर्लहदि अकित्ति लभते अयशः अचिरेण अचिरेण। चित्तसंन्तापकारितया अग्निसदृशता। संयमजीवितविनाशनाद्विषसदृशता।

पापस्य अयशसश्च प्रायेण भीरुलोकोऽपिसाध्वाचारः मिथ्यादृष्टिरसंयतोऽपि किं–

पुनर्विदितवेदितव्यस्य। परिहार्यमशेषंउद्यतः परिहर्तुंयतिजनः वेदितव्यस्य पापमयशश्च न परिहरेत्। तथाचश्लोकः–

कायेपातिनि का रक्षा यशोरक्ष्यमपातियत्।
नरः पतितकायोऽपि यशः कायेन धार्यते॥

आर्यासंसर्गदोषान् गाथानवकेनाह–

मूलाराधना–अग्गिविससरिसं चित्तसन्तापापादनादग्निना संयम जीवितविनाशनाद्विषेण च तुल्यमर्जिकासंसर्गं यूयंत्यजत। अकीर्ति पापादकीर्तेश्च प्रायेण पृथग्जनोऽपि बिभेति किं पुनर्विदितवेदितव्यस्त्याज्यमशेषंत्यक्तुमुद्युक्तो यतिजनः। अर्जिकानुवृत्तिश्चभिक्षोरचिरादयशस्करीति सुतरां परिहार्येतितात्पर्यम्। तथा चलोको वक्ति–काये पातिनि का रक्षा यशोरक्ष्यमपातियत्। नरः पतितकायोऽपि यशः कायेन धार्यते।

अर्थः–हे साधुगण! तुम प्रमाद छोड़कर आर्यिकाका सहवास छोड़ो। क्योंकि आर्यिकाका सहवास अग्नि और विषके समान है, चित्तमें संताप उत्पन्न करतां है इसलिए इनका सहवास अग्नितुल्य है। तथा संयमरूप जीवीतका हरण करता है, अतएव विषतुल्य है। आर्यिकाका अनुसरण करने वाला मुनि निश्चयसे अपकीर्तिका धारक होता है, प्रायः पाप व अपकीर्तिसे डरनेवाले मिथ्यादृष्टि और असंयमी सामान्य लोगभी सच्चा आचरण करते हैं, किन्तु मुनि तो हेय, उपादेय सब जानते हैं, अतः उनके लिये कहना ही क्या? उन मुनिओंको आर्यिकाका संघ छोड़ना ही श्रेयस्कर है। जितने त्याज्य पदार्थ हैं उनको त्यागनेके लिये मुनिजन तत्पर होते हैं, इसलिये उनको पाप तथा अयशका अवश्य त्याग करना जरूरी है। यशके संबंधमें आचार्य ऐसा कहते हैं कि–नश्वर शरीर तो गिरेगा ही हम उसकी संरक्षा कैसे करसकते हैं, किन्तु यशका संरक्षण करना हमारा परम कर्तव्य है। आदमीका शरीर तो आयुके अंतमें अवश्य छूटेगा, लेकिन यशरूपीशरीर नहीं छूटेगा। मृत्यु होने परभी उनका यश अजरामर दुनियांमें रहेगा ही अतः कीर्तिसंपन्न आदमी (मनुष्य) सदैव (निरंतर) अमर ही रहेगा ऐसा सज्जन कहते हैं।

थेरस्सवि तवसिस्सवि बहुस्सुदस्सवि पमाणभूदस्स ॥
अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं हवेज्जादि ॥ ३३१ ॥

स्थविरस्य प्रमाणस्य शास्त्रज्ञस्य तपस्विनः ॥
आर्यिकासंगतेः साधोरपवादो दुरुत्तरः ॥ ३३१ ॥

विजयोदया—थेरसस्थविरस्य। तवसिस्सवि अनशनादि तपस्युद्यतस्यापि। बहुसुदस्सवो बहुश्रुतस्यापि। पमाण भूदस्स प्रमाण भूतस्य। अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं हवेज्जादि आर्यापरिचयाज्जनापवादो भवति।

मूलाराधना—तवस्सिस्स अनशनादि तपस्युद्यतस्य। जणजंपणयं लोकापवादः।

अर्थः—मुनि वृद्धतपस्वी अर्थात् उपवास, अवमोदर्य, रसपरित्याग, इत्यादि तपश्चर्या करनेवाले, बहुश्रुत एवं लोकमान्य होने परभी यदि वे आर्यिका का सहवास रक्खेंगे तो शीघ्रही लोकापवादके भागी होंगे। आर्यिकाके साथ संबंध होनेसे, उन महान् तपस्वीकी निंदा होना अनिवार्य ही है।

किं पुण तरुणो अबहुस्सुदोय अणुकिट्टतवचरित्तोवा।
अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं ण पावेज्ज ॥ ३३२ ॥

न किं यूनोऽल्पविद्यस्य मंदं विदधतस्तपः।
कुर्वाणस्यार्यिकासंगंजायते जनजल्पनम् ॥ ३३२ ॥

विजयोदया—किंपुण ण पावेज्ज जणजंपणयंकिं पुनर्नप्राप्नुयाज्जनापवादं वा ? प्राप्नोति नियोगतः। केन ? अज्जासंसग्गीए अर्यागोष्टया। कः ? तरुणो अबहुस्सुदो अणुकिठ्ठतवचरित्तोयतरुणो यतिरबहुश्रुतोऽनुत्कृष्टतपश्चारित्रश्च।

मूलाराधना—अणुकिठ्ठं अनुत्कृष्टं अज्जासंसग्गोए आर्याजनगोष्टया।

अर्थ—जो जवान हैं तथा वहुश्रुताभ्यास जिसमें नहीं है, एवं हिताहितका विचार नष्ट प्राय है, जो उत्कृष्ट चारित्रका धारक नहीं, ऐसे यतिआर्यिकाके संसर्गसे

जननिंदाको प्राप्त नहीं होगा ? अवश्य होगा, तात्पर्य यह है कि, जब विवेक संपन्न महान् तपस्वी तथा लोकमान्य ऐसे साधुभी आर्जिकाके सहवाससे अपकीर्तिको प्राप्त करते हैं, तो मामूली अल्पज्ञमुनिओंके विषयमें कहना ही क्या ?

जदि विसयं थिरबुद्धि तहाविसंसग्गिलद्धपसराए ।
अग्गिसमीवे व घदं विलेज्जचित्तं खुअज्जाए ।। ३३३ ।।

आर्यिकामानसं सद्योयतिसंगे विनश्यति ।
सर्पिर्वह्नेः समीपे हि काठिन्यं किं न मुञ्चति ।। ३३३ ।।

स्वयंसाधोः स्थिरत्वेऽपि संसर्गप्राप्तधृष्टता ।
क्षिप्रंविभावसोः संगेसालाक्षेव विलीयते ।। ३३४ ।।

विजयोदया—जदि विसयं थिरबुद्धी यद्यपिस्वयं स्थिरबुद्धिः । तहा वि तथापि । संसग्गिलद्धपसराए संसर्गाल्लब्ध प्रसरायाः । अज्जाए-आर्यायाः । चित्तंविलेज्ज चित्तं द्रवति । किमिव ? अग्गिसमीवे व घदं अग्निसमीपस्थं घृतमिव । न केवलमार्याजन एव परिहरणीयः किन्तु—

मूलाराधना—थिरबुद्धी स्थिरचित्तोयतिः । संसर्गियतिना सह-गोष्टी तया लब्धः प्रसरश्चित्तोल्लासोयया । विलेज्ज विलीयते ।

अर्थः—मुनि यद्यपि स्थिर बुद्धिका धारक होगा तो भी मुनिके सहवाससे जिसका चित्त चंचल हुआ है ऐसी, आर्यिका उसका जोमन आगीके पास घी रखने से जैसा वह पिघल जाता है वैसा मुनिका मन नियमसे पिघलेगा, इसलिये मुनि व आर्यिका इनको अन्योन्य परिचय छोड़देनाही आर्षोक्त है ।

सव्वत्थ इत्थिवग्गम्मि अप्पमत्तोसया अवीसत्थो ।।
णित्थरदि बंभचेरं तव्विवरीदो ण णित्थरदि ।। ३३४ ।।

अविश्वस्तोऽगनावर्गे सर्वत्राप्य प्रमादकः ।।
ब्रह्मचर्यं यतिः शक्तो रक्षितुं न परः पुनः ।। ३३५ ।।

विजयोदया—सव्वत्थ इत्थिवग्गम्मि सर्वस्मिन्नेव स्त्रीवर्गे बाला-कन्यामध्यमास्थविरासुरूपा विरूपेति विचित्र भेदे । अप्पमत्तो अप्रमत्तः प्रमादरहितः । सदा अवीसत्थो विश्वासरहितः । णित्थरइ निस्तरति

वंभचेरं ब्रह्मचर्यं। तव्विवरीदो तद्विपरीतः प्रमत्तः विश्वासवांश्च। ण, णित्थरदि न, निस्तरति। न केवलं आर्या एव त्याज्या। किं तर्हि सर्वोपिस्त्रीजन इत्यनुशास्ति-सर्वोऽपि।

मूलाराधना-सव्वत्थ बाला, कुमारी, युवतिर्मध्यमा, वृध्दा, सुरूपा, कुरूपा इत्यादिविचित्र भेदे अवीसत्था विश्वासरहितः। णित्थरइ मरणान्तं प्रापयति।

अर्थः-वालिका, अविवाहितकन्या, तरणी (यौवना) मध्यमा, वृद्धा, सुरूपा, कुरूपा, ऐसी समस्त स्त्रियोंमें मुनिको प्रमाद रहित होकर अत्यंत दूर रहना चाहिये। अर्थात् विश्वास नहीं करना चाहिये, इस रीतिसे प्रवृत्ति तत्पर रहनेवाले मुनि ब्रह्मचर्य व्रत निर्दोष पालन करेंगे नान्यथा।

आर्यानुचरणे दोषं प्रकटयति-

सव्वत्तो वि विमुत्तो साहू सव्वत्थ होई अप्पवसो॥
सो चेवहोदि अज्जाओ अणुचरंतो अणप्पवसो॥ ३३५॥

विमुक्तः सर्वतो जातः सर्वत्र स्ववशोयतिः॥
आर्यिकानुचरीभूतो जायतेऽन्यवशः पुनः॥ ३३६॥

विजयोदया-सव्वत्तो वि विमुत्तो साहू सव्वत्थ होइ अप्पवसो सर्वस्माद्वास्तुक्षेत्रादिकाद्विमुक्तः साधुः सर्वत्र भवति स्ववशः। सो चेव सएवात्मवशः। होइ भवति। अणप्पवसो अनात्मवशः। किं कुर्वन्? अज्जाओ अणुचरन्तो आर्याअनुचरन्।

मूलाराधना-सव्वत्तो वि सर्वस्माद्वास्तु क्षेत्रादिकात्। विमुत्तो व्यावृत्तचित्तः। अज्जाओ आर्यिकाः अणुचरंतो अनुवर्तमानः।

अर्थ-जो साधु मकान, खेत, धन, धान्यादि सव प्रकारके परिग्रहोंसे निर्ममत्व हैं, वेही समस्त वस्तुओंमेंसे अपने चित्तको स्थिरकर जितेंद्रियहो सकते हैं। किन्तु जो मुनि आर्यिकाके साथ परिचय रखता है वह अपने को आत्माके स्वरूपमें स्थिर नहींकर सकता अर्थात् जितेंद्रिय गुणको छोड़कर वहिरात्मावस्थामें रहेगा इसलिये आर्जिकाका संसर्ग मुनिओंके लिये सर्वथा निपिद्ध माना गया है।

खेलपडिदमप्पाणं ण तरदिजह मच्छिया विमोचेदुं ॥
अज्जाणुचरो ण तरदितह अप्पाणं विमोचेदुं ॥ ३३६ ॥
आर्यिका वचने योगी वर्तमानो दुरुत्तरे ॥
शक्तो मोचयितुं न स्वं श्लेष्ममग्नेव मक्षिका ॥ ३३७ ॥

विजयोदया–खेलपडिदमप्पाणं श्लेष्मपरीतमात्मानं। जह ण तरइ मच्छिया विमोचेदुं यथा न तरति मक्षिका विमोचयितुं। तह अज्जाणु चरो ण तरइ अप्पाणं विमोचेदुं तथा आर्यानुचरो न शन्कोति आत्मानं विमोचयितुं।

मूलाराधना–खेल श्लेष्मा। ण तरदि न शन्कोति।

अर्थ–जैसे मनुष्यके कफमें (थूकमें) गिरीहुई मक्खी उससे निकलनेमें असमर्थ होजाती है, वैसे आर्यिकाके साथ संसर्ग किये हुये मुनि उससे छुटकारा नहीं पाते। अर्थात् उसका स्नेह छोड़नेमें असमर्थ होजाते हैं।

साधुस्सणत्थिलोए अज्जासरिसी खुबंधणेउवमा
चम्मेणसह अवेंतोणयसरिसो जोणिकसिलेसो ॥ ३३७ ॥
नार्याबन्धेन बंधोऽन्यस्तुल्यो वृत्तच्छिदायतेः।
वज्रलेपः सनोतुल्यो यो याति सह चर्मणा ॥ ३३८ ॥
ब्रह्मव्रतंमुमुक्षूणां स्त्रीसंसर्गेण निश्चितम्।
मण्डूकः पन्नगेनेव भीषणेन विनाश्यते ॥ ३३९ ॥
चौराणामिव सांगत्यं पुंसासर्वस्वरक्षिणा।
योगिना योषितां त्याज्यं ब्रह्मचर्य प्रपालिना ॥ ३४० ॥

इत्यार्यासंगत्यजनसूत्रम्।

विजयोदया–साधुस्सणत्थिलोए अज्जासरिसी खुबंधणे उवमा। साधोर्नास्ति लोके आर्यासदृशी बन्धने उपमा। चम्मेणसह अवेंतो चर्मणासह अपगच्छन्। णयसरिसो जोणिगसिलेसोनैव सदृशः चर्मकार-श्लेषः। न केवलं आर्याजनोदूरत एव परिहार्यः अपि तु अन्यदपि वस्तु।

मूलाराधना–अज्जेत्यादि–अवेंतो द्रव्यमुपमा उपमेयं अस्यार्यि-कया सदृशं। तर्हि चर्मयोजितवज्रलेपसमबन्धा मुनेरार्यिका भविष्यतीति

शंकमानं प्रत्याह। चम्मेणेत्यादि अवेंतो अवगच्छन्। जोणिगसिलेसो व्रज्रलेपः। उक्तंच–

अर्थ–साधुके लिये आर्यिकाका सहवास ऐसा बंधन है कि उसका वर्णन करनेके लिये विश्वमें दृश्यमान कोईभी वन्धन उपमारूप नहीं है। चर्मके साथ वज्रलेपभी उसके लिये उपमा नहीं होसकती है, किसी चीजके ऊपर वज्रलेपके साथ चर्मका भी वन्धन किया जायतो भो वह वस्तु उस वन्धनसे मुक्त होनेकी संभावना है किन्तु आर्यिकाका संसर्ग ऐसा जवरदस्त वन्धन है कि, उससे साधु छूट नहीं सकते हैं।

अण्णं पि तहा वत्थुं जं जं साधुस्स बंधणंकुणदि।
तं तं परिहरह तदो होहदि दढसंजदातुज्झ॥ ३३८॥
यद्यदन्यदपिद्रव्यं किञ्चिद्बन्धन कारणम्।
तत्तत्त्रिधा निराकृत्य जायध्वं दृढसंयमाः॥ ३४१॥

विजयोदया–अण्णं पि तहावत्थुं अन्यदपि तथाभूतं वस्तु। जं जं साधुस्स वंधणं कुणइ यद्यत्साधोर्बन्धनं करोति अस्वतन्त्रतां करोति। तं तं परिहरहतत्तत्परिहारे उद्योगं कुरुत। ततः वस्तुत्यागात्। होहदिदढसंजदातुज्झ भवतां दृढसंयततागुणो भवत्येवमि ति यावत्। वाह्यवस्तुनिमित्तो ह्यसंयमस्तत्त्यागे त्यक्तो भवति।

न केवलमार्याजन एव दूरतस्त्याज्योऽपितु–

मूलाराधना–तधा तथा भूतमार्यिकासदृशमित्यर्थः। बंधणं पारतन्त्र्यं। तदो बंधनकारि वस्तुत्यागात्। होहिध भविष्यथ। दढसंजदा वाह्यवस्तुनिमित्तो ह्यसंयमस्तत्त्यागे त्यक्तो भवति। तुज्झे यूयं।

आर्यिकाओंकाही दूरसे त्याग करना चाहिये ऐसा नहीं किन्तु अन्य वस्तु काभी त्याग अत्यन्त आवश्यक है–यथा-क्षुल्लिका, ब्रह्मचारिणी. घडी, चष्मा इत्यादि कोंका भी साधु त्याग करें। क्योंकि महापरिग्रह है। अन्यभी–मोटर रखना, मन्दिरवनवाना, चन्दा करना निषेध है।

अर्थः–जिस-जिस वस्तुओंसे साधु वंधें जाते हैं, उस-उस पारन्त्र्यताको भी साधुगण! छोड़नेका अभ्यास कीजिये ऐसे निगलवत् अर्थात् वेड़ीके समान

बंधन कारक वस्तुओंका दूरसे त्याग करनेसे अपनेमें दृढ़ संयम गुणकी अवश्य प्राप्ति होगी। वाह्य वस्तुओंके संपर्कसे असंयम प्राप्त होगा अतः ऐसे वस्तुओंका त्याग होनेसे यथार्थ संयमका पालन होगा।

मूलाचारशास्त्र पृष्ठ (३७७)

तथा कुन्द कुन्दाचार्य विरचित मूलाचारमें भी कहा है कि साधुसंघसे आर्यिकाका संघ अलग ही रहेगा।

अगिहत्थमिस्स णिलये असण्णिवाए विसुध्द संचारे ॥
दो तिण्णिव अज्जाओ बहुगीओ वा सहत्थंति ॥ ७१ ॥

अगृहस्थमिश्रनिलये असन्निपाते विशुद्धसंचारे ॥
द्वे तिस्त्रो वा आर्या बह्यो वा सह तिष्ठन्ति ॥ ७१ ॥

णय परगेहम कज्जे गच्छे कज्जे अवस्सग मणिज्जे ॥
गणिणी मा पुच्छित्ता संघाडेणेव गच्छेज्ज ॥ ७२ ॥

नच परगेहम कार्ये गच्छेयुः कार्येऽवश्यं गमनीये ॥
गणिनीमापृच्छय संघाटेनैव गच्छेयुः ॥ ७२ ॥

पञ्च षट्सप्त हस्तान्सूरिं, अध्यापकंच साधूंश्च ॥
परिहृत्यार्या गवासनेनैव वन्दन्ते ॥ ७५ ॥

अर्थः—गृहथोंके द्वारा छोड़दिया गया है ऐसे शुद्ध (शून्य) मकानमें निवास करनेवाली आर्जिकाएँ कारण बिना गृहस्थोंके घर नहीं गमन करनेवाली अर्थात् आर्षोक्त संचार (विहार) करनेमें समर्थ शालिनी ऐसी आर्यिकाएँ दो, तीन, अथवा बहुत संख्यामें आर्यिकाका संघ रहता है।

निमित्त बिना दूसरेगृहस्थोंके घर संचार नहीं करनेवाली, तथा कारण-वश अवश्य शुभागमन करनेवाली ऐसी आर्यिकाएँ अपनी गणिनीको पूछकर वहुतोंका संघसहित होकर गमन करती हैं।

एवं आचार्यको पांच हाथके अंतरसे नमोऽस्तु करती हैं। तथाउपाध्या-यको छह हाथके प्रमाणसे गवासनसे नमोऽस्तु करती हैं। एवं सधुओंको सात हाथके दूरसे नमोऽस्तु करती हैं।

सन् १९५२ में जैनगजटके अङ्कमें आदेश दिया गया

चरणानुयोग शास्त्रसारसमुच्चयग्रन्थेऽयं श्लोको वर्तते—पृष्ठ १८८

हस्ताच्च्चयुते तथा ग्रासेऽव्रतिनः स्पर्शने सति ।।
इदंमांसोस्ति संकल्पेऽन्तरायाश्च मुनेः परे ।। ५५ ।।

अर्थः—साधुके हाथसे तथा दातारके हाथसे ग्रास नीचे गिर जाय, और अव्रतिओंका स्पर्शमात्र हो जानेपर अथवा यह वस्तु मांसके माफिक दीखती है ऐसा आहार लेते समय साधुके मनमें संकल्प, विकल्प पैदा होनेसे तुरन्त मुनिराज अंतराय समझकर आहारका त्यार करते हैं।

तात्पर्यः—व्रती श्रावक, श्राविकाओंसे आचार्य, उपाध्याय एवं साधुजन आहार लेते हैं अन्यथा अव्रतीओंका जिन शासनमें निषेध किया है।

सुभाषितम्

विद्वन्मन्यतया सदस्यतितरामुद्दण्डवाग्डबंराः ।
शृंगारादिरसैः प्रमोदजनकं व्याख्यानमातन्वते ।।
येतेच प्रतिसद्मनिसन्तिबहवो व्यामोह विस्तारिणो ।
येभ्यस्तत्परमात्मतत्वविषयं ज्ञानं तु-ते दुर्लभाः ।। १ ।।

अर्थः—अपने को विद्वान् मानकर अभिमानसे सभामें आकर अत्यंत उद्दंडतासे आडंबर पूर्वक तथा श्रंगारादिरसोंसे अर्थात् अलंकार युक्त भाषा शैलीसे जनमनोरंजन होने लायक व्याख्यान देनेवाले प्रत्येक घर-घरमें ऐंसे वहुत हैं। अर्थात् स्वयमेव मोहरूपी चक्करमें फंसकर दूसरेको भी अपने समान गड्ढेमें गिराने की कोशीश करनेवाले दुनियांमें पर्याप्त हैं। किन्तु परमात्म तत्वस्वरूप जानकर अपने आत्मकल्याण करनेवाले सज्जन मिलना वहुतही मुश्किल हैं।

देहेनिर्ममता, गुरौविनयता, नित्यंश्रुताभ्यासता,
चारित्रोज्वलता, महोपशमता, संसारनिर्वेगता,
अन्तर्वाह्यपरिग्रहत्यजनता, धर्मांगतासाधुता,
साधुः साधुजनस्य लक्षणमिदं संसारविच्छेदकम्, ।। २ ।।

अर्थः—निज शरीरपर ममत्व नहीं करना, गुणवान् गुरुजनोंमें शास्त्रोक्त विनय रखना, सदैव शास्त्राभ्यास कर मन निर्मल करना, अपना चारित्र निर्दोष रखना, उपशमभाव धारण करना, संसार समुद्रसे पार होनेका वैराग्यभाव ग्रहण करना, अन्तरंग, बहिरंग इन दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग करना, धर्म ध्यानमें कर्मसंवर एवं निर्जरापूर्वक स्वानुभवमें मग्न होना, यही सधुजनोंके प्रामुख्य लक्षण कहलाते हैं। इतने गुण जिन साधुओंमें होंगे वेही संसारका विच्छेदकर अनादि अप्राप्य ऐसे मोक्ष नगरीमें प्रवेश करते हैं।

वपुर्गृहं धनंदाराः पुत्रमित्राणि शत्रवः।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ॥ १ ॥

अर्थः—शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र, भाई ये सब अपने शत्रूही कहलाते हैं, अर्थात् अपनी आत्मासे अत्यंत भिन्न स्वभाववाले हैं किन्तु यह मूर्ख प्राणी इन शत्रूओंको अपना ही समझता हैं यही आश्चर्य है।

दाता परीक्षा दुर्भिक्ष काले, भार्या परीक्षा दारिद्र्य काले।
मित्र परीक्षा आपत्ति काले, शूर परीक्षा रणवाद्य काले ॥ ४ ॥

अर्थः—दातारकी परीक्षा दुर्भिक्षमें की जाती है, स्त्रीकी परीक्षा निर्धनावस्थामें, मित्रकी परीक्षा आपत्कालमें तथा शूर परीक्षा समरांगण (युद्धभूमी) में की जाती है।

शकटांना पञ्च हस्ते, वाजिनां दश हस्ते ॥
शस्त्रास्त्राणां सहस्त्र हस्ते, दुष्टानां दूर वर्जितम् ॥ ५ ॥

अर्थः—गाड़ीको जोते हुये बैलोंसे पांच हाथके अन्तरसे गमन करें, हाथीओंके समुदायसे दस हाथके दूरी परसे प्रयाण करें, शस्त्र-अस्त्र अर्थात् जहां युद्ध होरहा है उस स्थानके हजारों हाथोंके प्रमाणसे प्रवास करें, तथा दुर्जनोंके संसर्गसे हमेशा सज्जन दूरही रहें।

लोकापवादभीरुत्वं दीनाभ्युद्धरणादरः ॥
कृतज्ञता सुदाक्षिण्यं सदाचारः प्रकीर्तितः ॥ ६ ॥

अर्थः—लोकनिंदा, गर्हा इत्यादिकोंको पापमय समझकर भयसे रहना, गरीब लोगोंका संरक्षण तथा हरतरहसे मदतकर उनको उद्धार करनेकी दक्षता

रखना, किये हुये उपकारोंको नहीं भूलना, प्राणी मात्रपर दयाभाव रखना, तथा सदाचरण अर्थात् निर्दोष चारित्रका परिपालन करनेकी योग्यता रखना इत्यादि गुण प्रसिद्ध ही हैं।

केवल ज्ञानतो ज्ञानं निर्वाण सुखतः सुखम् ॥
आहार दानतो दानं नोत्तमं विद्यते परम् ॥ ७ ॥

अर्थः—केवलज्ञानके समान आत्मकल्याण करनेवाला इस जगतमें दूसरा ज्ञानही नहीं है, मोक्ष सुखके समान इस संसारमें अन्य सुख नहीं है, आहारदानके समान इस लोकमें तथा परलोकमें दूसरा दानही नहीं है इस प्रकार ये तीनों रत्नत्रयके माफिक उत्तमोत्तम कहलाते हैं। जैसे निश्चय रत्नत्रयसे आत्माको उसी भवसे मोक्ष प्राप्त हो जाती है, वैसे त्रैलोक्यमें इन तीनोंको छोड़कर अन्य कुछभी नहीं है ऐसा समझना चाहिये।

सद्यः प्रीतिकरं दानं, महापातक नाशनम् ॥
अन्न तोयसमं दानं, न भूतं न भविष्यति ॥ ८ ॥

अर्थः—तुरन्तही संतोष प्राप्तकर शारीरिक दुःख, संताप, शोक, तथा मानसीक पीडा समस्त आकुलतारूपी पापकर्मका नाश करनेमें समर्थ ऐसे अन्न, जलके समान दान तीनों कालमें भी नहीं हो सकता है।

पृथिव्यां त्रीणिरत्नानि, ह्यन्नमापः सुभाषितम् ॥
असुखे रत्नपाषाणे, रत्नशद्वो निरर्थकः ॥ ९ ॥

अर्थः—इस भूमिमें ये तीनही रत्न हैं कि, अन्न, जल तथा कर्णमधुर शास्त्रोक्त हित, मित एवं प्रिय भाषण। यदि मनुष्य ऐश्वर्य संपन्न होने परभी कंजूषतासे अपनेको एक निमिषमात्रभी सुख नहीं मिलेगा तो श्लोकमें आया हुआ रत्नशद्वनिरर्थक ही होगा उससे क्या प्रयोजन ?।

भुक्तमसाक्षिकमफलं, श्रुतमफलं दुर्विनीतस्य ॥
कृपणस्य च धनमफलं, यौवनमफलं दरिद्रस्य ॥ १० ॥

अर्थः—पूर्व जन्ममें जो पुण्य पैदा किया था उसका सर्वांश भोगकर खतम किया, किन्तु इस जीवनमें पुण्य नहीं किया तो उस आदमीको फल कहांसे मिलेगा दुराचारी आदमीका शास्त्राभ्यास फलद्रूप नहीं हो सकता, कंजूष (लोभी) मनुष्य संपत्ति संपन्न होता हुआ भी सुख नहीं पाता, अतः उसको निजधनका फल नहीं

मिलता, तथा दरिद्र पुरुषका सारा यौवनही बेकार है, समयोचित उस यौवनावस्था का सदुपयोग नहीं करता इसलिये इसको भी फल नहीं मिल सकता है।

संपत्पूरितता गुणैरधिकता, रत्नत्रयोज्जृम्भता ।।
स्यात्सौख्यं शुभभावना निपुणतानिर्वाणसंपत्क्रमात् ।। ११ ।।

अर्थः—रत्नत्रयकी पूर्णता होना, गुणोंकी भी अधिकता अर्थात् अन्यमें नहीं ऐसे गुणोंसे श्रेष्ठ, रत्नत्रयकी वृद्धिगता यही आत्मिक सौख्य है। शुभभावनाओंसे सहित तथा चातुर्यता इत्यादि प्रतिपादित अपूर्व गुण जिनमें हैं उनको मोक्षसुख हस्तगत ही समझना चाहिये।

।। प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ।।



द्वितीयोऽध्यायः

'तीर्थ' की व्युत्पत्ति एवं विस्तृत वर्णन

श्री अष्टसहस्र्यां प्रथमोऽध्याये प्रतिपादितम्—

तीर्थकृत्समयानां[७] च परस्परविरोधतः[८] ।
सर्वेषामा[९]प्तता[१०] नास्ति कश्चिदेव[११] भवेद्गुरुः ॥ ३ ॥

इति भगवतो महत्त्वे साध्ये तीर्थकरत्वं साधनं कुतः प्रमाणात् सिद्धम् ? न तावदध्यक्षात्तस्य तदविषयत्वात्[१२]साध्यवत् । नाप्यनुमाना-[१३]त्तदविनाभाविलिङ्गाभावात्[१४] । समयात्सिद्धमिति चेत् पूर्ववदा-गमाश्रयत्वादगमकत्वमस्य व्यभिचारश्च । न[१५] हि तीर्थकरत्वमाप्ततां साधयति—शक्रादिष्वसम्भवि सुगतादौ दर्शनात् । यथैव[१६] हि भगवति तीर्थकरत्वसमयोस्ति तथा सुगतादिष्वपि । सुगतस्तीर्थकरः, कपिल-स्तीर्थकर इत्यादिसमयाः सन्तीति[१७] सर्वे महान्तः स्त्युत्याः स्युः । न च सर्वे सर्वदर्शिनः परस्परविरुद्ध समयाभिधायिनः ।

टिप्पणियां—[७]तीर्थं परमागमलक्षणं कुर्वन्ति ये ते तीर्थकृतो जैनव्यतिरिक्तवादिनः कपिलादयस्तेषां समया आगमास्तेषाम् । [८]स्वकीयस्वकीयभिन्नाभिप्रायेण । [९]मीमांसक, सांख्य, सौगत, नैयायिक चार्वाक, तत्त्वोपलववादि, योग, ब्रह्माद्वैतवादि, पुरुषाद्वैतवादि चित्रा-द्वैतवादि, शब्दाद्वैतवादि, ज्ञानाद्वैतवादि प्रमुखाणां वादिनामेकान्तमताश्रयि-णाम् । [१०]यथाभूतार्थोपदेष्टृत्वम् । [११]परमतापेक्षया काक्वा व्याख्यानं, कश्चित्किं गुरुर्भवेदपितु न कश्चिद्गुरुर्भवेदिति । जैनमतापेक्षयायमर्थो ग्राह्योऽस्याः कारिकायाः, कः परमात्मा चिदेवार्हन् केवल्येवाप्तो भवे-न्नान्यः । [१२]प्रत्यक्षागोचरत्वात् । [१३]भगवान् धर्मीमहान् भवतीति साध्य-स्तीर्थकरत्वान्यथानुपपत्तेरितिहेतुः । योमहान् न भवति स तीर्थकरो न

भवति यथा रथ्यापुरुषः तीर्थकरश्चासौ तस्माद् महान् भवतीति। [१४]आगमात्। [१५]व्यभिचारमेव भावयति। [१६]एतन्नास्तीत्युक्ते आह। [१७]आशङ्क्य।

अर्थः—जैन व्यतिरिक्त वादी कपिलादिक उनकाजो आगम वह परस्पर भिन्न-भिन्न होनेसे विरोध उपस्थित होता है, अतएव मीमांसक, सांख्य, सौगत, नैयायिक, चार्वाक, तत्त्वोपप्लववादी, योगवादी, ब्रह्माद्वैतवादी, पुरुषाद्वैतवादी, चित्राद्वैतवादी, शद्बाद्वैतवादी, ज्ञानाद्वैतवादी, इत्यादि इन वादियोंका एकान्तमत (मिथ्यामत) होनेसे, इनमें आप्तता नहीं है। किन्तु जैनमतकी अपेक्षासे यह कारिका ग्रहणकी जाती है। यथा—कः परमात्मा चिदेवार्हन् केवल्येवाप्तो भवेन्नान्यः। इति। अर्थात् परमात्मा चित्स्वरूपी अर्हद्भगवान् केवली ही आप्त हैं, अन्य कपिल, बौद्ध, चार्वाक, सांख्य वगैरह नहीं।

भावार्थः—इस प्रकार भगवान्में ही महत्व साध्य होनेसे, वेही तीर्थंकर हो सकते हैं ऐसा जैन मतवादी कहनेसे मीमाँसादिकोंने प्रश्न उठाया है कि, कोनसे साधनसे आप सिद्ध करते हैं? प्रत्यक्ष प्रमाणसे नहीं करसकते क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय नहीं होनेसे अर्थात् साध्यके समान वह अगोचर है। नतु आप अनुमान प्रमाणसे सिद्ध कर सकते, उसका अविनाभावीलिंगका अभाव है। हम आगम प्रमाणसे करेंगे यदि ऐसा कहेंगे तो वहभी पूर्ववत् आगमका आश्रय करनेसे, उसमें अगोचरत्व है क्योंकि इसमें व्यभिचार पाया जाता है। वह तीर्थंकरमें आप्तता नहीं, सिद्ध करना जैसे शक्रादिकोंमें असंभव होनेपर, सुगतादिकोंमें अवलोकित होता है। जिस प्रकार भगवान्में तीर्थंकरत्व समय है उसी प्रकार सुगतादिकोंमें भी है, जैसे—सुगत तीर्थंकर है, कपिल तीर्थंकर है, इत्यादि समय (आगम) हैं, सबही महान् तथा स्तुत्य हैं। उत्तर—कपिल, सौगत (बौध्द) वगैरह सर्वज्ञ नहींहो सकते हैं, क्योंकि उनके परस्परमें मतभेद होनेसे तथा उनके आगमभी विरूद्ध हैं। किन्तु भगवान्ही महान् हैं यह साध्य है और तीर्थकरत्व अन्यथानुपपत्ति यह हेतु है, यथा—जो महान् नहीं वह तीर्थंकर नहीं जैसे—रथ्या पुरुष इधर-उधर गल्लीमें भटकने वाला आदमी।

तदेवं कारिका व्याख्यानमनवद्यमवतिष्ठते। तीर्थच्छेदसम्प्रदायानां तथा सर्वमवगतमिच्छतामाप्तता नास्ति, परस्परविरुद्धाभिधानात् एकानेकप्रमाणवादिनां स्वप्रमाव्यावृत्तेरिति। एकप्रमाणवादिनो हि

संवेदनाद्वैतावलम्बिनश्चित्राद्वैताश्रयिणः परब्रह्मशब्दाद्वैतभाषिणश्च सुगतादयो यथा तीर्थच्छेदसम्प्रदायास्तथा प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति वदन्तोपि चार्वाकाः, परमागमनिराकरणसमयत्वात् यथा च कपिलादयोनेकप्रमाणवादिनस्तीर्थच्छेदसम्प्रदायास्तथा तत्वोपप्लववादिनोपि, तैरेकस्यापि प्रमाणस्यानभिधानात्, नैकप्रमाणवादिनोऽनेकप्रमाणवादिन इति व्याख्यानात् । तथा सर्वमाप्तागमपदार्थजातमवगतमिच्छन्तोप्यनेकप्रमाणवादिनो वैनयिकास्तीर्थच्छेदसम्प्रदायाः । तेषामशेषाणामाप्तता नास्ति, परस्परविरुद्धयोरर्थयोरभिधानात् ।

तत्र संवेदनाद्वैतानुसारिणः स्वपक्षसाधनस्य परपक्षदूषणस्य वा संविदद्वैतविरुद्धस्याभिधानं, तथा द्वैतप्रसिद्धेः । संवृत्त्या तदुपगमे न परमार्थतः संविदद्वैतसिद्धिः, अतिप्रसंगात् । एतेन चित्राद्वैतपरब्रह्माद्यवलम्बिनां परस्परविरुद्धाभिधानं प्रतिवर्णितम् । प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति वदतां प्रमाणेतरसामान्य व्यवस्थापनस्य संवादेतरस्वभावलिंगजानुमाननिबन्धनस्य परचित्तावबोधस्य च व्यापारादिकार्यलिंगोत्थानुमाननिमित्तस्य परलोकादिप्रतिषेधस्य चानुपलब्धिलिंगोद्भूतानुमानहेतुकस्य प्रत्यक्षैकप्रमाणविरुध्दस्याभिधानं प्रतिपत्तव्यं, तथा प्रमाणान्तर सिद्धेः । परोपगमात्तत्स्वीकरणे स्वयं प्रमाणेतरसामान्यादि व्यवस्थानुपपत्तेः कुतः प्रत्यक्षैकप्रमाणवादः, अतिप्रसङ्गात् । तथानेकप्रमाणवादिनां कपिलकणभक्षाक्षपादजैमिनिमतानुसारिणां स्वोपगतप्रमाणसंख्या नियमविरुद्धस्य सामस्त्येन साध्यसाधनसम्बन्धज्ञानस्याभिधानं बोध्दव्यं, प्रमाणान्तरस्योहस्यसिद्धेः यावान्कश्चिध्दूमः स सर्वोप्यग्निजन्माऽनग्नि जन्मा वा न भवतीति प्रतिपत्तौ न प्रत्यक्षस्य सामर्थ्यं, तस्य सन्निहितविषयप्रतिपत्तिफलत्वात् । नाप्यनुमानस्य, अनवस्थानात्, तव्द्याप्तेरप्यपरानुमानगम्यत्वात् । इति वैशेषिकस्योहः प्रमाणान्तरमनिच्छतोप्यायातम् । एतेन सौगतस्य प्रमाणान्तरमापादितम् तथागमस्यापि व्याप्तिग्रहणेऽनधिकारात्कापिलस्योहः प्रमाणं नैयायिकस्य चतत्रोपमानस्याप्यसमर्थत्वात्प्राभाकरस्य चार्थापत्तेरप्यनुमानवत्तत्राव्यापाराद्भट्टमतानुसारिण श्चाभावस्यापि तत्रानधिकृतत्वात् । तथैकमपि

प्रमाणमनभ्युपगच्छतां तत्त्वोपप्लवावलम्बिनामनेकप्रमाणवादिनां तत्त्वोपप्लवोपगमस्य प्रमाणसिध्द्यविनाभाविनः सकलतत्त्वोपप्लवविरुद्धस्याभिधानमवगन्तव्यम् । वैनयिकानां तु सर्वमवगतमिच्छतां परस्परविरुद्धाभिधानं विरुद्धसंवेदनं प्रसिद्धमेव, सुगतमतोपगमे कपिलादिमतस्य विरोधात् । ततः सिद्धो हेतुः परस्पर विरोधत इति तीर्थकृत्समयानां सर्वेषामाप्तत्वाऽभावं साधयति । यदि पुनः संविदद्वैतादीनां स्वतः प्रमितिसिद्धेः प्रमाणान्तरतः स्वपरपक्षसाधन दूषण वचनाभावान्न परस्परविरुद्धाभिधानं स्वसंवेदनैक प्रमाणवादिनां, नापीन्द्रियज प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनां, प्रत्यक्षप्रामाण्यस्य प्रत्यक्षत एव सिध्देः, अनुमानादिप्रामाण्याभावस्यापि तत एव प्रसिद्धेः प्रमाणान्तराप्रसङ्गात्, तथानेक प्रमाणवादिनामपि स्वोपगत प्रमाणसंख्यानियमस्य स्वत एव सिद्धेः प्रमाणान्तरस्योहस्याप्रसङ्गान्न विरुद्धाभिधानं सम्भवतीति–मतं तदापि न तेषामाप्ततास्ति, स्वप्रमाव्यावृत्ते रन्यथानैकान्तिकत्वात् । न हि संविदद्वैतेन्यत्र वा स्वस्य स्वेनैव प्रमा सम्भवति, निरंशत्वात्प्रमाणप्रमेयस्वभावव्यावृत्तौ प्रमाया व्यावृत्तेस्तदव्यावृत्तौ प्रमात्रादिस्वभावाव्यावृत्तेरैकान्तिकत्वाभावात् प्रमात्राद्यनेकस्वभावस्यैक संवेदनस्यानेकान्तात्मनोनुमननात्, संवित् स्वयं स्वेन स्वं संवेदयत इति प्रतीतेः । नापीन्द्रियजप्रत्यक्षे स्वप्रमा घटते, भूतवादिभिस्तस्यास्वसंविदितत्वोपगमात् । इति सिद्धा तत्र स्वप्रमाया व्यावृत्तिः । ततो न प्रत्यक्षत एव प्रमाणेतरसामान्यस्थित्यादिः । तदव्यावृत्तौ वा स्वार्थव्यवसायात्मकत्वसिध्देः स्याद्वादाश्रयणादेकान्तिकत्वाभावादनैकान्तिकत्वम् । एतेनानेकप्रमाणवादिनामनेकस्मिन् प्रमाणे स्वप्रमा व्यावृत्तिर्व्याख्याता । तदव्यावृत्तौ वानैकान्तिकत्वप्रसक्तिः, अनेक शक्त्यात्मक स्वार्थव्यवसायात्मकानेकप्रमाणसिध्देः । तत्त्वोपप्लववादिनांतु तत्त्वोपप्लवेस्वप्रमाया व्यावृत्तिः सिध्दैव । तदव्यावृत्तौ तत्त्वोपप्लवैकान्तिकत्वाभावप्रसक्तिश्च । ततो नैतेषामाप्तता । किञ्च सर्वप्रमाणविनिवृत्तेरितरथा संप्रतिपत्तेः । ये तावदेकं नित्यं प्रमाणं स्वभावभेदाभावाद्वदन्ति तेषां सर्वप्रमाणविनिवृत्तिः येप्यनेकमनित्यं प्रतिक्षणं स्वभाव

भेदादाचक्षते तेषामपि, प्रत्यक्षादिप्रमाणानां नित्यैकान्ताच्चेतरेणैव प्रकारेणकथञ्चिन्नित्यानित्यात्मकत्वेन संप्रतिपत्तेः । ततो नैतेषां नित्यानित्यैकान्त प्रमाणवादिनां तीर्थकृत्समयानामाप्तता । किञ्च वागक्ष बुद्धीच्छा पुरुषत्वादिकं क्वचिदनाविलज्ञानं निराकरोति न पुनस्तत्प्रतिषेधवादिषु तथेति परमगहनमेतत् । तथाहि । तीर्थच्छेद सम्प्रदायास्तथैकान्तवादिनो नाऽनाविलज्ञाना अविशिष्टवागक्षबुद्धीच्छादिमत्वादविशिष्टपुरुषत्वादेर्वा रथ्यापुरुषवत् । इति नैतेषामाप्तता। तत्प्रतिषेधवादिनां पुनः स्याद्वादिनां नातः कश्चिदविशिष्ट वागादिमान विशिष्ट पुरुषो वा, तस्य युक्ति शास्त्राविरोधिवाक्त्वेनाभ्युपगतत्वात्, करणक्रमव्यवधानाद्यतिवर्त्ति बुध्दित्वात्, इच्छारहितत्वाद्विशुद्धपुरुषातिशयत्वादिति । यथा वागादिकं निर्दोषज्ञाननिराकरणसमर्थं न तथा स्याद्वादन्यायवेदिभिरभिष्टूयमाने भगवतीति परमगहनमेतत्, अयुक्तिशास्त्रविदामगोचरत्वादकलङ्कधिषणाधिगम्यत्वात् । इत्थं सिध्दं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वम् । तेन कः परमात्मा चिदेव लब्ध्युपयोग संस्काराणामावरणनिबन्धनानामत्यये भवभृतां प्रभुः । सकलस्याद्वादन्यायविद्विषामाप्तप्रतिक्षेपप्रकारेण हि स्याद्वादिन एवाप्तस्या प्रतिक्षेपार्हत्वेन सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वं सिध्यति । तेनैवं करिकायास्तुरीयपादो व्याख्यायते । कः परमात्मा, पराऽऽत्यन्तिकी मा लक्ष्मीर्यस्येति विग्रहात् । चिदेव ज्ञ एव नं पुनः कथञ्चिदप्यज्ञः, चिदिति शब्दस्य मुख्यवृत्याश्रयणात् कथञ्चिदचित्यपि चिच्छब्दस्य प्रवृत्तौ गौणत्वप्रसङ्गात् । ननु च 'परमात्मा साक्षाद्वस्तु जानन्निन्द्रियसंस्कारानुरोधत एव जानायान्नान्यथा तद्वेदनस्य प्रत्यक्षत्वविरोधात् । न चेन्द्रियसंस्काराः सकृत्सर्वार्थेषु ज्ञानमुपजनयितुमलं, सम्बध्दवर्त्तमानार्थविषयत्वात् "सम्बद्धं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिभिः" इति वचनात् । ततो न ज्ञ एव, भाव्यतीतासम्बन्द्धार्थज्ञानाभावादज्ञत्वस्यापि भावात् इति न मन्तव्यं, लब्ध्युपयोगसंस्काराणामत्ययेइतिवचनात् । लब्ध्युपयोगौ हीन्द्रियं, "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्" इति वचनात् । तयोः संस्काराः स्वार्थधारणाः । तेषामत्यये सति ज्ञ एव स्यात् । 'कुतः

पुनर्भावेन्द्रिय संस्काराणामत्यये सति ज्ञ एव स्यान्न तु द्रव्येन्द्रियाणामत्यये अतीन्द्रियप्रत्यक्षतोऽशेषार्थ साक्षात्कारित्वोपगमात्, इत्यपि न शङ्कनीयं, भावेन्द्रियाणामावरणनिबन्धनत्वात्। कात्स्र्यतो ज्ञानावरणसंक्षये हि भगवानतीन्द्रिय प्रत्यक्षभाक् सिद्धः। न च सकलावरणसंक्षये भावेन्द्रियाणामावरणनिबन्धनानां सम्भवः कारणाभावे कार्यानुपपत्तेः। ननु चावरणक्षयोपशमनिबन्धनत्वाद्भावेन्द्रियाणां कथमावरणनिबन्धनत्वमितिचेद् देशघाति ज्ञानावरणस्पर्द्धकोदये सति सर्वघाति ज्ञानावरणस्पर्द्धकानामुदयाभावे सदवस्थायां च तेषां भावादावरण निबन्धनत्वसिध्देरचोद्यमेतत्। न कश्चिद्भवभृदतीन्द्रिय प्रत्यक्ष भागुपलब्धो यतो भगवांस्तथा सम्भाव्यते इत्यपि न शङ्का श्रेयसी, तस्य भवभृतां प्रभुत्वात्। न हि भवभृत्साम्ये दृष्टो धर्मः सकलभवभृत्प्रभौ सम्भावयितुं शक्यः, तस्य संसारिजन प्रकृतिमभ्यतीतत्वात्। ननु च सुनिर्णीतासम्भवद्बाधक प्रमाणत्वात्तथाविधो भवभृतां प्रभुः साध्यते। तच्चासिध्दं, सुनिश्चितासम्भवत्साधक प्रमाणत्वस्य तद्बाधकस्य सद्भावात्। न हि तत्साधकं प्रत्यक्षम्। नाप्यनुमानं, तदेकदेशस्य लिङ्गस्यादर्शनात्। तदुक्तं "सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः। दृष्टो न चैकदेशोस्ति लिङ्गं वा योनुमापयेत्" इति। आगमोपि न तावन्नित्यः सर्वज्ञस्य प्रतिपादकोस्ति, तस्य कार्ये एवार्थे प्रामाण्यात् स्वरूपेपि प्रामाण्येति प्रसङ्गात्। स सर्ववित् स लोकविदित्यादेर्हिरण्यगर्भःसर्वज्ञ इत्यादेश्चागमस्य नित्यस्य कर्मार्थवाद प्रधानत्वात् तात्पर्यासम्भवादन्यार्थ प्रधानैर्वचनै रन्यस्य सर्वज्ञस्य विधानासम्भवात्। पूर्वं कुतश्चिद प्रसिद्धस्य तैरनुवादायोगात्। अनादेरागमस्यादिमत्सर्वज्ञप्रतिपादन विरोधाच्च। नाप्यनित्यस्तत्प्रणीत एवागमस्तस्य प्रकाशको युक्तः, परस्पराश्रयप्रसङ्गात्। नरान्तरप्रणीतस्तु न प्रमाणभूतः सिद्धोयतः सर्वज्ञप्रतिपत्तिः स्यात्। असर्वज्ञप्रणीताच्च वचनान्मूलवर्जितात् सर्वज्ञप्रतिपत्तौ स्ववचनात्किन्न तत्प्रतिपत्तिरविशेषात्। तदुक्तं "न चागमविधिः कश्चिन्नित्यः सर्वज्ञबोधनः। न च मन्त्रार्थवादानां तात्पर्यमवकल्प्यते ।१। न चान्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तित्वं विधीयते। न

चानुवदितुं शक्यः पूर्वमन्यैरबोधितः ।२। अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान् । कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते ।३। अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽज्ञैः प्रतीयते । प्रकल्प्येत कथं सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्तयोः ।४। सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन तदस्तिता । कथं तदुभयं सिद्धयेत् सिद्धमूलान्तराद्दते ।५। असर्वज्ञप्रणीतात्तु वचनान्मूलवर्जितात् । सर्वज्ञमवगच्छन्तः स्ववाक्यात्किं न जानते ।६।" इति । नोपमानमपि सर्वज्ञस्य साधकं, तत्सदृशस्य जगति कस्यचिदप्यभावात् । तथोक्तं, सर्वज्ञ सदृशं कञ्चिद्यदि पश्येम सम्प्रति । उपमानेन सर्वज्ञं जानीयाम ततो वयम्" इति । नार्थापत्तिरपि सर्वज्ञस्य साधिका, तदुत्थापकस्यार्थस्यान्यथानुपपद्यमानस्याभावात् । धर्माद्युपदेशस्य बहुजनपरिगृहीतस्यान्यथाभावात् । तथा चोक्तम् "उपदेशो हि बुद्धादेर्धर्माधर्मादिगोचरः । अन्यथाप्युपपद्येत सर्वज्ञो यदि नाभवत् ।१। बुद्धादयो ह्यवेदज्ञास्तेषां वेदादसम्भवः । उपदेशः कृतोतस्तैर्व्यामोहादेव केवलात् ।२। ये तु मन्वादयः सिद्धाः प्राधान्येन त्रयीविदाम् । त्रयीविदाश्रितग्रन्थास्ते वेदप्रभवोक्तयः ।३।" इति न च प्रमाणान्तरं सदुपलम्भकं सर्वज्ञस्य साधकमस्ति । मा भूदत्रत्येदानीन्तनानामस्मदादिजनानां सर्वज्ञस्य साधकं प्रत्यक्षाद्यन्यतमं देशान्तरकालान्तरवर्त्तिनां केषाञ्चिद्भविष्यतीति चायुक्तं "यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु यज्जातीयार्थदर्शनम् । दृष्टं सम्प्रति लोकस्य तथा कालान्तरेप्यभूत्" इति बचनात् । तथा हि विवादाध्यासिते देशे काले च प्रत्यक्षादिप्रमाणमत्रत्येदानीन्तनप्रत्यक्षादि ग्राह्यसजातीयार्थग्राहकं भवति तद्विजातीयसर्वज्ञाद्यर्थग्राहकं वा न भवति, प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वादत्रत्येदानीन्तन प्रत्यक्षादि प्रमाणवत् । ननु च यथाभूतमिन्द्रियादिजं नित्यं प्रत्यक्षादि सर्वज्ञाद्यर्थासाधकं दृष्टं तथा भूतमेव देशान्तरे कालान्तरे च तादृशं साध्यतेऽन्यथाभूतं वा? तथा भूतं चेत् सिद्धसाधनम् । अन्यथाभूतं चेदप्रयोजको हि हेतुः जगतो बुद्धिमत्कारणकत्वे साध्ये सन्निवेशविशिष्टत्ववत् । इति चेत्तदसत्, तथाभूतस्यैव तथा साधनात् सिद्धसाधनस्याप्यभावात्, अन्यादृशप्रत्यक्षाद्यभावात् । तथा हि । विवादापन्नं प्रत्यक्षादिप्रमाणामिन्द्रियादि सामग्री

विशेषानपेक्षं न भवति प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात् प्रसिद्धप्रत्यक्षादिप्रमाणवत्। न गृध्रवराहपिपीलिकादिप्रत्यक्षेण सन्निहितदेशविशेषानपेक्षिणा नक्तञ्चरप्रत्यक्षेण वालोकानपेक्षिणानेकान्तः, कात्यायनाद्यनुमानातिशयेन जैमिन्याद्यागमाद्यतिशयेन वा तस्यापीन्द्रियादिप्रणिधानसामग्रीविशेषमन्तरेणासम्भवात् स्वार्थातिलङ्घनाभावादतीन्द्रियाननुमेयाद्यर्थाविषयत्वाच्च। तथा चोक्तं "यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात्। दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता।१। येपि सातिशया दृष्टाः प्रज्ञामेधादिभिर्नराः। स्तोकस्तोकान्तरत्वेन न त्वतीन्द्रियदर्शनात्।२। प्राज्ञोपि हि नरः सूक्ष्मानर्थान् द्रष्टुं क्षमोपिसन् स्वजातीरनतिक्रामन्नतिशेतेपरान्नरान्।३। एकशास्त्रविचारेषु दृश्यतेतिशयो महान्। न तु शास्त्रान्तरज्ञानं तन्मात्रेणैव लभ्यते।४। ज्ञात्वा व्याकरणं दूरं बुद्धिः शब्दापशब्दयोः। प्रकृष्यते न नक्षत्रतिथिग्रहणनिर्णये।५। ज्योतिर्विच्यप्रकृष्टोपि चन्द्रार्कग्रहणादिषु। न भवत्यादिशब्दानां साधुत्वं ज्ञातुमर्हति।६। तथा वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवानपि। न स्वर्गदेवताऽपूर्वप्रत्यक्षीकरणे क्षमः।७। दशहस्तान्तरं व्योम्नि यो नामोत्प्लुत्य गच्छति। न योजनमसौ गन्तुं शक्तोभ्यास शतैरपि।८।" इति न दृष्टप्रत्यक्षादि विजातीयातीन्द्रिय प्रत्यक्षादिसम्भावना यतः सम्भाव्यव्यभिचारिता साधनस्य स्यात्। पुरुषविशेषस्य तत्सम्भावनायां सम्भाव्य व्यभिचारित्वमेवेति चेन्न, तस्यासिद्धत्वात्, साधकाभावात्सर्वपुरुषाणां त्रिविप्रकृष्टार्थसाक्षात्कारित्वानुपपत्तेरिति। तदेतत्सर्वमपरीक्षिताभिधानं मीमांसकस्य। न हि सर्वज्ञस्य निराकृतेः प्राक्सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वं सिद्धं येन परः प्रत्यवतिष्ठेत। नापि बाधकासंभवात्परं प्रत्यक्षादेरपि विश्वासनिबन्धनमस्ति। तत्प्रकृतेपि सिद्धं यदि तत्सत्तां न साधयेत् सर्वत्राप्यविशेषात्तदभावे दर्शनं नादर्शनमतिशेतेऽनाश्वासाद्विभ्रमवत्। स्यान्मतं "मा सिद्धत्सर्वज्ञस्य निराकरणात्पूर्व सुनिश्चितासंभवत्साधक प्रमाणत्वं, स्वप्रत्यक्षस्य सर्वज्ञान्तरप्रत्यक्षस्य च तत्साधकस्य संभवात्, परोपदेशलिङ्गाक्षानपेक्षोऽवितथाऽशेषसूक्ष्माद्यर्थप्रतिपादक तद्वचनविशेषान्मक लिङ्गजनितानुमानस्य च तत्साधकस्य सद्भावाद-

नादिप्रवचनविशेषस्य च तदुद्द्योतितस्य तत्साधकत्वेन सिद्धेः। निराकरणादुत्तरकालंतु सिद्धमेव" इति। तदपिस्वमनोरथमात्रं, सर्वज्ञनिराकृतेरयोगात् सर्वथा बाधकाभावात्। सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चक निवृत्तिलक्षणं ज्ञापकानुपलम्भनं सर्वज्ञस्य बाधकमिति चेन्न, तस्य स्वसम्बन्धिनः परचेतोवृत्तिविशेषादिना व्यभिचारात्, सर्वसम्बन्धिनोऽसिद्धत्वात्। तदुक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके। स्वसम्बन्धि यदीदं स्याद्व्यभिचारिपयोनिधेः। अम्भःकुम्भादिसंख्यानैः सद्भिरज्ञायमानकैः।१। सर्वसम्बन्धि तद्बोध्दुं किञ्चिद्बोधैर्न शक्यते। सर्वबोधोस्ति चेत् कश्चित्तद्बोद्धा किं निषिध्यते।२। सर्वसम्बन्धि सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम्। न चक्षुरादिभिर्वेद्यमत्यक्षत्वाददृष्टवत्।३। नानुमानादलिङ्गत्वात् क्वार्थापत्त्युपमागतिः। सर्वज्ञस्यान्यथा भावसादृश्यानुपपत्तितः।४। सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिनिवारणात्। केवलागमगम्यं च कथं मीमांसकस्य तत्।५। कार्येर्थे चोदनाज्ञानं प्रमाणं यस्य सम्मतम्। तस्य स्वरूपसत्तायांतन्नै वातिप्रसङ्गतः।६। तज्ज्ञापकोपलम्भस्याभावोऽभावप्रमाणतः। साध्यते चेन्न तस्यापि सर्वत्राप्यप्रवृत्तितः।७। गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा तत्प्रतियोगिनम्। मानसं नास्तिताज्ञानं येषामक्षानपेक्षया।८। तेषामशेषनृज्ञाने स्मृते तज्ज्ञापके क्षणे। जायेत नास्तिताज्ञानं मानसं तत्र नान्यथा।९। न चाशेषनरज्ञानं सकृत्साक्षादुपेयते। न क्रमादन्यसन्तानप्रत्यक्षत्वानभीष्टितः।१०। यदा च क्वचिदेकत्र भवेत्तन्नास्तितागतिः। नैवान्यत्र तदा सास्ति क्वैवं सर्वत्र नास्तिता।११। प्रमाणान्तरतोप्येषां न सर्व पुरुषगृहः। तल्लिङ्गादेरसिद्धत्वात् सहोदीरित दूषणात्।१२। तज्ज्ञापकोपलम्भोपि सिद्धः पूर्वं न जातुचित्। यस्य स्मृतौ प्रजायेत नास्तिता ज्ञानमाञ्जसम्।१३। परोपगमतः सिद्धः स चेन्नास्तीति साध्यते व्याघातस्तत्प्रमाणत्वेन्योन्यं सिद्धो न सोऽन्यथा।१४। नन्वेवं सर्वथैकान्तः परोपगमतः कथम्। सिध्दो निषिध्यते जैनैरिति चोद्यं न धीमताम्।१५। प्रतीतेऽनन्तधर्मात्मन्यर्थे स्वयमबाधिते। को दोषः सुनयैस्तत्रैकान्तोपप्लवसाधने।१६। अनेकान्ते हि विज्ञानमेकान्तानुपलम्भनम्। तद्विधिस्तन्निषेधश्च मतो नैवान्यथा गतिः।१७। नैवं

सर्वत्र सर्वज्ञज्ञापकानुपदर्शनम् । सिद्धं तद्दर्शनारोपो येन तत्र निषिध्यते ।१८।" इति । तदेवमसिद्धं ज्ञापकानुपलम्भनम् सर्वज्ञस्य न बाधकमिति सिद्धं सुनिश्चितासंभवब्दाधकप्रमाणत्वमेव साधकम् तथा हि । अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासंभवब्दाधकप्रमाणत्वात्प्रत्यक्षादिवत् । प्रत्यक्षादेस्तावद्विश्वासनिबन्धनं बाधकासंभव एव सुनिश्चितः । न ततोऽपरं संवादकत्वं प्रवृत्तिसामर्थ्यमदुष्टकारणजन्यत्वंवा, तस्य तत्रावश्यं भावादिति । प्रत्यक्षादिप्रमाणमुदाहरणं, वादिप्रतिवादिनोः प्रसिद्धत्वात् साध्यसाधनधर्माविकलत्वात् । सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणश्च स्यादविद्यमानश्चेति । सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकमिदं साधनं न मन्तव्यं, विपक्षे बाधकसद्भावात् । तथा हि । यदसत्तन्न सुनिश्चिदसंभवद्बाधकप्रमाणम् । यथा मरीचिकायां तोयं सम्भवब्दाधकप्रमाणं मेरुमूर्द्धनि मोदकादिकं च सन्दिग्धासंभवद्बाधकम् । सुनिश्चितासंभवब्दाधकप्रमाणश्च सर्वज्ञः । इति प्रकृते सर्वज्ञे सिध्दमपि साधनं यदि सत्तां न साधयेत्तदा दर्शनं नादर्शनमतिशयीत, अनाश्वासात् स्वप्नादिविभ्रमवत्, तस्य सुनिश्चितासंभवब्दाधकप्रमाणत्वस्याभावे सर्वत्र दर्शने दर्शनाभासे च विशेषाभावात् । "साधकबाधक प्रमाणभावात्सर्वज्ञे संशयोस्त्वित्ययुक्तं, यस्मात्साधक बाधक प्रमाणयोर्निर्णयात् भावाभावयोरविप्रतिपत्तिरनिर्णयादारेका स्यात् । साधकनिर्णयात्तत्सत्तायामविप्रतिपत्तिर्बाधकनिर्णयात्त्वसत्तायाम् । उभयनिर्णयस्तु न संभवत्येव क्वचित्, व्याघातात् साधक बाधकाभावनिर्णयवत् साधकानिर्णयात्पुनः सत्तायामारेका स्याब्दाधकानिर्णयादसत्तायामिति विपश्चितामभिमतो न्यायः । ततो भवभृतां प्रभौ सुनिश्चितासंभवब्दाधकप्रमाणत्वंसत्तायाः साधकं सिध्द्येत् सुनिश्चितासम्भवत्साधक प्रमाणत्वं व्यावर्त्तयत्येव, विरोधात् । नैवमेतत्तत्र सिध्यति येन सुनिश्चितासम्भवब्दाधक प्रमाणत्वस्य व्यावर्त्तकंस्यात् । ततः सिद्धो भवभृतां प्रभुः सर्वज्ञ एव ।

न खलु ज्ञस्वभावस्य कश्चिदगोचरोस्ति यन्न क्रमेत, तत्स्वभावान्तर प्रतिषेधात् । कुतः पुनस्तस्याज्ञत्वलक्षण स्वभावान्तर प्रतिषेधः सिद्धो यतोसौ ज्ञस्वभाव एव स्यात् ? सर्वश्चार्थस्तस्य विषयः स्यात्?

ततस्तं क्रमेतैव ? इति चेत् चोदनाबलाद्भूताद्यशेषार्थज्ञानान्यथानुपपत्तेः । सोयं चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलं पुरुषविशेषानिति स्वयं प्रतीयन् सकलार्थज्ञानस्वभावतामात्मनो न प्रत्येतीति कथं स्वस्थः ? तच्च न ज्ञानमात्मनो भिन्नमेव मीमांसकस्य कथञ्चिदभेदोपगमादन्यथामतान्तरप्रसंगात् । ततो नाज्ञस्वभावः पुरुषः क्वचिदपि विषये, सर्वविषये चोदनाज्ञानोत्पत्तेर्विकल्पज्ञानोत्पत्तेर्वा सर्वत्र तदनुपपत्तौ विधिप्रतिषेधविचाराघटनात् कथमेवं कस्यचित्क्वचिदज्ञानं स्यादिति चेदुच्यते । **चेतनस्य सतः सम्बन्ध्यन्तरं मोहोदयकारणकं मदिरादिवत् ।** तत्कुतः सिद्धम्? विवादाध्यासितो जीवस्य मोहोदयः सम्बन्ध्यन्तरकारणको मोहोदयत्वान्मदिराकारणकमोहोदयवदित्यनुमानात् यत्तत्सम्बन्ध्यन्तरं तदात्मनो ज्ञानावरणादि कर्मेति । **तदभावे साकल्येन विरतव्यामोहः सर्वमतीतानागतवर्तमानं पश्यति प्रत्यासत्ति विप्रकर्षयोरकिञ्चित्करत्वात् ।** कथं पुनर्ज्ञानावरणादि सम्बन्ध्यन्तरस्याभावे साकल्येन विरतव्यामोहः स्याद्यतः सर्वमतीतानागतवर्त्तमानानन्तार्थव्यञ्जन पर्यायात्मकं जीवादितत्त्वं साक्षात्कुर्वीतेति चेदिमेब्रूमहे । यद्यस्मिन् सत्येव भवति तत्तदभावे न भवत्येव । यथाग्नेरभावे धूमः । सम्बन्ध्यन्तरे सत्येव भवति चात्मनो व्यामोहस्तस्मात्तदभावे स न भवतीति निश्चीयते । देशकालतः प्रत्यासन्नमेव पश्येद्विरतव्यामोहोपि सर्वात्मना, न पुनर्विप्रकृष्टमित्ययुक्तं, प्रत्यासत्तेर्ज्ञानाकारणत्वाद्विप्रकर्षस्य चाज्ञानानिबन्धनत्वात् तद्भावेपि ज्ञानाज्ञानयोरभावान्नयनतारकाञ्जनवच्चन्द्रार्कादिवच्च । योग्यतासद्भावेतराभ्यां क्वचिद्भावे योग्यतैव ज्ञानकारणं, प्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोरकिञ्चित्करत्वात् । सा पुनर्योग्यता देशतः कात्स्न्र्यतो वा व्यामोहविगमस्तत्प्रतिबन्धिकर्मक्षयोपशमक्षयलक्षणः । इति साकल्येन विरतव्यामोहः सर्वं पश्यत्येव । तदुक्तं "ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने । दाह्योग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धने ।१।" इति । **अत एवाक्षानपेक्षाऽञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषो यथालोकाऽनपेक्षा**

अत एव। कुत एव? साकल्येन विरतव्यामोहत्वादेव सर्वदर्शनादेव वा। यो हि देशतो विरतव्यामोहः किञ्चिदेवास्फुटं पश्यति वा तस्यैवाक्षापेक्षा लक्ष्यते न पुनस्तद्विलक्षणस्य प्रक्षीणसकलव्यामोहस्य सर्वदर्शिनः, सर्वज्ञत्वविरोधात्। न हि सर्वार्थैः सकृदक्षसम्बन्धः संभवति साक्षात्परम्परया वा। ननु चावधि मनः पर्ययज्ञानिनोर्देशतो विरतव्यामोहयोरसर्व दर्शनयोः कथमक्षानपेक्षा संलक्षणीया तदावरणक्षयोपशमातिशयवशात्स्वविषये परिस्फुटत्वादिति ब्रूमः। न चैवं साकल्येन विरतव्यामोहत्वस्य सर्वदर्शनस्यवानैकान्तिकत्वं शङ्कनीयं, विपक्षेक्षापेक्षे मतिश्रुतज्ञाने तदसम्भवात् अवधिमनः पर्ययज्ञाने तदसम्भवात् पक्षाव्यापकत्वादहेतुत्वमिति चेन्न, सकलप्रत्यक्षस्यैव पक्षत्ववचनात्, तत्र चास्य हेतोः सद्भावात्, विकलप्रत्यक्षस्यावधिमनः पर्ययाख्यस्यापक्षीकरणात् न चास्मदादि प्रत्यक्षेक्षापेक्षोपलक्षणात्सकलवित्प्रत्यक्षेपि सास्त्येवेति वक्तुं शक्यम्, अञ्जनादिभिरसंस्कृत चक्षुषोऽस्मदादेरालोकापेक्षोपलक्षणात् तत्संस्कृत चक्षुषोपि कस्यश्चिदालोकापेक्षाप्रसङ्गात्। नक्तञ्चराणामालोकापायेपि स्पष्टरूपावलोकनप्रसिद्धेर्नालोको नियतं कारणं प्रत्यक्षस्येति चेत्तर्हि सत्यस्वप्नज्ञानस्येक्षणिकादिज्ञानस्य च स्पष्टस्य चक्षुराद्यनपेक्षस्य प्रसिद्धेरक्षमपि नियतं प्रत्यक्षकारणं मा भूत्। ततो यथाञ्जनादि संस्कृत चक्षुषामालोकानपेक्षा स्फुटं रूपेक्षणे तथा साकल्येन विरतव्यामोहस्य सर्वसाक्षात्करणेऽक्षानपेक्षा। इति करणक्रमव्यवधानातिवर्त्तिसकल प्रत्यक्षो भवभृतां गुरुः प्रसिध्यत्येव।

यतश्चासौ न देवागमादि विभूतिमत्त्वादध्यात्मं बहिरपि दिव्यसत्यविग्रहादिमहोदयाश्रयत्वाद्वा महान्, नापि तीर्थकृत्त्वमात्रात्, यतश्च तीर्थच्छेदसम्प्रदायोपि वैदिको नियोगभावनादिसम्प्रदायो न संवादकः प्रत्यक्षैक प्रमाणवादि सम्प्रदायस्तत्त्वोपप्लववादि सम्प्रदायो वा सर्वाप्तवादो वा न प्रमाणभूतो व्यवतिष्ठते, ततः सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणो भगवन् भवानेव भवभृतां प्रभुरात्यन्तिक दोषावरणहान्या साक्षात्प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थत्वेन च मुनिभिः सूत्रकारादिभिरभिष्टूयते। इति।

भावार्थः—प्रतिपादनकी विवक्षासे कारिका व्याख्यान निर्दोष रहेगा। सर्वज्ञ सामान्यमें विपक्षवादी मीमाँसक, चार्वाक, तत्त्वोपप्लववादीयोंको आत्मसद्भाव प्रदर्शितकरके अत्र सर्वज्ञ साधनमें विशेषतासे विरोध प्रकट करनेवाले बौद्धादिकोंका निर्वचन सिद्ध करते हैं। अर्थात् तीर्थच्छेदसंप्रदायियोंकी तथा हम सब समंजस (जानचुके) हैं ऐसी अभिलाषा करने वालोंकी आप्तता सिद्ध नहीं होसकती, क्योंकि उन सर्वज्ञ विपक्षवादी लोगोंकी परस्पर विरुद्ध कथनता होनेसे। एक तथा अनेक प्रमाण वादियोंकी प्रमा खंडित होजाती है। अब एक प्रमाण वादियोंके अर्थात् संवेदन अद्वैतावलंबी, चित्र अद्वैताश्रयी, परब्रह्म अद्वैत वादी, शब्द अद्वैत वादी सुगतादि (बौद्धादिक) जैसे सर्वज्ञविपक्ष वादी वैसे प्रत्यक्ष एकही प्रमाण है ऐसे कहनेवाले चार्वाकादिकोंके परमागमका निराकरण किया गया है। जिसप्रकार सांख्यादिक अनेकप्रमाणवादी तथा तत्त्वोपप्लववादीयोंके मतमें एक भी प्रमाणका समर्थन नहीं पाया जाता है अतः नैक प्रमाणवादी तथा अनेक प्रमाणवादी ऐसे व्याख्यान होनेसे। तथा सब आप्त, आगम, पदार्थके उत्पन्न हुये समुदायको हमने अच्छी तरहसे जान लिया है ऐसी इच्छाकरनेवाले अनेक प्रमाणवादी वैनयिकोंका भी तीर्थच्छेदसंप्रदाय होनेसे उन संपूर्ण मतवादियोंमें आप्तता (सर्वज्ञता) नहीं है। क्योंकि उनमें परस्पर विरुद्ध अर्थ प्रतिपादन किया गया है।

उन सर्वज्ञ द्वेपीयोंमें पक्षपातसे स्वमतकामंडन तथा परमतका दूपण होनेसे अद्वैतमतकाही निराकरण होकर द्वैतमत (स्याद्वाद) की सिध्दि होजाती है। स्वपक्ष साधन तथा परपक्ष दूपणमें भी कल्पनाही मानी गई है नतु परमार्थसे। अतएव अद्वैतकी सिध्दि नहीं होगी, क्योंकि अतिप्रसंगनामका दोप आजाता है। इस न्यायसे चित्र अद्वैतवादी, परब्रह्मअद्वैतवादीयोंके मतमें परस्पर विरुद्ध कथन होनेसे निराकरण किया गया है।

तथा प्रत्यक्ष एकही प्रमाण है ऐसे कहनेवाले चार्वाक, तथा अनेक प्रमाण वादी वैशेपिक, सांख्य, कणभक्ष, (वैशेपिक) अक्षपाद, (नैयायिक) जैमिनी, (प्रभाकरभट्ट) इत्यादियोंको प्रमाणेतर सामान्य व्यवस्था माननी चाहिये अन्यथा अर्थक्रिया नहीं वनेगी। अतः संपूर्णरीतिसे साध्य, तथा साधनके संवंधका कथन करनेवाला ऊह (तर्क प्रमाण प्रसिद्ध है। अर्थात् जहाँ-जहां धूँआ है वहां-वहां अग्नि है इसका प्रतिपादन करनेवाला न्याय शास्त्र प्रसिद्ध तर्क प्रमाण समर्थ है किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाणका सामर्थ्य नहीं देखागया है वह प्रत्यक्ष प्रमाण निकटवर्ति

विषयका प्रतिपादन करनेवाला माना गया है। इसीप्रकार अनुमान प्रमाणभी साध्य साधनके विषयका प्रतिपादन करनेमें समर्थ नहीं है क्योंकि साध्य साधनकी व्याप्तिमें अपर अनुमान माननेसे अनवस्था नामक दोष आजायगा, इसलिये वैशेषिकको ऊहप्रमाण मानना आवश्यक होगा। इससे बौद्धोंको भी प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण मानना होगा। तथा आगम प्रमाणभी व्याप्ति ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं है क्योंकि उसमें उसका अधिकार नहीं माना गया है। इसीप्रकार नैयायिकने जो उपमान माना है वहभी समर्थ नहीं है व्याप्ति ग्रहण करनेमें। तथा प्राभाकर ने माना हुआ अर्थापत्ति प्रमाणभी व्याप्ति ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं है। और भट्टमतानुसारीने जो अभाव प्रमाण माना है उसकाभी व्याप्ति ग्रहण करनेमें अधिकार नहीं है।

तथा एकभी प्रमाण नहीं मानने वाला तत्त्वोपप्लववादीकोभी तत्त्वोपप्लवग्राहि प्रमाण अवश्यमेव मानना चाहिये। तथा जैमिनीने छह प्रमाण माना है, चार प्रमाण न्यायवादियोंने माना है, सांख्योंने तीन प्रमाण माना है और वैशेषिक तथा बौद्धोंने दो प्रमाण माने हैं। इसलिये परस्पर विरुद्ध हेतु सिद्ध हुआ कि, "तीर्थकृत्समयानां" इस कारिका प्रतिपादित सूत्रसे सब एकान्तवादियों में आप्तलक्षण घटित नहीं होनेसे, सर्वज्ञत्वका अभावसिद्ध नहीं हो सकता है ऐसे स्याद्वादी कहते हैं। अर्थात् स्याद्वादीयोंके प्रति संवेदन अद्वैतवादी कहते हैं कि, हे स्याद्वादिन्! आपने जो हमारे प्रति परस्पर विरुद्ध कथन कहा है और स्व-स्वोपगत प्रमाण संख्यानियम विरुद्ध प्रतिपादित किया है सो ये दोनों भी नहीं हैं, ऐसा प्रश्न उपस्थित होनेपर स्याद्वादी उत्तर देते हैं तथापि तुह्मारेमें आप्तता सिद्ध नहीं हो सकती है, क्योंकि स्वप्रमाणफलज्ञानलक्षणमें प्रमातृका अभाव होनेसे कार्यकारणभाव नहीं बनता है। इसलिये प्रत्यक्षप्रामाण्यकी सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही निर्विवाद है अतः प्रमाणान्तरकी आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार अनुमानादि प्रामाण्यका अभाव भी प्रसिद्ध है क्योंकि प्रमाणान्तरका अप्रसंग होनेसे।

तथा अनेक प्रमाणवादियोंको भी स्वस्वीकृत प्रमाण संख्यानियम स्वतः सिद्ध होनेपर प्रमाणान्तर ऊहप्रमाणका प्रसंग है इसलिये विरुद्धाभिधान संभवनीय नहीं है, यदि ऐसाभी तुम्हारा मत हो तथापि विपक्ष वादियोंमें आप्तना कदापि नहीं है अर्थात् स्वप्रमाणका व्युच्छेद होनेसे अनेकान्तिक नामका दोप आता है।

तथा अद्वैतान्तरमें या अन्यत्रस्थानमें प्रमाणका सद्भाव नहीं है। अर्थात्

अनेकधर्म रहित होनेसे प्रमाण प्रमेयत्त्वके वाच्य वाचकभाव नहीं देखे जाते हैं, इसलिये प्रमात्रादिकोंकी व्यावृत्ति नहीं होनेसे एकान्तिकत्वका अभाव है अतः अनेकान्तिक प्रमात्रादियोंके अनेकस्वभाव सिद्ध होनेपर वस्तुतः स्याद्वादमतकी सिद्धि होगई। इसलिये तुह्मारा एकान्तमत कहां रहा ?। क्योंकि संवित् स्वयमेव करणरूपसे स्वको जानता है ऐसी तुह्मारी प्रतीती है।

और इन्द्रियजन्यप्रत्यक्षमें भी तुह्मारी प्रमा घटित नहीं हो सकती है। चार्वाकोंके द्वाराभी उसको असंविदत्व माना गया है इस प्रकार सिद्ध हुआकि प्रत्यक्षमें स्वप्रमाकी व्यावृत्ति देखी जाती है। तव एक प्रत्यक्षप्रमाणसे प्रमाणेतर सामान्यकी व्यवस्था नहीं वनती। उसकी अव्यावृत्ति होनेसे स्वार्थव्यवसायात्मकी सिद्धि हो गई। अतः स्याद्वादका आश्रय करनेसे तुह्मारे एकान्तिकत्वका अभाव होकर अनैकान्तिकत्वका प्रादुर्भाव हुआ। इस न्यायसे अनेक प्रमाणवादी वौद्धोंकी अपेक्षासे निरंश होनेसे प्रमात्रादिकोंकी व्यावृत्ति तथा प्रमाकीभी व्यावृत्ति होजाती है। और अनैकान्तिकत्वकी सिद्धिसे अनेकशक्त्यात्मक तथा स्वार्थ-व्यवसायात्मके अनेक प्रमाणोंकी भी सिद्धि देखी जाती हैं। तथा तत्त्वोपप्लव-वादियोंके तत्त्वोपप्लवमें स्वप्रमाकी व्यावृत्ति हुई। इससे तत्त्वोपप्लवके एकान्तिकत्वका अभाव होनेसे अर्थक्रियाकाभी अभाव होगया, इसलिये उनमें आप्तता नहीं है।

अतः सूत्रमें परस्पर विरोध होनेसे उससे स्वप्रमाणकी विनिवृत्तिभी उनको ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् कथंचित् नित्य अनित्यात्मकत्वसे ही विरोधका परिहार होकर स्याद्वादकी सिद्धि होजाती है। नित्यवादी सांख्य तथा ब्रह्म अद्वैतवादियोंने नित्य एकही प्रमाण माना है अतः उनके माने हुए सव प्रमाणोंकी विनिवृत्ति होगई हैं। तथा अनित्यवादी वौद्ध आत्माको क्षणिक माननेसे अर्थात् 'प्रदीपनिर्वाणवत् आत्मनिर्वाणम्' क्योंकि उनके मतमें जैसे दीपक वुजकर आकाशके श्रेणिके अनुसार लुप्तप्राय होकर चलाजाता है तद्वत् प्रतिक्षण क्षणमें आत्मवस्तु पैदा होती है तथा नष्ट होजाती है, इसप्रकार वौद्धोंका मत होनेसे उनके प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी कैसे सिद्धि होगी ?। अतः कथंचित् नित्यानित्य माननेसे सव प्रमाणोंकी गति ठीक होसकेगी अन्यथा प्रमाणोंका व्याघात ही निश्चित है। इसलिये नित्यअनित्य सर्वथा एकान्त प्रमाणवादियोंके मतमें 'तीर्थकृत्समयानां, अर्थात् तीर्थच्छेद संप्रदायसे कहांसे आप्तता न्याय संगत होसकती है ? नहीं होगी।

तथा मीमांसकोंके मतमें क्वचित् अनाविलज्ञान नहीं होनेसे आचार्य

निराकरण करते हुए तथा स्याद्वादमतका अस्तित्व बताकर उनका परिहार करते हैं। अर्थात् तीर्थच्छेद संप्रदायके एकान्तवादीयोंके मतमें अनाविलज्ञान अर्थात् निरावरण (केवलज्ञान) का अभाव होनेसे वे रथ्यापुरुषके समान माने गये हैं अर्थात् गल्लीयोंमें इधर-उधर घूमने वालोंके सदृश होनेसे उनमें वास्तविक आप्तता नहीं है। पुनः अविशिष्टवागादी प्रतिषेधवादी अर्थात् स्याद्वादीयोंने युक्ति तथा शास्त्रके अविरोध वचनसे अविशिष्टवाक्त्वका निराकरण किया है। इसीप्रकार युक्तिशास्त्राविरोधिवाचासे ही मीमांसकोंकी अक्षबुद्धिका निराकरण किया है। तथा आदिशब्दसे देश, काल, द्रव्यादिकोंका ग्रहण किया, और इच्छाकाभी निराकरण किया है। जिसप्रकार बौद्धादिकोंमें माने गये वागादिक अर्थात् वचनादिक निर्दोषज्ञानके निराकरण करनेमें समर्थ नहीं हैं। किन्तु स्याद्वादन्याय वेदियोंने माने हुए युक्तिशास्त्रके अविरोधवचन भगवान् तीर्थंकर प्रभुमें ही विद्यमान है। तथा अयुक्ति शास्त्रवादियोंको यह वचन अगोचर होनेपर उनको अकलंकदेवकी बुद्धि ग्रहण करनी चाहिये। इसप्रकार सिद्ध हुआकि, जिसमें सुनिश्चित है असंभव वाधकप्रमाण, उससेही तीर्थच्छेद संप्रदायका निराकरणकर उसीकारणसे परमात्मा अर्हन्तभगवान्में ही इन्द्रिय-अनिन्द्रियके अन्यतम आवरणोंका क्षयोपशम होजाना इनका नामही लब्धि है, तथा अर्थग्रहण करनेका जो व्यापार है वह उपयोग है और इन दोनोंका संस्कार अर्थात् आवरण निवन्धनका नाश हो जानेपर भव-संसारका विध्वंस अर्थात् मोक्ष प्रभु तीर्थंकर परमदेवको ही गुरु माने गये हैं इसप्रकार कारिका व्याख्यान हुआ। इसीप्रकारसे सकलस्याद्वादन्याय विद्वेषी बौद्धादिकोंके आप्त प्रतिक्षेप किये गये। तथा स्याद्वादीयोंके आप्त (सर्वज्ञ) अप्रतिक्षेप होनेसे सुनिश्चित है असंभव बाधकप्रमाण उससेही भगवान्में आप्तपन है अन्योंमें नहीं है यह यथार्थ सिद्ध हुआ। इसीकी सार्थकता चौथी कारिकामें वतलाई जायगी।

मीमांसक कहते हैं यदि परमात्मा साक्षात् वस्तु जानते हैं तो इन्द्रिय-संस्कारके अनुग्रहसे ही अन्यथा प्रत्यक्षत्त्वका विरोध हो जायगा। स्याद्वादी उत्तर देते हैं कि, युगपत् संपूर्ण अर्थोंको जाननेमें इन्द्रियसंस्कार ज्ञान नहीं पैदा कर सकते हैं क्योंकि वे असमर्थ हैं। अर्थात् इन्द्रियोंका विपय मर्यादित वर्तमान कालकाही होनेसे "सम्वन्धं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिभिः" इति वचनात्। अर्थात् चक्षुरादिक इन्द्रियोंके द्वारा संबंधित वर्तमान कालिन अर्थ ग्रहण किया जाता है ऐसा वचन होनेसे। इसलिये यदि ऐसा होगा तो वेआप्त

ज्ञानवान् नहीं कहलायेंगे अर्थात् भविष्यत् कालीन तथा भूतकालीन विषयोंके ज्ञानका अभाव होनेसे उनमें अज्ञत्व आजायगा इसप्रकार नहीं हो सकता। लब्धि तथा उपयोगके संस्कार क्षय होनेसे ही अतीन्द्रियत्व आजायगा ऐसा वचन है। तथा लब्धि-उपयोगका जो संस्कार वही धारणा कहलाती है उन दोनोंका अभाव होनेसे ही ज्ञानी कहलावेंगे। इसलिये संपूर्ण रीतिसे ज्ञानावरणीय कर्मका क्षय होनेसे ही भगवान् अतीन्द्रियप्रत्यक्षको ग्रहण कर सकते हैं ऐसा सिद्ध हुआ।

कश्चित्स्वमतवर्ती प्रश्न करता है—भावेन्द्रियोंमें आवरण निवन्धनत्व कैसा ? ऐसा कहोगे तो देशघाति ज्ञानावरण स्पर्धकोंका उदय तथा सर्वघाति ज्ञानावरण स्पर्धकोंका उदयाभाव सदवस्थारूप उपशम इसप्रकार आत्मामें कर्मस्वरूपका संबंध विद्यमान होनेसे आवरणनिवन्धनत्वकी सिद्धि होती है।

मीमांसक शंका करता है कश्चित् भवभृत् अतीन्द्रिय प्रत्यक्षको ग्रहण करनेवाला नहीं है जैसे भगवान्में यह लक्षण घटित होगा, ऐसा प्रश्न उपस्थित होनेपर आचार्य उत्तर देते हैं कि यह तुह्मारी शंका श्रेयष्कारक नहीं है, क्योंकि उनमें 'भवभृतां' प्रभुत्व होनेसे। तथा भवभृत्साम्यमें ऐसा धर्म नहीं देखा गया है अर्थात् सकलभवभृत्प्रभुमें सिद्ध करनेमें शक्य नहीं है क्योंकि वे संसारीजन प्रक्रृतिसेभी अत्यन्त दूर वर्त्ति हैं।

पुनश्च मीमांसक कहता है सुनिर्णित है असंभववाधकप्रमाण, इसमें ही भवभृत्प्रभुको सिद्ध करते हो तो हेतु असिद्ध है। इसलिये सुनिश्चित है असंभव साधकप्रमाणत्व वह सर्वज्ञ वाधकके लिये विद्यमान है तथा प्रत्यक्षप्रमाण तो उनके साधकके लिये समर्थ नहीं है। तथा अनुमान प्रमाणभी सर्वज्ञ साधक नहीं हो सकता है क्योंकि उनका एक अंशभी यह प्रमाण दिग्दर्शित नहीं करेगा। कहा है कि—आधुनिक समयमें हमें सर्वज्ञ दृग्गोचर नहीं हो सकते हैं अर्थात् हमने नहीं देखा।

आगम प्रमाणभी सर्वज्ञ प्रतिपादक नहीं है क्योंकि वह अपौरुषेय तथा अनित्य होनेसे तथा योगमें उस का प्रामाण्य माना जाय तो स्वरूपमें नहीं माना जायगा। वेही सर्ववित् अर्थात् सव जानने वाले हैं तथा लोकस्वरूपको ही समझनेमें समर्थ हैं, इत्यादि हिरण्यगर्भ सर्वज्ञ हैं। तथा इसप्रकारके नित्य आगम माने जाय तो कर्मार्थवादका प्रसंग आ जायगा इसलिये सर्वज्ञस्वरूपका ही असंभव है। अतः स्तुत्यर्थ कथनपर वचनोंसे भी सर्वज्ञत्वका विधान नहीं देखा जाता है।

यदि आगमसे ही सर्वज्ञत्वका अस्तित्व सिद्ध होजायगा ऐसा कहोगे तो भी कुतश्चित् आगम प्रमाणका ही अयोग देखाजाता है क्यों कि अनादि आगमसे आदिमत्सर्वज्ञकी सिद्धि माननेसे विरोध आजाता है।

तथा अनित्य आगमभी सर्वज्ञ प्रतिपादक नहीं है। अतः परस्परा श्रयनामक दोष आता है। और नरान्तर प्रणीत आगम मानोगे तो भी उसको प्रमाणभूत नहीं माना जायगा जिससे सर्वज्ञ सिद्ध होजाय। तथा असर्वज्ञप्रणीत आगमवचन मानोगेतो प्रामाण्यत्वका अभाव हो जावेगा। कहा है कि ।१। आगम विधिसे भी कश्चित् नित्य सर्वज्ञ बोधक नहीं है। तथा चोदना बलसे भी सर्वज्ञका तात्पर्य नहीं जाना जाता है और वाक्यार्थ प्रधानसे भी सर्वज्ञका अस्तित्व नहीं माना गया है तथा कोई भी प्रमाणोंसे सर्वज्ञ अवगत है ऐसे भी नहीं कहसकते हैं।२। तथा आगमका अर्थ अनादिकालीन होनेसे वह आदिमान् सर्वज्ञको कैसे कहेगा। और कृत्रिम असत्य आगमसे सर्वज्ञका प्रतिपादन कैसे होगा।३।

अर्थात् सर्वज्ञके वचनसे सर्वज्ञ हैं अन्यथा अज्ञही माने जाते हैं। अतएव इन दोनों की सिद्धि कैसे हो सकती है परस्परमें अन्योन्याश्रयनामक दोष आता है।

सर्वज्ञ द्वारा कथन किया गया वाक्य सत्य है जिससे उनका अस्तित्व माना जावें। इन दोनोंकी कैसे सिद्धि होगी, क्योंकि प्रमाणान्तरसे सर्वज्ञकी कल्पना की जावें।५।

तथा असर्वज्ञप्रणीत आगम नहीं हो सकता क्योंकि उनका वचन अप्रामाण्य होनेसे। और सर्वज्ञतक पहुँचनेवाला स्ववाक्य, उससे सर्वज्ञको क्या जाना जायगा ?।६।

उपमान भी सर्वज्ञ साधक नहीं है क्योंकि सर्वज्ञसदृश्य इस जगत्में किसी का भी अभावही है। तथा सर्वज्ञ सदृश्य किसीको भी इस समयमें देखा है जिससे हमने सर्वज्ञको जानलिया है ?

अर्थापत्ति भी सर्वज्ञको सिद्ध नहीं करसकता है, क्योंकि अर्थापत्तिसे उत्पन्न किया हुआ अर्थ उसका अभाव है। और धर्मादि-उपदेश तो सर्वज्ञ के अभावमें भी संभव है, क्योंकि वहुत लोगोंने उसको ग्रहण किया।

कहाभी है सर्वज्ञके अभावमें भी वौद्धादिकोंने धर्माधर्मादिगोचर उपदेश

दिया है। तथा सर्वज्ञके अभावमें उपदेशका भी अभाव है।१। वे वेदजानकार नहीं हैं क्योंकि उपदेश वेदसे संभव नहीं है इसलिये केवल व्यामोहसे ही उन्होंने किया है।२।

जो मन्वादिक हैं उनके प्राधान्यसे त्रयीविदाश्रित ग्रन्थ मौजूद हैं तथा वे ग्रन्थ वेदप्रभवोक्त कहे जाते हैं इसप्रकार उनके उपदेश सिद्ध हैं।३।

तथा प्रमाणान्तर सदुपलंभक सर्वज्ञसाधक नहीं है इस समय हमलोगोंका विश्वास है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध किया जायगा किन्तु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि देशांतरवर्ति, कालान्तरवर्ति कोईभी प्रमाण सर्वज्ञसाधक नहीं हो सकता है। तथा दूरादिनियतार्थ गोचर प्रमाणोंसे तज्जातीयअर्थ दृष्टिगोचर हो सकते हैं अतः आधुनिक समयमें ऐसा वचन देखा जाता है। तथापि विवादाध्यासित देशमें, कालमें प्रत्यक्षादिप्रमाण प्रत्यक्षादिग्राह्यसजातीय अर्थको ग्रहण करते हैं किन्तु विजातीय सर्वज्ञादि अर्थग्राहक नहीं हैं।

सिद्धान्तपक्ष ग्रहणकर वादी विचार करता है कि, जैसे यथाभूत इन्द्रियजनित्य प्रत्यक्षादिकोंसे सर्वज्ञादि अर्थ असाधक देखकर तथा भूत देशान्तरमें तथा कालान्तरमें तत्सदृश्य सिद्ध करते हैं या अन्यथा भूत ?। यदि तथा भूत कहोगे तो सिद्ध साधन नामक दोष आजाता है। और अन्यथा भूत कहोगे तो अप्रयोजक हेतु है। विवादाध्यासित प्रत्यक्षादिप्रमाण इन्द्रियादि सामग्री विशेषकी अनपेक्षा नहीं हैं क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणत्व हेतु होनेसे अर्थात् प्रसिद्ध प्रत्यक्षादि प्रपाणके समान होनेसे। क्योंकि गिधाडपक्षीकी आँख तीक्ष्ण होती है, तथा रान सूअरके कान तीव्र होते हैं और चींटियोंके घ्राण वहुतही तीक्ष्णतम होनेसे प्रत्यक्ष से देखा जाता है कि, दूरवर्ति पदार्थोंके आस्वाद ग्रहण करते हैं। तथा बिल्ली, उल्लू तथा चूहे इत्यादि नक्तञ्चर प्राणी कहलाते हैं अर्थात् सूर्य प्रकाशके अभावमें भी रातमें संचार कर जीते रहते हैं।

तथा कात्यायन=वररुचिके अनुमानातिशयसे अथवा जैमिन्यादि आगमातिशयसे उनको भी इन्द्रियोंकी एकाग्रता विना अर्थ गोचर करलेना असंभव है।

उन लोगोंने स्वार्थ अर्थात् नियत विषयका उल्लंघन नहीं करने पर भी अतीन्द्रियको नहीं माना है अतएव तत्सदृश्य अर्थको वे नहीं जानसकते हैं।

कहा गया है कि इन्द्रियोंका भी अतिशय देखा गया है वह नियत विषय का उल्लंघन नहीं करता है अर्थात् दूरवर्ति, सूक्ष्मादि पदार्थोंको चक्षु देख सकता है किन्तु देखना यह विषय कानका नहीं है।१।

जो भी सातिशय प्रज्ञा, स्मृत्यादि शक्ति युक्त पुरुषोंके द्वारा देखे गये हैं वे सब इन्द्रियजन्य ज्ञानसे अल्प-अल्प प्रमाणोंमें ही न तु अतीन्द्रिय ज्ञानसे ।२।

बुद्धिमान् पुरुषभी सूक्ष्मादि अर्थोंको देखनेमें समर्थ है और तज्जातीय अर्थो का उल्लंघन नहीं करता हुआ उनमें ही लवलीन रहता है ।३।

एक शास्त्रके विचारमें तो महान् अतिशय देखे जाते हैं किन्तु शास्त्रान्तर ज्ञान एक शास्त्रज्ञान मात्रसे नहीं होगा ।४।

व्याकरण जानकर शब्द, अपशब्दको दूर करसकते हैं किन्तु उस बुद्धि से नक्षत्र तिथि तथा ग्रहणके निर्णय नहीं कर सकते हैं ।५।

ज्योतिषशास्त्रज्ञ उत्कृष्ट रीतिसे चन्द्रग्रहण तथा सूर्य ग्रहण जानते हैं, किन्तु भवत्यादि शब्दों के लक्षण यथार्थ जाननेमें समर्थ नहीं हो सकते हैं ।६।

प्राचीन राजालोगोंके चरित्र तथा ग्रन्थ संदर्भ इतिहास वगैरह ज्ञानातिशयवान् जान सकते हैं, किन्तु स्वर्ग देवताओंके पुण्य' पाप जाननेमें समर्थ नहीं हो सकते हैं ।७।

जो पुरुष आकाशमें दस हाथ उडकर जा सकता है किन्तु सैकड़ों अभ्यासोंसे भी एक योजन उड़कर नहीं जा सकता है ।८।

इस प्रकार इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षादिसे अतीन्द्रियभूतज्ञान होना संभवनीय नहीं है जिससे सम्भाव्य अतीन्द्रिय प्रत्यक्षादिसे 'प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात् इतिसाधनस्य'अर्थात्प्रत्यक्षादि प्रमाणत्व साधनमें व्यभिचार आजायगा । तथा पुरुषविशेषमें वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्षसंभाव्य व्यभिचारित्व है ऐसा कहोगे तो उस पुरुष विशेषका ही असिद्धत्व है क्योंकि सर्वपुरुषोंमें साधकका अभाव है अतः त्रिविप्रकृष्टार्थ अर्थात् सूक्ष्मपरमाण्वादिक पदार्थ, अन्तरित रामादि, दूरवर्ति हिमवदादि पदार्थ ये सब किसी पुरुष विशेष को साक्षात्कारी नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार मीमांसक यथार्थ परीक्षक नहीं कहला सकता है ।

यहाँपर स्याद्वादी कहते हैं कि, सर्वज्ञका निराकरण नहीं हो सकता है । पूर्वमें तुमने सुनिश्चित है असंभव साधक प्रमाणत्व सिद्ध है ऐसा जो कहा है वह नितान्त असत्य है, जिससे मीमांसक प्रतिकूलताका अवलम्बन कर सके किन्तु नहीं । तथा अन्यत् संवादकत्वादि भी बाधक नहीं हैं अर्थात् उनके दिये गये प्रत्यक्षादि विश्वास कारण नहीं हैं । सर्वज्ञ सिद्धिमें बाधकप्रमाणका असंभव है

इससे सर्वज्ञ सत्ताकी सिद्धि होगई अर्थात् सर्वज्ञके सत्यदर्शनमें या असत्यदर्शनमें अविशेषता होनेसे सर्वत्रही सुनिश्चित है असंभव वाधक प्रमाणका अभाव इसलिये प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष इन दोनोंका विभ्रम सिद्ध हुआ।

मीमांसक कहता है कि, हमने सर्वज्ञका निराकरण किया है इसलिये सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं हो सकती है। पूर्वमें कहागया सुनिश्चित असंभवत्साधक प्रमाणत्वही स्वप्रत्यक्षकी तथा सर्वज्ञान्तर प्रत्यक्षकी सिद्धि सर्वज्ञ साधकतासे ही संभवनीय होगी। तथा अन्तरित राम रावणादि दूरवर्ति हिमवदादि सकल सूक्ष्मादि अर्थ प्रतिपादक सर्वज्ञ वचन विशेषात्मक लिंग जनित अनुमान ही सर्वज्ञ साधक हो सकता है। तथा अनादि प्रवचन विशेष भी सर्वज्ञ साधकता से ही सिद्धहोगा। हमने पूर्वमें ही सर्वज्ञका निराकरण किया तो उत्तर कालमें सर्वज्ञ की सिद्धि कैसे होगी ?

अव सिद्धान्ती कहते हैं–मीमांसकोंका ऐसा कहनाही स्वमनोरथमात्र है अर्थात् सर्वज्ञका निराकरण नहीं हो सकता क्योंकि सर्वथा वाधक प्रमाणका अभाव होनेसे अयोगता हेतु सिद्ध होजाता है।

यदि सदुपलंभक प्रमाणपंचक निवृत्तिलक्षण ज्ञापकानुपलंभ अर्थात् विद्यमान दर्शक प्रत्यक्षादि प्रमाणपंचक अभाव स्वरूप होनेसे ज्ञापकानुपलंभ अभाव प्रमाणही है इसलिये वह सर्वज्ञका वाधक हो सिद्धहोता है ऐसा कहोगे तो ठीक नहीं है।

सिद्धान्ती दूषण देते हैं जैसे–सर्वज्ञ अनुपलंभ प्रमाण स्वसम्वन्धि है या परसम्वन्धि है ? यदि सम्वन्धि कहोगे तो असिद्ध है। तत्त्वार्थश्लोक वार्तिकमें कहा है कि–यदि स्वसम्वन्धि है तो व्यभिचारी है अर्थात् समुद्रमें कितने घडे जल है इसप्रकार पूछनेके समान होनेसे अल्पज्ञ नहीं जान सकते हैं।१।

तथा सर्वसम्वन्धि तो वह जाननेके लिये किंचिज्ञ होनेसे अशक्य है। यदि सर्ववोध कहोगे तो केचित् विशेष पुरुष उसके जानकार हैं तो उसका निषेध क्यों करते हो।२।

मीमांसक और सर्वसम्वन्धि सर्वज्ञका जानकार नहीं है क्योंकि चक्षुओंके द्वारा जाना जायगा ऐसा नहीं होसकता है वह अतीन्द्रिय होनेसे अगोचर है।३।

तथा अनुमानसे भी सर्वज्ञका अस्तित्व नहीं जाना जाता है क्योंकि

अत्यन्त परोक्ष होनेसे ज्ञापकलिंगकाही अभाव है। एवं अर्थापत्ति तथा उपमानभी सर्वज्ञसाधक नहीं हो सकते अर्थात् अन्यथाभाव सर्वज्ञ सदृश्यकी उपपत्ति नहीं है।४।

और सर्व प्रमातृ संबंधि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका निराकरण किया गया है फिर केवल आगमसे अर्थात् ज्ञापकानुपलंभनसे ही सर्वज्ञका अभाव सिद्ध होता है। ऐसा कहनेवाला मीमांसक कैसे परीक्षक होगा ? ।५।

अर्थात् कार्यार्थमें चोदनाज्ञान प्रमाण है ऐसे कहनेवाले मीमांसकोंको यह सम्मत है। किन्तु सर्वज्ञके स्वरूप सत्तामें मात्र ज्ञापकोपलंभ नहीं है ऐसे कहनेसे 'जल पवित्र है' इसमें भी प्रामाण्यका प्रसंग आयगा।६।

तथा सर्वज्ञका ज्ञापकोपलंभकाही अभाव है क्योंकि अभाव प्रमाणसे यह सिद्ध होता है। ऐसा कहोगे तो नहीं अर्थात् सब पुरुषोंके संबंधमें ज्ञापकानुपलंभनकी प्रवृत्ति नहीं है।।७।।

तथा वस्तुके स्वरूप ग्रहण कर एवं तत्प्रतियोगिके स्मरण करके भी मानस प्रत्यक्षसे सर्वज्ञका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि जिनके मतमें अक्षज्ञान (प्रत्यक्षज्ञान) की अनपेक्षा है।८।

क्योंकि उनके मतमें संपूर्ण मनुष्य ज्ञान नहीं होनेसे अर्थात् सर्वज्ञ ज्ञापन कालमें मानस ज्ञान नहीं होता है इसलिये सर्वज्ञका नास्तित्वही सिद्ध है।९।

तथा संपूर्ण मनुष्योंको भी युगपत् ज्ञान नहीं होता है, एवं क्रमसे भी नहीं क्योंकि अन्यपुरुषादि मनोव्यापारके प्रत्यक्षत्वादिकोंको अनिष्टपन माने गये हैं।१०।

तथा क्वचित् मनुष्यमें युगपत् ज्ञान होगा तो सर्वज्ञकी नास्तिता निश्चिति है। एवं अन्यपुरुषोंमें भी नहीं है क्योंकि उनकी सर्वत्र नास्तिता गति है अर्थात् सर्वज्ञका नास्तित्व ही है।११।

एवं प्रमाणान्तरोंसे भी मीमांसकोंको क्वचित्पुरुषमें सर्वज्ञत्व नहीं मान्य है क्योंकि उन्होंने सब पुरुष मात्रका ग्रहण किया है। तथा अनुमानादि लिंग भी असिद्ध हैं। इसलिये पूर्वमें ही हमने सर्वज्ञकी नास्तिकताको प्रत्येक प्रमाण से सिद्ध की है।१२।

तथा पूर्व कालमें सर्वज्ञ ज्ञापकोपलंभभी कदापि सिद्ध नहीं था क्योंकि

जिसका स्मरण करनेसे नितान्त ही सर्वज्ञके अस्तित्वकी सिद्धि हो जावेगी ? ।१३।

यदि जैनादिकोंके उपगमसे सिद्ध कहोगे तो नहीं ऐसा हम साध्य करेंगे। जैसे परोपगमको (जैनोंको) प्रमाण कहोगे तो अन्योन्य अर्थात् वादि प्रतिवादियोंको भी सिद्ध होगा। अन्यथा अप्रमाण कहोगे तो परस्पर दोनोंको ही असिद्धत्व आयगा ।१४।

शंकाकार पूछता है—सर्वथा एकान्त परोपगमसे कैसे सिद्ध होगा यदि जैनोंके द्वारा निषेध किया जाता है इस प्रकार बुद्धिमान् लोगोंको नहीं कहना चाहिये ।१५।

क्योंकि ज्ञात किया जाता है कि वस्तुका स्वरूप अनन्त धर्मात्मक होने से वह स्वयमेव अबाधित कहलाता है। यहां पर कोनसा दोष है जिससे सुयुक्तियों के द्वारा विवादाध्यासित एकान्तको साधनेमें ।१६।

तथा अनेकान्तही विज्ञान है और एकान्त वहां अनुपलंभ है इसप्रकार विधि, निषेधकी गति नहीं हो सकती ।१७।

अब सिद्धान्ती कहते हैं कि—सर्वत्र सर्वज्ञका ज्ञापक अनुपदर्शन नहीं है जिससे सर्वज्ञ दर्शनारोप सिद्ध होगा तो निषेध किया जायगा नान्यथा ।१८।

वह असिद्ध है, ज्ञापकानुपलंभन सर्वज्ञके बाधक नहीं है सिद्ध हुआ कि सुनिश्चित है जिसमें असंभवव्दाधक प्रमाणत्व वही सर्वज्ञके साधक प्रमाण माना गया है।

तथा सर्वज्ञ हैं अर्थात् सुनिश्चित है जिसमें असंभवव्दाधक प्रमाण उससे प्रत्यक्षादि प्रमाणवत् यह दृष्टात दिया गया है। एवं प्रत्यक्षादि प्रमाण विश्वास-नीय हैं क्योंकि उनमें बाधक असंभव है। इस हेतुमें दूसरे संवादकत्वकी प्रवृत्ति है क्योंकि सामर्थ्यका सद्भाव अदुस्ट कारणसे हुआ है। उस संवादकत्व की, सुनिश्चत है असंभवव्दाधकत्वमें प्रवृत्ति; देखी जाती है। तथा वादिप्रति वादियोंको प्रत्यक्षादि प्रमाण प्रसिद्ध उदाहरण हैं अर्थात् साध्य, साधन धर्म अविकल होनेसे।

तथा सुनिश्चितासंभवव्दाधक प्रमाण अविद्यमान है इसप्रकार संदिग्ध, विव्पक्षका व्यावृत्तक है ऐसा मत मानो क्योंकि विपक्षमें बाधक प्रमाणका सद्भाव है।

जो असत् है वह सुनिश्चितासंभवव्दाधक प्रमाण नहीं है। जैसे मरीचिकामें जल है यह बाधक प्रमाण संभवनीय है। वैसे मेरू पर्वतके शिखर पर मोदक (लड्डू) हैं इसप्रकार इन दोनोंमें सुनिश्चितासंभवव्दाधकप्रमाणत्व हेतु संभव है। इसीप्रकार सुनिश्चितासंभवव्दाधक प्रमाणही सर्वज्ञ हैं यह सिद्ध हुआ।

इसलिये प्रकृत सर्वज्ञ सिद्ध होनेपरभी हेतु अपनी सत्ताको यदि नहीं सिद्ध करेगा तो प्रत्यक्षभी अप्रत्यक्ष हो जायगा, और विश्वास नहीं होनेसे वह प्रत्यक्ष स्वप्नादिविभ्रमवत् हो जायगा।

तथा प्रत्यक्षका सुनिश्चितासंभवव्दाधकप्रमाणत्वके अभावमें तथा सर्वज्ञ दर्शनमें या दर्शनाभासमें समान हो जायगा क्योंकि विशेषका अभाव होनेसे।

मीमांसक शंका—साधक, बाधक प्रमाणोंके सद्भावसे सर्वज्ञमें संशय है ऐसा कहनाही युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि स्याद्वादीयोंने साधक तथा बाधक प्रमाणोंका निर्णय किया है। यदि सर्वज्ञके भाव एवं अभावमें सम्यग्ज्ञान नहीं होकर निर्णय नहीं होगा तो संदेह करना योग्य है। क्योंकि सर्वज्ञ सत्तामें साधकका निर्णय होता है और असत्तामें बाधकका निर्णय किया जाता है। तथा वस्तुमें इनके उभय निर्णय संभवनीय नहीं हैं, विरोध होनेसे जैसे जहां साधकका अभाव वहां बाधकका सद्भाव वैसे जहां बाधकका अभाव वहां साधकका सद्भाव इसलिये एकत्र साधक, बाधकका अभाव सिद्ध नहीं है। पुनः सत्तामें साधकका निर्णय नहीं होनेसे संदेह हो जाता है, एवं असत्तामें बाधकका अनिर्णय हो तो सर्वत्र बुद्धिमानोंको संदेह होता है।

तब भवग्रहण करनेमें प्रभु इस विषयमें सुनिश्चितासंभवव्दाधकप्रमाणत्व सत्तामें साधकत्वको सिद्ध होना है एवं जहां सुनिश्चितासंभवव्दाधक प्रमाण है वहां सुनिश्चितासंभवत्साधक प्रमाण घटित नहीं होता है क्योंकि परस्परमें विरोध आता है। अतः सुनिश्चितासंभवत्साधक प्रमाण सर्वज्ञमें सिद्ध नहीं होता है जिससे सुनिश्चितासंभवव्दाधक प्रमाण व्यावर्तक हो सकेगा ?। अतएव निर्दोषत्वहेतुसे भवभृतां प्रभु सर्वज्ञ हैं ऐसा सिद्ध होगया।

निश्चयसे ज्ञस्वभावी सर्वज्ञकिसीको भी अगोचर नहीं है जिनने नहीं जान सके, अन्यथा स्वभावान्तर अर्थात् अज्ञत्वलक्षणका निषेध होनेसे।

मीमांसक कहता है कि, सर्वज्ञके अज्ञत्वलक्षणका प्रतिषेध कहां सिद्ध है जिससे वे ज्ञस्वभावी होंगे ? तथा सभी अर्थ उनके विषय हो जावेंगे ? अतः सर्वज्ञको जान सके, यदि तुम ऐसा कहोगे तो स्याद्वादी उत्तर देते हैं कि, चोदनाके बलसे भूत, वर्तमान, भविष्यत्कालीन सकलार्थका ज्ञान होना अन्यथा संभव नहीं है अर्थात् ज्ञस्वभावत्वका अभाव कैसे होगा ? आत्माका ज्ञस्वभावही साध्य है। अर्थात् चोदना-भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्कालीन विप्रकृष्टार्थको भी जानता है किन्तु सकलार्थ ज्ञानस्वभावी आत्माको नहीं जानता है ऐसा स्वयमेव कहने वाला मीमांसक वुद्धिमान कैसे हो सकता है ? क्योंकि ज्ञान आत्मासे भिन्न नहीं है इसलिये मीमांसकको कथंचित् अभेद मानना चाहिये। यदि सर्वथा भेद मानने से यौगमतका प्रसंग आ जायगा। अतः पुरुष अज्ञस्वभावी नहीं है, भूतादि अशेषार्थ विषयमें चोदना ज्ञानोत्पत्ति करेगी या क्वचिद्विषयमें करेगी ? यदि सर्वत्र व्याप्तिज्ञानकी उत्पत्ति नहीं है तो विधि, प्रतिषेधका विचारही नहीं बन सकता है।

मीमांसककी शंका–कस्यचित्, क्वचित्में अज्ञान कैसे ? ऐसा कहोगे तो जैन उत्तर देते हैं–अर्थात् चेतनाके संबंधि–ज्ञानावरणादिकर्म मोहोदयके निमित्त होजाते हैं जैसे शराब पिये हुए मनुष्यके समान।

मीमांसक पूछता है–वह ज्ञानावरणकर्म कैसे सिद्ध होगा ?

आचार्य उत्तर देते हैं–विवादाध्यासित जीव उसको मोहोदयसे अज्ञानादि-कोंका उदय होता है, संबंध्यन्तर कारणसे मोहोदय होता है तथा मदिरा कारणके मोहोदयवत् इसप्रकार अनुमानसे ज्ञानावरणादिकर्म सिद्ध हैं। अर्थात् संबंध्यन्तर आत्माके ज्ञानावरणादिकर्म हैं। उस कर्मका अभाव होनेसे संपूर्णतासे विरत-व्यामोही भूत, भविष्य तथा वर्तमान पदार्थोंको देखनेमें कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि ज्ञानोत्पादसे यह हेतु दिया गया है।

किन्तु ज्ञानावरणादि संबंध्यन्तरका अभाव होनेसे साकल्यतासे कैसे विरतव्यामोही हो सकते हैं जिससे समस्त भूत, भविष्य तथा वर्तमानवर्ति अनन्तार्थ व्यंजन पर्यायात्मक जीवादि तत्वोंको साक्षात्कैसे कर सकते हैं, ऐसा कहोगे तो–

स्याद्वादी उत्तर देते हैं–अर्थात् सत्यका अभाव नहीं हो सकता है तथा असत्यका प्रादुर्भाव नहीं। जैसे–अग्निके अभावमें धुंआका भी अभाव देखाजाता

है अतएव संबंध्यन्तर ज्ञानावरणादि कर्मोंके सद्भावमें आत्माका व्यामोह हो जाता है क्योंकि अज्ञानका अभाव होनेसे व्यामोह नहीं होता है इसप्रकार निश्चय किया जाता है।

मीमांसक शंका–विरतव्यामोही समीपवर्ति संपन्नार्थको ही देखेगा किन्तु दूरवर्ति अर्थको नहीं देख सकता है।

स्याद्वादी उत्तर देते हैं–ऐसा कहना अयुक्त है क्योंकि प्रत्यासत्ति, विप्रकर्ष इन दोनोंमें ज्ञान तथा अज्ञानका अभाव है अर्थात् चक्षु, तारका इन दोनोंका अंजनके साथ प्रत्यासत्ति होनेपरभी ज्ञानोदयका अभाव है। जैसे चक्षु तथा तारका चन्द्रमा और सूर्यको भी जानती है।

इसलिये योग्यताका सद्भाव होनेसे तथा ज्ञानावरणका विशेष अभाव होनेपर योग्यताही ज्ञानका कारण है। अतः प्रत्यासत्तिका अभाव तथा विप्रकर्षका सद्भाव होने परभी ज्ञानोत्पाद देखा जाता है। इसलिये वही योग्यता–देशतः तथा संपूर्णतासे व्यामोहका विनाश होजाना उस प्रतिवंधिकर्मका क्षयोपशम तथा क्षय लक्षण है। इसप्रकार साकल्यतासे विरतव्यामोही सब देखता ही है।

कहा गया है कि—सर्वज्ञ ज्ञेय (जानने) योग्य पदार्थोंको जाननेमें कैसे अज्ञ होंगे ? अन्यथा ज्ञेयमें प्रतिवंधन हो जायगा। अतएव अग्नि दाहययुक्त इंधनको नहीं जला देयगी ? अवश्य जलायगी, अन्यथा प्रतिवंधनका प्रसंग आ जायगा।

जैसे–अंजनादिसे सुसंस्कृत चक्षु प्रकाशके अभावमें भी देख सकता है वैसे अर्हत्प्रत्यक्ष इन्द्रियज्ञानकी अपेक्षा नहीं करता हुआ ज्ञेय पदार्थको जान सकता है। इसलिये साकल्यतासे विरतव्यामोहसे या सर्वदर्शनसे ही देख सकते हैं। और जो देशतः विरतव्यामोही है वे किंचित् ही अस्पष्ट रूपसे देखते हैं। इसलिये उनके लिये ही इन्द्रियकी अपेक्षा मानी गई है। किन्तु उनके विलक्षण समस्तव्यामोह नष्ट हो चुका है ऐसे सर्वदर्शीके विषययें इन्द्रियकी अपेक्षा माननेसे सर्वज्ञत्वका विरोध हो जायगा। अर्थात् सर्वार्थोंके साथ युगपत् इन्द्रियोंका संबंध संभव नहीं है साक्षात् या परंपरा से।

तथा अवधि, मनः पर्ययज्ञानियोंके विषयमें देशतः (अंशतः) विरतव्यामोह संभवनीय होनेसे तथा मर्यादित विषयोंको विषय करनेसे इन्द्रियोंकी अनपेक्षा कैसे संभव है ?

सिद्धान्ती उत्तर देते हैं–आवरण क्षयोपशमके अतिशयवशसें स्वविषयमें स्पस्टरीत्या वस्तुस्वरूपका अवलोकन कर सकते हैं ऐसे हम कहेंगे। इसलिये साकल्यतासे विरतव्यामोही या सर्वदर्शनीयोंमें अनैकान्तिकत्वका दोष नहीं आसकता है। जैसे विपक्ष भूत मति तथा श्रुतज्ञानमें इन्द्रियोंकी अपेक्षा होनेपर वहां विरत व्यामोहत्वका असम्भव है। तथा अवधि, मनः पर्ययज्ञानमें विकलतासे विरतव्यामोहका सम्भव होनेसे पक्ष अव्यापक होकर हेत्वाभासका दोष आजाता है, ऐसा नहीं है। सकलप्रत्यक्षका ही हमने पक्षमें ग्रहण किया है। वहां इस हेतुका सद्भाव होनेसे, तथा विकल प्रत्यक्ष अवधि, मनः पर्यय ज्ञानका अपक्ष स्वीकार किया है। अतएव इन्द्रियग्राही हमारे पक्षमें अक्षकी अपेक्षाहोनेसे तद्वत् सकलप्रत्यक्षमें भी अक्षापेक्षा है ऐसा कहना ही शक्य नहीं है।

अर्थात् अंजनादिकोंसे असंस्कृत हमारे चक्षु प्रकाशकी अपेक्षा करते हैं, इसी प्रकार संस्कृत चक्षुभी प्रकाशकी अपेक्षा करेगा तो उसपरभी आलोकापेक्षाका प्रसंग आजायगा। अतः नक्तंचरादिकोंको प्रकाशके अभावमें भी उनको स्पष्ट रूपसे रूपावलोकन प्रसिद्ध है। इसलिये आलोक प्रत्यक्षके लिये नियत कारण नहीं है। ऐसा कहोगे तो सत्यस्वप्नज्ञान तथा ईक्षणिका ज्ञान अर्थात् द्वी-अक्षरा शाकिनी ग्राह्य इन दोनोंको स्पष्टरूपसे चक्षुरादिकों की अपेक्षा नहीं है यह प्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार अक्ष (इन्द्रिय) भी प्रत्यक्षका नियत कारण नहीं है। जैसे–अंजनादिसुसंस्कृत चक्षुओंको प्रकाशकी अपेक्षा नहीं होने पर भी रूपावलोकन स्पष्टरीतिसे करते हैं। वैसे–साकल्यतासे विरतव्यामोहको सर्वसाक्षात्करनेमें अक्षकी अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार इन्द्रियक्रमके व्यवधान व्यतिरिक्त सकल प्रत्यक्षी 'भवभृतां' अर्थात् संसार पूर्वक मोक्ष उसको पानेवाले गुरु प्रसिद्ध ही हैं।

जिससे–प्रभुके समवसरणमें देवोंके आगमनसे तथा बाहर सभाओंसे युक्त बाहिरंगलक्ष्मी एवं अनन्त चतुष्टयसे सहित अंतरंगलक्ष्मी इन दोनोंसे तथा दिव्यध्वनिसे, एवं समचतुरस्त्र संस्थान युक्त परमौदारिक शरीरादि महोदयसे भी महान् नहीं हैं, तथा तीर्थंकर मात्रासे भी महान् नहीं हो सकते हैं। जैसे–तीर्थच्छेदसंप्रदाय, तथा नियोग भावनादि संप्रदाय वैदिक प्रमाण भूत नहीं हैं। एवं प्रत्यक्षैक प्रमाणवादी संप्रदाय, तत्त्वोपलपववादी संप्रदाय या वैनयिक संप्रदाय ये सब प्रमाणभूत नहीं हैं। तब–सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणसंपन्न

भगवान् वर्द्धमान् भवभृत्प्रभु ही अत्यन्त दोषावरणकी हाना हानस तथा साक्षात्प्रबुद्ध अर्थात् सर्वज्ञ संपूर्णतत्वार्थ जाननेसे मुनियों एवं सूत्रकार–भगवान् समन्त भद्राचार्यादियोंसे स्तुतिकी जाती है।

सत्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्[10]।

अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन[11] न बाध्यते ॥६॥

दोषास्तावदज्ञानरागद्वेषादय उक्ताः। निष्क्रान्तो दोषेभ्यो निर्दोषः[12]। प्रमाणबलात्सिद्धः सर्वज्ञो वीतरागश्च सामान्यतो यः स त्वमेवार्हन्, युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात् यो यत्र[13] युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् स तत्र निर्दोषो दृष्टो, यथा क्वचिद्व्याध्युपशमे[14]भिषग्वरः। युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् च भगवान् मुक्ति संसार तत्कारणेषु[15], तस्मान्निर्दोष इति निश्चयः। युक्तिशास्त्राभ्यामविरोधः कुतोमद्वाचः[16] सिद्धोऽनवयवेनेति[17] चेद्यस्मादिष्टं मोक्षादिकं ते प्रसिद्धेन प्रमाणेन न बाध्यते। तथा हि यत्र यस्याभिमतं[18] तत्त्वं प्रमाणेन न बाध्यते स तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्। यथा रोगस्वास्थ्य तत्कारणतत्त्वे[19] भिषग्वरः। न बाध्यते च प्रमाणे न भगवतोभिमतं मोक्षसंसारतत्कारणतत्त्वम्। तस्मात्तत्र त्वं[20] युक्तिशास्त्रा-

---

टिप्पण्यां—[10]युक्तिस्तर्कः। शास्त्रमागमः। हेतुर्गर्भितं विशेषणमिदं। [11]यद्यस्मात्ते इष्टं प्रसिद्धेन न बाध्यते तत एवाविरोधः इत्यर्थः। [12]अनन्तरोक्त कारिकाद्वयोक्तानुमान द्वयबलात्। [13]तत्त्वे। [14]वैद्यशास्त्रयुक्त्यविरोधवाग् निर्दोषः। [15]मुक्तिश्च संसारश्च तत्कारणे च तेषु। [16]मम वर्द्धमानस्य। [17]सामस्त्येन। [18]यस्य पुरुषस्य स इति सम्बन्धः। [19]रोगश्च स्वास्थ्यं च तत्कारणानि च तान्येव तत्त्वं तस्मिन्। [20]भगवान्। सिद्धमस्ति, विषयविषयिणोरभेदोपचारात्। [21]तटस्थः

विरोधिवाक्। इति विषयस्य युक्तिशास्त्राविरोधित्वसिद्धेर्विषयिण्या भगवद्वाचो युक्तिशास्त्राविरोधित्व[२१] साधनम्। कथमत्र[२२] कारिकाया-मनुपात्तो भिषग्वरो दृष्टान्तः कथ्यते इति चेत् स्वयं[२३] ग्रन्थकारेणान्यत्रा-भिधानात्, "त्वंशम्भवः सम्भवतर्ष[२४]रोगैः सन्तप्यमानस्य जनस्यलोके। आसीरिहाकस्मिक[२५] एव वैद्यो वैद्यो यथा नाथरुजांप्रशान्त्यै" इति स्तोत्र प्रसिद्धेः।[२६] इह दृष्टान्तावचनं तु संक्षेपोपन्यासान्नविरुध्यते, अन्यथानुपप-न्नत्वनियमैकलक्षणप्राधान्य प्रदर्शनार्थं[२७] वा।

"त्वंशंभवः इस कारिकाका अर्थः—हे नाथ ! आप शम्भवनाथतीर्थंकर" जन्म, जरा, मरण, तृष्णा इत्यादिक भवरोगसे मुक्त हैं, तथा संसार समुद्रमें डूबकर पीडित अर्थात् दुःखित होकर तप्तायमान् जो लोग उनके लिये आपनिरपेक्षतासे अकारण वन्धु होनेसे वैद्यके रूपमें उन लोगोंका भवरोग शमनार्थ शांति दायक हैं। इस प्रकार स्वयंभूस्तोत्र प्रसिद्ध है।

अर्थः—हे भगवन् ! आपही निर्दोष हैं क्योंकि आपका वचन युक्ति और शास्त्रसे अविरोधी अर्थात् निर्वाधित है जो अविरोधी है वह स्वयमेव ग्रहण करने योग्य है तथा प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण से वाधित नहीं है।

भावार्थः—दोष अर्थात् अज्ञान, राग व द्वेषादिक वगैरह कहे गये हैं उन दोषों से जो रहित हैं वे भगवान् अरहंतदेव निर्दोष हैं। युक्तिसे, तर्क प्रमाणसे, आगम-प्रमाणसे तथा अनुमान प्रमाणसे वीतरागी सर्वज्ञ भगवान् सिद्ध हैं। और सामा-न्यतः आप्त भगवान्का वचनामृत युक्ति, शास्त्र इत्यादिकसे निर्दोष होनेसे संसार नाशक मुक्तिमें कारण होजाता है अर्थात् यहां कार्य कारणका वाच्य वाचक सम्वन्ध है। यथा वीजाङ्कुर न्यायवत्। इन दोनों विषयोंको युगपत् नहीं कह सकते।

शंकते। [२३]समन्तभद्राचार्येण। [२४]सम्भवः संसारः। तर्षस्तृष्णा। [२५]प्रत्युपकारनिरपेक्षः। [२६]कारिकायाम्। पक्षधर्मत्वादिपञ्चरूपं विनापि अन्यथानुपपन्नत्वनियमलक्षणाद्धेतोः साध्यसिद्धेः कारिकायाम-दृष्टात वचनम्।

उसी प्रकार संसारपूर्वक मोक्ष है संसारके अभावमें मोक्षकाभी अभाव होगा। इसका नाम है बीजांकुरन्याय। अतएव भगवान् वर्धमान स्वामीका वचन निर्दोष होनेसे प्रमाण बलसे सिद्ध है। तथा उनके कहे हुये जो इष्ट मोक्षादिक तत्व हैं वे निर्दोष एवं प्रमाणसे प्रसिद्ध हैं। और पक्ष, सपक्ष विपक्ष इन पंच प्रमाणोंके बिना अन्यथानुपपन्नत्व लक्षणसेही साध्य की सिध्दि होजाती है, इसलिये इस कारिकामें दृष्टान्तका कथन नहीं होने परभी संक्षेपसे उपन्यास करनेसे विरोध नहीं आता है। अथवा भगवान् के मोक्षतत्वमें प्रत्यक्ष प्रमाणसे भी बाधा नहीं आती है उस बाधकत्वका सर्वथा अभाव है।

भगवतोऽर्हत एव युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वेन सुनिश्चितासम्भवब्दाधकप्रमाणत्वेन च सर्वज्ञत्ववीतरागत्वसाधनात्। ततस्त्वमेव महान् मोक्षमार्गस्य प्रणेता नान्यः कपिलादिः। यस्मात्—

त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्।
आप्ताभिमानदग्धानां[1] स्वेष्टं[2] दृष्टेन बाध्यते ॥७॥

त्वन्मतमनेकान्तात्मकं वस्तु तज्ज्ञानं च तदेवामृतम्, अमृतस्य मोक्षस्य कारणत्वात् सर्वथा निर्बाधत्वेन परितोषिकारित्वाच्च। ततो बाह्याः सर्वथैकान्तास्तदभिनिवेशिनश्च[3] वादिनः। ते चाप्ताभिमानदग्धा एव विसंवादकत्वेन तत्त्वतोऽनाप्तत्वाद्वयमाप्ता इत्यभिमानेन स्वरूपात्प्रच्यावितत्वाद्[4]दग्धा इवदग्धा इति समाधिवचनत्वात्[5]। तेषां स्वेष्टस्य सदाद्येकान्तस्य दृष्टबाधनात्। अनेकान्तात्मकवस्तुसाक्षात्करणं बहिरन्तश्च[6] सकलजगत्साक्षीभूतं विपक्षे प्रत्यक्ष विरोधलक्षण[7]मनेन[8] दक्षयति[9]। सदाद्येकान्त विरोधस्या[10]नेकान्तात्मक वस्तु-

टिप्पण्यां—१नित्यत्वाद्येकान्ततत्त्वम्। २प्रत्यक्षेण। ३आग्रहिणः। ४आप्तस्वरूपात्। ५उपचारिवचनत्वात्। ६बहिस्ततत्वमन्तस्तत्त्वं च। ७प्रत्यक्षविरोधोलक्षणं यस्येतिबसः (बहिरन्तश्चेतिविशेष्यमत्र) ८स्वेटं दृष्टेन बाध्यते इत्यनेन। ९समर्थयति। १०बाधनस्य ११अनेकान्तात्मकवस्तु-

साक्षात्करणलक्षणत्वाद्, बहिरिवान्तरपि तत्वस्यानेकान्तात्मकतया सकलदेशकालवर्तिप्राणिभिरनुभवनात् सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वसिद्धेः। नहिकिञ्चिद्रूपान्तरविकलं सदसन्नित्यानित्याद्येकान्तरूपं संवेदनमन्यद्वा संपश्यामो यथात्र प्रतिज्ञायते, चित्रज्ञानवत्कथञ्चिदसङ्कीर्णं विशेषैकात्मनः सुखादिचैतन्यस्य वर्णसंस्थानाद्यात्मनः स्कन्धस्य च प्रेषणात्।

अर्थः—भो भगवन्! आपका जो अनेकान्तमय स्याद्वादरूपीमत यही एक अमृत, इससे वाहर जो एकान्तवादी (मिथ्यावादी) योंका तत्व सर्वथा एकान्त होनेपरभी हम आप्त हैं इस प्रकार जलते रहते हैं इसलिये उनका माना गया तत्व प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणसे वाधित है वे कोई अवस्थामें निर्वाधित नहीं हो सकते हैं।

भावार्थः—आपका मतही अनेकान्तात्मक (सामान्य-विशेष) रीतिसे निर्दोष रहा है अतएव इसीसे वस्तुका निर्णय किया जाता है वही ज्ञान त्रिकालगोचर केवलज्ञान चराचर पदार्थोंको युगपत् जाननेमें समर्थ है और वही अमृत प्राय होनेसे मोक्षका साक्षात्कारण है, तथा सर्वथा निर्वाधित विशेषणसे आपके अनुयायिओंको परमसंतोषजन्य कहलाता है वाह्य सर्वथा एकान्तवादी (दुराग्रही) ओंका विपरीत है। वे स्वयमेव अपनेको आप्तमान कर अहर्निश (दिनरात) वितंड़ावादसे अर्थात् वस्तुतः अनाप्त होनेपर भी हम आप्त हैं इस प्रकार सदैव अभिमान वशीभूत आप्त स्वरूपसे सर्वथा च्युत हैं इसीका नाम समाधि वचन (उपचारी) कहलाता है:उनका नित्यत्वादि एकान्ततत्व प्रत्यक्ष प्रमाणसे वाधित है। तथा अर्हंतभगवानका मत अनेकान्तात्मक साक्षात् वस्तुका वाह्याभ्यंतरसे निर्णयात्मक सामर्थ्यशाली समस्त लोग प्रत्यक्ष है। और मिथ्यात्वीयोंका विपक्ष भूतप्रत्यक्ष विरोधी लक्षण; प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणसे वाधित कैसा है? इसका इसी प्रमाणसे समर्थन करते हैं। अनेकान्ता-

---

णस्य। [१२]सद्रूपंरूपान्तरेणासत्त्वेन रहितम्। [१३]अन्तस्तत्त्वम्। [१४]बाह्यतत्त्वम्। [१५]एकान्तत्त्वेन। [१६]परैर्बौद्धादिभिः। [१७]तथा चदृश्यते। [१८]सुखादिपर्यायापेक्षया अन्तर्वस्तु बहिर्वस्तु चैकानेकात्मकं नामेत्यर्थः। [१९]एकत्वं द्रव्यापेक्षया। [२०]सुखादिनानाधर्मसहितचैतन्यस्य। [२१]स्कन्धः—संस्थानमाकृतिः। पुद्गलः।

त्मक वस्तु; नित्य एकान्तसे विरुद्ध है, बाह्याभ्यंतर उभय सामान्य विशेषात्मकतत्व का स्याद्वादनयसे ही समस्त देशवर्ती तथा निखिल कालवर्ती लोगोंके द्वारा अनुभव किया जाता है अतः साक्षात् सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाणसे अनेकान्तत्मकवस्तु तत्वकी सिद्धि होगई।

अर्थात् सत् स्वरूपजो वस्तु है वह असद्रूपसे रहित है कथंचित् स्याद्वादसे वस्तु सत्, तथा कथंचित् वस्तु असत् एवं कथंचित् वस्तु नित्य और कथंचित् वस्तु अनित्यभी है द्रव्यार्थिकनयसे सत्, नित्य, तथा पर्यायार्थिकनयसे वस्तु असत् तथा अनित्यभी है। इसलिये एकान्तरूपसे अंतस्तत्वका तथा बाह्यतत्वका ज्ञान नहीं होता है, तथापि बौद्धादिक एकान्तवादी होनेसे वे कहते हैं कि, हमने एकान्तनयसे अंतर्बाह्य तत्वका स्वरूप सर्वथा ठीक जानलिया। इसप्रकार ही हमारे द्वारा जाना जाता है चित्रज्ञानवत् यह दृष्टान्त है। किन्तु उन बौद्धादिकोंका आचार्य निराकरण करते हैं, वस्तु कथंचित् सुखादिपर्याया पेक्षासे उभय स्वरूप ही है अर्थात् आत्मशब्द उभयात्मकही सिद्ध होता है। अतः द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक इन उभयनयसे अन्तर्वस्तु एवं वहिर्वस्तु एकानेकात्मक है। सुखादिनानाधर्मोंकी अपेक्षासहित चैतन्य आत्मवस्तु है, यथा—स्कन्ध, संस्थान, आकृति तथा पुद्गल इत्यादिवत्। वस्तुका एकत्वपन द्रव्यार्थिकनयके अपेक्षासे तथा वस्तुका नानात्वपन पर्यायार्थिकनयके अपेक्षासे सिद्ध है। अतः इस कारण कार्य भावकी अपेक्षासे बौद्धादिकोंका निरसन हुआ। और जैन स्याद्वाद अनेकान्तका समर्थन हुआ।

तथा— सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
५
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ संस्थितिः ॥ ५ ॥

सूक्ष्माः स्वभावविप्रकर्षिणोर्थाः परमाण्वादयः, अन्तरिताः कालविप्रकर्षिणो रामादयो, दूरास्तु देशविप्रकर्षिणो हिमवदादयस्ते कस्यचित्प्रत्यक्षा, अनुमेयत्वाद्यथाऽग्न्यादिरित्येवं सर्वज्ञस्य सम्यक् स्थितिः स्यात्। *अनुमातुं योग्यत्वात्।

न चाण्वादावनुमेयत्वमप्रसिद्धं, सर्वेषामप्यनुमेयमात्रेविवादाभावात्। अस्त्वेवं सूक्ष्मादीनां प्रत्यक्षत्वसिद्धिद्वारेण कस्यचिदशेषविषयं प्रत्यक्षज्ञानं। तत्पुनरतीन्द्रियमिति कथं ?

इत्थं यदि तज्ज्ञानमैन्द्रियिकं स्यादशेषविषयं न स्यात्, इन्द्रियाणां स्वयोग्यविषय एव ज्ञानजनकत्वशक्तेः सूक्ष्मादीनां च तदयोग्यत्वादिति। तस्मात्सिद्धं तदशेषविषयं ज्ञानमतीन्द्रियमेवेति। अस्मिंश्चार्थे सर्वेषां सर्वज्ञवादिनां न विवादः। यद्वाह्या अप्याहुः "अदृष्टादयः कस्यचित्प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात्" इति। नन्वस्त्वेवमशेषविषयसाक्षात्कारित्वलक्षणमतीन्द्रियप्रत्यक्षज्ञानं, तच्चार्हत इति कथं ?

कस्यचिदिति सर्वनाम्नः सामान्यज्ञापकादिति चेत्, सत्यं, प्रकृतानुमानात्सामान्यतः सर्वज्ञत्वसिद्धिः। अर्हत एतदिति पुनरनुमानान्तरात्।

तथाहि–अर्हन् सर्वज्ञो भवितुमर्हति निर्दोषत्वात्। यस्तु न सर्वज्ञो नासौ निर्दोषो, यथा रथ्यापुरुष इति केवलव्यतिरेकिलिंगकमनुमानं।

आवरणरागादयो दोषास्तेभ्यो निष्कान्तत्वंहि निर्दोषत्वं। तत्खलु सर्वज्ञमन्तरेण नोपपद्यते किञ्चिज्ज्ञस्यावरणादिदोषरहितत्वविरोधात्। ततो निर्दोषत्वमर्हति विद्यमानं सार्वज्ञ्यं साधयत्येव। निर्दोषत्वं पुनरर्हत्परमेष्ठिनि युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात्सिध्यति। युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वं च तदभिमतस्य मुक्तिसंसारतत्कारणत्वस्यानेकधर्मात्मकचेतनाचेतनात्मकतत्वस्य प्रमाणाबाधितत्वात्सुव्यस्थितमेव।

एवमपि सर्वज्ञत्वमर्हत एवेति कथं कपिलादीनामपि सम्भाव्यमानत्वादिति चेदुच्यते–कपिलादयो न सर्वज्ञाः सदोषत्वात्, सदोषत्वं तु तेषां न्यायागमविरुद्धभाषित्वात्। तच्च तदभिमतमुक्त्यादितत्त्वस्य सर्वथैकान्तस्य च प्रमाणबाधितत्वात्।

अर्थः—सूक्ष्म=परमाणु आदिक, अन्तरित=रामादिक, दूरार्थ=मेरु आदिक, पदार्थ कोई विशेष आत्माको प्रत्यक्षगोचर हैं। जिसप्रकार यहां सच्चा धुंवाका सद्भाव होनेसे अग्नि आदिक पदार्थोंकी सिद्धि होजाती हैं, उसी प्रकार दुनियामें हम छद्मस्थोंसे सूक्ष्मादिक पदार्थ नहीं जाने जाते हैं। किन्तु वीतरागी विशेष महापुरुषसे ऐसे दूरवर्ति पदार्थभी जाने जाते हैं, जैसे अनुमान प्रमाणसे

धुंवासे अग्निकी सिद्धि होती है, वैसे अनुमानसे कोईभी पवित्रात्माको ये पदार्थ प्रत्यक्ष गोचर हो जाते हैं

भावार्थ–सूक्ष्म परमाणु आदिक स्वभावसे दूरवर्ति हैं, तथा अंतरित रामरावणादिक महापुरुष कालसे दूरवर्ति हैं, और दूर देशादिक ये पदार्थ हम लोगोंको अगम्य होने परभी किसी निर्दोषात्माको प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। अतः अनुमान प्रमाणसे सर्वज्ञकी सिद्धि हो जाती है।

अर्थात् परमाण्वादिक सूक्ष्मादि पदार्थ अनुमान प्रमाणसे असिद्ध नहीं हैं। समस्तवादीयोंको भी अनुमेयत्व प्रमाणसिद्ध ही है अतः वादविवादका अभाव हो जाता है, एवं सूक्ष्मादिक विषय प्रत्यक्षत्व सिद्धि द्वारा केचित् विशेषात्माको अशेष विषय प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। वह प्रत्यक्षज्ञान अतीन्द्रिय कैसा ? इसप्रकार मीमांसक प्रश्न करता है खुलासा–यदि वह ज्ञान इंद्रियजन्य होगा तो अशेष विषयको नहीं जान सकता है। इन्द्रिय ज्ञान अपने योग्य मर्यादित पदार्थको ही जानेगा न तु अशेष विषयको। किन्तु सूक्ष्मादिक विषयोंको नहीं जान सकता है, इसलिए यह सिद्ध हुआ कि, अशेष विषयको (संपूर्ण पदार्थ) जानने वाला अतीन्द्रिय ज्ञानही समर्थ है। इस विषयमें समस्त सर्वज्ञवादीयोंका विवाद नहीं होना चाहिये। जोबाह्य पुण्य पापादिक हैं वेभी केचित् विशुद्धात्माको प्रत्यक्ष सिद्ध हैं अर्थात् प्रमेय ज्ञानसे जानने योग्य पदार्थ इसप्रकार यह प्रचलित विषय सिद्ध हुआ।

मीमांसक फिर प्रश्न उठाता है कि, ठीक है अशेष विषय (समस्तपदार्थ) अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञानको साक्षात्कारी हैं, किन्तु वे पदार्थ अर्हत भगवान्के केवलज्ञानमें ही झलकते हैं यह कैसे ?

केचित् पुरुषहीमें कहना चाहिये, अर्थात् सर्वनामसे सामान्य ज्ञापकत्व सिद्ध है यहि कहोगे ? तो सत्य है हम प्रकृत (प्रचलित) अनुमानसे ही सामान्यतः सर्वज्ञत्वकी सिद्धि करते हैं ऐसे धर्म भूषण यतिराज न्याय दीपिकाके कर्त्ते कहते हैं। अर्हंत भगवान् ही सर्वज्ञ हैं ऐसे हम अनुमानान्तर प्रमाणसे भी सिद्ध करते हैं। तथा–अर्हत भगवान्ही सर्वज्ञ होनेको समर्थ हैं क्योंकि निर्दोष होनेसे, जो सर्वज्ञ नहीं है वह निर्दोषभी नहीं है। जिस प्रकार रथ्यापुरुषवत्, इधर-उधर गल्लीयोंमें भटकनेवाला आदमी। इस प्रकार केवल व्यतिरेकि (लिंग) अनुमानसे सिद्ध हुआ। आवरण=रागद्वेषादिकोंसे रहित होनेपर ही यह प्रकृत निर्दोषत्व आ सकता है। वह निर्दोषत्वपन सर्वज्ञके विना नहीं पैदा होता है,

अल्पज्ञानीमें ये आवरणादि दोषोंका रहितत्व कहनेसे विरोध आता है। इसलिये निर्दोषत्व अर्हंत भगवान्में ही विराजमान होनेसे उनमें यह निर्दोषत्व विशेषण सर्वज्ञत्वको सिद्ध करता है। निर्दोषत्व पुनः अर्हत्परमष्ठीमें ही उनका वचन युक्ति, शास्त्र प्रमाणसे अविरुद्ध होनेसे साध्य सिद्ध करता है। युक्ति, शास्त्रसे निर्दोष वाचत्वही उनका अभिमत होनेसे मोक्ष, संसार, इन उभयके कारण तथा धर्म, चेतन, अचेतनात्मकतत्व, प्रमाणसे अवाधित होनेपर सुव्यवस्थितही हैं।

एवं सर्वज्ञत्व अर्हंत भगवान्में ही कैसा संभव है? कपिलादिकोंमें भी संभाव्यमान है, यदि ऐसा कहोगे तो आचार्य जबाव देते हैं कि, कपिलादिक सर्वज्ञ नहीं हैं क्योंकि वे सदोषी होनेसे; उनका सदोपत्व तथा उनके न्याय, आगममें विरुद्ध कथन होनेसे; उनमें दूषण सिद्ध होता है। और उनके अभिमतसे (एकांतसे) मुक्ति, संसारादिक तत्व सर्वथा एकान्त है। इसलिये प्रमाणसे बाधित है, अतः स्यात्कारः सत्यलांछन इत्यन्त आप्तमीमांसासन्दर्भे भगवान् समन्तभद्राचार्येण कृतं विस्तरेण। तदेवमतीन्द्रियं केवलज्ञानमर्हत एवेति सिद्धं। तद्वचन प्रामाण्याच्चावधिमनः पर्यययोरतीन्द्रिययोः सिद्धिरित्यतीन्द्रिय प्रत्यक्षमनवद्यं।

ततः स्थितं सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं चेति द्विविधं प्रत्यक्षमिति।

अतएव स्यात्कार=स्याद्वाद सत्यलांछन=केवलज्ञान है चिन्ह जिनका ऐसे अर्हत्सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु ही निर्दोषी हैं। इसप्रकार आत्ममीमांसा (देवागमस्तोत्र) ग्रन्थमें भगवान् समन्तभद्राचार्यने विस्तृत वर्णन किया है।

अर्थात् वही अतीन्द्रिय केवलज्ञान अर्हतमें ही है ऐसा सिद्ध हुआ। प्रमाणसे अवधिज्ञान तथा मनः पर्यय ज्ञान ये उभय विकल प्रत्यक्ष ज्ञानभी अतीन्द्रिय हैं, इसप्रकार अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञानही निर्दोष है। सिद्ध हुआ कि सांव्यवहारिक प्रत्यक्षज्ञान तथा पारमार्थिक प्रत्यक्ष ज्ञान ये उभयात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान ही कहलाते हैं।

क्षेपक श्लोका

वित्सृज्यदोषान् निश्शेषान् सध्यानेशात्तनुश्रुताम्॥
सहेताप्युपसर्गोर्मीन् कर्मैवं भिद्यतेतराम्॥ १॥
ध्यानाशु शुक्षुणा मनोरुद्विक् समाहितः।
स्वकर्म समिधो भावसर्पिषा जुहुमोऽधुना॥ २॥

अहमेवाहमित्यात्मज्ञानादन्यत्रचेतनाम् ।
इदमस्मि करोमीदमिदं भुञ्जेतिक्षिपेत् ॥ ३ ॥
अहमेवाहमित्यन्तर जल्पसंपृक्त कल्पनाम् ।
त्यक्त्वावाग्गोचरं ज्योतिः स्वयंपश्यामिशाश्वतम् ॥ ४ ॥
अमुह्यन्त मरज्यन्तमद्विषं च यः स्वयम् ।
शुध्येनिधत्ते स्वशुद्धमुपयोगं स शुध्यति ॥ ५ ॥
बोधिसमाधि स्वचिदुपलब्धि उच्छलत् प्रमोदभराः ।
ब्रह्मविन्दन्ति परंयेते सद्गुरवोममप्रसीदन्तु ॥ ६ ॥

प्रमेयकमलमार्त्तण्डे-सर्वज्ञत्ववादः पृष्ठ २४१

अथेदानीं मुख्य प्रत्यक्ष प्ररूपणस्यावसरप्राप्तत्वात् तदुत्पत्ति कारण स्वरूप प्ररूपणायाह–

सामग्री विशेष विश्लेषिताखिलावरणमऽतीन्द्रियमशेषतोमुख्यम् ॥
'विशदं प्रत्यक्षम्' इत्यनुवर्त्तते। तत्राशेषतो विशदमतींद्रियं ॥१२॥

यद्विज्ञानं तन्मुख्यं प्रत्यक्षम्। किंविशिष्टं तत्? सामग्री[1] विशेषविश्लेषिताखिलावरणम्। ज्ञानावरणादि प्रतिपक्षभूताहीह सम्यग्दर्शनादिलक्षणान्तरङ्गा बहिरङ्गानुभवादिलक्षणा[2] सामग्री गृह्यते, तस्या विशेषोऽविकलत्वम्[3], तेनविश्लेषितं क्षयोपशमक्षयरूपतया विघटित मखिलमवधिमनः पर्ययकेवलज्ञानसम्बन्ध्यावरणम्। अखिलं निश्शेषं वाऽऽवरणं यस्यावधिमनः पर्ययकेवलज्ञानत्रयस्य तत्तथोक्तम्।

अत्रच[4] प्रयोगः[5]–यद्यत्र[6] स्पष्टत्वे[7] सत्यवितथं[8] ज्ञानं[9] तत्तत्रापगताखिलावरणम् यथा रजोनीहाराद्यन्तरितवृक्षादौ तदपगमप्रभवंज्ञानम्, स्पष्टत्वे सत्यवितथं च क्वचिदुक्त[10] प्रकारंज्ञानमिति[11]। तथाऽतीन्द्रियं तत्

मनोऽक्षनपेक्षत्वात् । तदनपेक्षं तत् सकलकलङ्कविकलत्वात् । तद्विकलत्वं चास्यात्रैव[१२] प्रसाधयिष्यते । अत[१३] एव चाशेषतो विशदं तत् । यत्तु नातीन्द्रियादिस्वभावं नतत्तदनपेक्षत्वादिविशेषणविशिष्टं यथास्मदादिप्रत्यक्षम्, तद्विशेषणविशिष्टञ्चेदम्[१४], तस्मात्तथेति । तथा मुख्यं तत्प्रत्यक्षम् अतीन्द्रियत्वात् स्वविषयेऽशेषतो विशदत्वाद्वा, यत्तुनेत्थं तन्नैवम्[१५], यथास्मदादिप्रत्यक्षम् तथाचे दम् तस्मान्मुख्यमिति ।

ननु[१६] चावरणप्रसिद्धौ । तदपगमाज्ज्ञानस्योत्पत्तिर्युक्ता, न च तत्प्रसिद्धम् तद्धि शरीरम्, रागादयः, देशकालादिकं[१७] वा भवेत् ? न तावच्छरीरं रागादयो त्वा तद्भावेप्यर्थोपलम्भसम्भवात् । तदुपलम्भप्रतिबन्धकमेव हि काण्डपटादिकं लोके प्रसिद्धमावरणम् । ननु मेर्वादेर्दूरदेशता रावणादेस्तत्कालता परमाण्वादेः सूक्ष्मस्वभावता मूलकीलोदकादेश्च भूम्यादिः आवरणं प्रसिद्धमेवेति चेत्तदसारम्; तदभावस्य कर्त्तुमशक्यत्वात् । न खलु सातिशयर्द्धिमतापि योगिना देशाद्यभावोविधातुं शक्यः । न चान्यत् किञ्चिदावरणं प्रतीयते । ततः सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमित्ययुक्तम्;

अत्रोच्यते[२]—न शरीराद्यावरणम् । किं तर्हि ? तद्व्यतिरिक्तं कर्म तच्चानुमानतः प्रसिद्धम्; तथाहि—स्वपरप्रमेयबोधकस्वभावस्यात्मनो हीन[३]गर्भस्थानशरीरविषयेषु[४] विशिष्टाऽभिरतिः आत्मतव्द्यतिरिक्त कारणपूर्विका तत्वात्[५] कुत्सितपरपुरुषे कमनीयकुलकामिन्या[६]स्तन्त्राद्युपयो[७]गजनितविशिष्टाभिरतिवत् । तथा, भवभृतां मोहोदयः शरीरादिव्यतिरिक्तसम्बन्ध्यन्तरपूर्वकोमोहोदयत्वात् मदिराद्युपयोगमत्तस्यात्मगृहादौ मोहोदयवत् ।

ननु[८] चातः कर्ममात्रमेव प्रसिद्धं नावरणम्; ततस्तत्सिद्धावेवप्रमाणमुच्यतां तत्रैव विवादादिति चेदुच्यते यज्ज्ञानं[९] स्वविषयेऽप्रवृत्ति-

मत् तत्सावरणम् यथा कामलिनो लोचनविज्ञानमेक[5] चन्द्रमसि, स्वविषये अशेषार्थलक्षणेऽप्रवृत्तिमच्च ज्ञानमिति ।

ननु विज्ञानस्याशेषविषयत्वं कुतः सिद्धम् ? आवरणापाये तत्प्रकाशकत्वाच्चेदन्योन्याश्रयः—सिद्धे हि सकलविषयत्वे तस्य आवरणापाये तत्प्रकाशनं सिध्यति, अतश्च सकलविषयत्वमिति, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; यतोनुमानमिच्छता भवताप्यवश्यं सकलावरण वैकल्यात्[11]प्रागेव सकलस्य प्राणिमात्रस्याशेषविषयं व्याप्त्यादिज्ञानमभ्युपगतमेव[12] । तथा, यत्स्वविषयेऽस्पष्टं[13] ज्ञानं, तत्सावरणम् यथा रजोनीहाराद्यन्तरिततरुनिकरादिज्ञानम्, अस्पष्टं च 'सर्वं सदनेकान्तात्मकम्' इत्यादि व्याप्तिज्ञानम् । मिथ्यादृशां सर्वत्रानेकान्तात्मके भावे विपरीतज्ञानं[14] सावरणं मिथ्या ज्ञानत्वात् धत्तूरकाद्युपयोगिनो मृच्छकले काञ्चनज्ञानवदिति । अतः[15] सिद्धमावरणं पौद्गलिकं कर्मेति ।

ननु[1] चाविद्यैवावरणं[2] न पौद्गलिकं कर्म, मूर्त्तेनानेनामूर्त्तस्य ज्ञानादेरावरणायोगात्, अन्यथा शरीरादेरप्याव (वा) रकत्वानुषङ्गात्; इत्यप्यसमीचीनम्, मदिरादिना मूर्त्तेनाप्यमूर्त्तस्य ज्ञानादेरावरण[3] दर्शनात् अमूर्त्तस्य[4] चाव (वा) रकत्वे गगनादेर्ज्ञानान्तरस्य च तत्प्रसङ्गः[5] । तदविरुद्धत्वात्तस्य तन्नेति चेत्; तर्हि शरीरादेरप्यत एव तन्माभूत्तद्विरुद्धस्यैवावरक-त्वप्रसिद्धेः । प्रवाहेण प्रवर्त्तमानस्य ज्ञानादेरविद्योदये निरोधात्तस्यास्तद्विरोधगतौ मदिरादिवत्पौद्गलिक कर्मणोपि सास्तु विशेषाभावात्[8] । तथाहि-आत्मनो मिथ्याज्ञानादिः पुद्गलविशेषसम्बन्ध[9]-निबन्धनः तत्स्वरूपान्यथाभावस्वभावत्वात्[10] [11] उन्मत्तकादिजनितोन्मादादिवत् । न च मिथ्याज्ञानजनितापरमिथ्याज्ञानेनानेकान्तः; तस्यापरापर पौद्गलिक कर्मोदये सत्येव भावात् अपरापरोन्मत्तकादिरससद्भावे तत्कृतोन्मादादिसन्तानवत् ।

ननु चात्मगुणत्वात्कर्मणां कथं पौद्गलिकत्वमित्यन्ये[१२]; तेप्यपरीक्षकाः; तेषामात्मगुणत्वे तत्पारतन्त्र्यनिमित्तत्वविरोधात् सर्वदात्मनो बन्धानुपपत्तेः सदैव मुक्ति प्रसङ्गात्। न[१३] खलु यो यस्य गुणः स तस्य पारतन्त्र्यनिमित्तम् यथा पृथिव्यादेरूपादिः, आत्मगुणश्च धर्माधर्मसंज्ञकं कर्म परैरभ्युपगम्यते इति न तदात्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तंस्यात्। न चैवम्, आत्मनः परतन्त्रतया[१४] प्रमाणतः प्रतीतेः। तथाहि—परतन्त्रोऽसौ हीनस्थानपरिग्रहवत्वात्[१५] मद्योद्रेकपरतन्त्राशुचिस्थानपरिग्रहवद्विशिष्टपुरुषवत्। हीनस्थानं हि शरीरम्, आत्मनो दुःखहेतुत्वात्कारागारवत्। तत्परिग्रहवाँश्च संसारी प्रसिद्ध एव। न च देवशरीरे तदभावात्पक्षाव्याप्तिः[१६] तस्यापि मरणे दुःखहेतुत्व प्रसिद्धेः। यत्परतन्त्रश्चासौ तत्कर्म इति सिद्धं तस्य पौद्गलिकत्वं। तथाहि-पोद्गलिकं कर्म आत्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तत्वान्निगलादिवत्[१७][१८]। न च क्रोधादिभिर्व्यभिचारः; तेषां जीव परिणामानां पारतन्त्र्यस्वभावत्वात्, क्रोधादिपरिणामो हि जीवस्य पारतन्त्र्यं न पुनः पारतन्त्र्यनिमित्तम्।

सत्यम्[१]। नात्मगुणोऽदृष्टं प्रधानपरिणामत्वात्तस्य "प्रधानपरिणामः शुक्लं[२] कृष्णं[३] चकर्म" इत्यभिधानात्, इत्यपि मनोरथमात्रम्; प्रधानस्यासत्वेन तत्परिणामत्वस्य क्वचिदप्यसम्भवात्[४]। तदसत्वं चात्रैवानन्तरं[५] वक्ष्यामः। तत्परिणामत्वेपि वा तस्यात्मपारतन्त्र्यनिमित्तत्वाभावे कर्मत्वायोगात्, अन्यथातिप्रसङ्गः[६]। प्रधानपारतन्त्र्यनिमित्तत्वात्तस्य कर्मत्वमितिचेन्न, प्रधानस्य तेनबन्धोपगमे मोक्षोपगमेचात्मकल्पना वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। बन्धमोक्षफलानुभवनस्यात्मनि प्रतिष्ठानान्न तत्कल्पनावैयर्थ्यमित्यसत्; प्रधानस्य तत्कर्त्तृत्ववत् तत्फलानुभोक्तृत्वस्यापि प्रमाणसामर्थ्यप्राप्तत्वात्[७] अन्यथा[८] कृतनाशाकृताभ्यागमदोषानुषङ्गः[९][१०]। अथात्मन-

[११]श्चेतनत्वात्तत्फलानुभवनं ननु प्रधानस्याऽचेतनत्वात्; तदप्ययुक्तम् मुक्तात्मनोपि[१२] तत्फलानुभवनानुषङ्गात् । तस्य प्रधानसंसर्गाभावान्न तत्फलानुभवनमितिचेत्; तर्हि संसारिणः प्रधानसंसर्गाद्बन्धफलानुभवनम् । तथा चात्मन एव बन्धः सिद्धः, तत्संसर्गस्य बन्धफलानुभवननिमित्तस्य बन्धरूपत्वात् बन्धस्यैव 'संसर्गः' इति पुद्गलस्य च 'प्रधानम्' इति नामान्तरकरणात् ।

ननु प्रसिद्धस्यापि यथोक्त[१३]प्रकारस्य कर्मणः कार्यकारणप्रवाहेण प्रवर्त्तमानस्यानादित्वाद्विनाश हेतुभूतसामग्रीविशेषस्य चाभावात्कथं तेन विश्लेषिताखिलावरणत्वं ज्ञानस्य; इत्यप्यपेशलम् सम्यग्दर्शनादि-त्रयलक्षणस्य तद्विनाशहेतुभूतसामग्री विशेषस्य सुप्रतीतत्वात् । सञ्चितं हि कर्म निर्जरातश्चारित्रविशेषरूपायाः प्रलीयते । साच निर्जरा द्विविधा-उपक्रमेतरभेदात् । तत्रौपक्रमिकी तपसा द्वादशविधेन साध्या । अनुपक्रमा तु यथाकालं संसारिणः स्यात् ।

कुतः पुनः साकल्येन पूर्वोपात्तकर्मणां निर्जरानिश्चीयते इति चेदनुमानात्; तथाहि—साकल्येन क्वचिदात्मनि कर्माणि निर्जीर्यन्ते [१]विपाकान्तत्वात्, यानि तु न निर्जीर्यन्ते न तानि विपाकान्तानि यथा [२]कालादीनि, विपाकान्तानि च कर्माणि, तस्मात्साकल्येन क्वचिन्निर्जीर्यन्ते न चेदमसिद्धं साधनम्; तथाहि—विपाकान्तानि कर्माणि फलावसानत्वा द्व्रीह्यादिवत् । न चेदमप्यसिद्धम्; तेषां नित्यत्वानुषङ्गात् न च नित्यानि कर्माणि नित्यं तत्फलानुभवनप्रसङ्गात् ।

भावि पुनः कर्मसंवरान्निरुध्येत्—"अपूर्वकर्मणामाश्रवनिरोधः संवरः" (तत्वार्थसूत्र०६-१) इत्यभिधानात् । आश्रवोहि मिथ्या दर्शनाविरति प्रमादकषाययोगविकल्पात्पञ्चविधः, तस्मिन्सति कर्मणा-माश्रवणात् । स च संवरो गुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षा परीषहजयचारि-[३]त्रैर्विधीयते इत्यागमे विस्तरतः प्ररूपितं द्रष्टव्यम् । निर्जरासंवरयोश्च

सम्यग्दर्शनाद्यात्मकत्वात्तत्प्रकर्षे[४] कर्मणां सन्तानरूपतयाऽनादित्वेपि प्रक्षयः प्रसिध्यत्येव। न ह्यनादिसन्ततिरपि शीतस्पर्शो विपक्षस्योष्णस्पर्शस्य प्रकर्षेनिर्मूलतलंप्रलयमुपव्रजन्नोपलब्धः, कार्यकारणरूपतया बीजाङ्कुर-सन्तानो वाऽनादिः प्रतिपक्षभूतदहनेन निर्दग्धबीजो निर्दग्धाङ्कुरो वा न प्रतीयते इति वक्तुं शक्यम्।

ननु तत्प्रकर्षमात्रात्कर्मप्रक्षयमात्रमेव सिध्येन्न पुनः साकल्येन तत्प्रक्षयः, सम्यग्दर्शनादेः परमप्रकर्षसम्भवाभावात्; इत्यप्यसङ्गतम् तत्प्रकर्षस्य क्वचिदात्मनि प्रसिद्धेः। तथाहि—यस्य[५] तारतम्यप्रकर्षस्त-स्य क्वचित्परमप्रकर्षः यथोष्णस्पर्शस्य, तारतम्यप्रकर्षश्चासंयतसम्यग्दृ-ष्टयादौ सम्यग्दर्शनादेरिति। न च दुखःप्रकर्षेण व्यभिचारः; सप्तमनर-कभूमौ नारकाणां तत्परमप्रकर्ष प्रसिद्धेः सर्वार्थसिद्धौ देवानां सांसारिक-सुखपरमप्रकर्षवत्, मिथ्यादृष्टिष्वनन्तानुबन्धिक्रोधादिपरमप्रकर्षवद्वा। नापिज्ञानहानिप्रकर्षेणानेकान्तः; तस्यापिक्षायोपशमिकस्य हीयमानतया प्रकृष्यमाणस्य केवलिनि परमाप्रकर्षप्रसिद्धेः क्षायिकस्य[६] तु हानेवासम्भ-वात्कुतस्तत्प्रकर्षो[७] यतोऽनेकान्तः।

इत्थं[८] वा साकल्येन कर्मप्रक्षये प्रयोगः कर्तव्यः—

'यस्यातिशये यद्धान्यतिशयस्तस्यात्यन्तातिशयेऽन्यस्यात्यन्त[९] हानिः यथाग्नेरत्यन्तातिशये शीतस्य, अस्ति च सम्यग्दर्शनादेरत्यन्ता-तिशयः क्वचिदात्मनि' इति। यद्वा आवरणहानिः क्वचित्पुरुषविशेषे परमप्रकर्षप्राप्ता प्रकृष्यमाणत्वात् परिमाणवत्। न चात्रासिद्धं साधनम्; तथाहि—प्रकृष्यमाणावरणहानिः आवरणहानित्वात् माणिक्या-द्यावरणहानिवत्। तद्धानिपरमप्रकर्षे च ज्ञानस्य परमः प्रकर्षः सिद्धः। यद्धि प्रकाशात्मकं तत्स्वावरणहानिप्रकर्षे प्रकृष्यमाणं दृष्टम् यथा नयन-प्रदीपादि, प्रकाशात्मकं च ज्ञानमिति। तदेवमावरणप्रसिद्धिवत्तदभावो-प्यनवयवेनप्रमाणतः[२२] प्रसिद्धः। तत्प्रभवमेवचाशेषार्थगोचरं[३] ज्ञानमभ्यु

[४]पगन्तव्यम्, लेशतोप्यावरणसद्भावे तस्याशेषार्थगोचरत्वासम्भवात्, [५]यत्रैवावरणसद्भावस्तत्रैवास्यप्रतिबन्धसम्भवात् ।

आगमद्वारेणाशेषार्थ गोचरं ज्ञानम्; इत्यप्यसुन्दरम्; विशद-ज्ञानस्य [६]प्रस्तुतत्वात् । न चागमज्ञानं विशदम् । नचागमोप्यशेषार्थ-गोचरः; अर्थपर्यायेषु तस्याप्रवृत्तेः । [७]ते चार्थस्य प्रतिक्षणम् 'अर्थ क्रिया कारित्वात्सत्त्वाद्वा सन्ति' इत्यवसीयन्ते । अन्यथास्याऽवस्तुत्व [८]प्रसङ्गः । करणजन्यत्वे चाशेषज्ञानस्यातीन्द्रियार्थेषु प्रतिबन्धः प्रसिद्ध एव, इन्द्रि-याणां रूपादिमत्यव्यवहितेऽनेकावयव प्रचयात्मकेऽर्थे प्रवृत्ति प्रतीतेः ।

ननु योगजधर्मानु गृहीतानामिन्द्रियाणां गगनाद्यशेषातीन्द्रियार्थ साक्षात्कारिज्ञानजनकत्वसम्भवात् कथं तत्राशेषज्ञानस्येन्द्रियजत्वेपि प्रतिबन्धसम्भवः; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; योगजधर्मानुग्रहस्येन्द्रि-याणां प्रथमपरिच्छेदे प्रतिविहितत्वात् ।

[९]भावना प्रकर्षपर्यन्तजत्वाद्योगिविज्ञानस्य नोक्त दोषानुषङ्गः । भावना हि द्विविधा—श्रुतमयी, चिन्तामयी च । तत्र श्रुतमयी [१०]श्रूयमाणेभ्यः [११]परार्थानुमानवाक्येभ्यः समुत्पद्यमानज्ञानेन श्रुतशब्द-वाच्यतामास्कन्दता [१२]निर्वृत्तापरम प्रकर्षं प्रतिपद्यमाना स्वार्थानुमानज्ञान-लक्षणया चिन्तया निर्वृत्तां चिन्तामयीं [१३]भावनामारभते । साच प्रकृष्य-माणा परं प्रकर्षपर्यन्तं सम्प्राप्ता योगिप्रत्यक्षं जनयतीति तत्कथमस्या-वरणापाय प्रभवत्वम्? इत्यप्यसारम्; क्षणिकनैरात्म्यादिभावनायाश्चिन्ता-मय्याः श्रुतमय्याश्च मिथ्यारूपत्वात् । न च मिथ्याज्ञानस्य परमार्थविषय योगिज्ञानजनकत्वमतिप्रसङ्गात् । यथा च न क्षणिकत्वं नैरात्म्यं शून्यत्वं वा वस्तुनस्तथा वक्ष्यते ।

किञ्च, अखिलप्राणिनां भावनावतां तथाविधज्ञानोत्पत्तिः किन्न

स्यात् सुगतवत् ? तेषां तथाभूतभावनाऽभावाच्चेत्; न प्रतिपन्नतत्त्वान भावानाप्रवृत्तमनसां सर्वेषां समाना भावनैव कुतो न स्यात् ? प्रतिबन्धक कर्मसद्भावाच्चेत्; तर्हि भावना प्रतिबन्धककर्मापाये भावनावत् योगिज्ञान प्रतिबन्धककर्मापाये तज्ज्ञानोत्पत्तिरभ्युपगन्तव्या। इति सिद्धं साकल्ये नावरणापाये एवातीन्द्रियमशेषार्थविषयंविशदंप्रत्यक्षम्।

ननु चाशेषार्थज्ञातुस्त (ज्ञानस्यत) ज्ज्ञानवतः कस्यचित्पुरुषविशेषस्यैवासम्भवात्कथं तज्ज्ञानसम्भवः ? तथाहि—न कश्चित्पुरुषविशेषः सर्वज्ञोस्ति सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकागोचर चरित्वाद्वन्ध्यास्तनन्धयवत्। न चायमसिद्धो हेतुः; तथाहि—सकलपदार्थवेदी पुरुषविशेषः प्रत्यक्षेण प्रतीयते, अनुमानादिप्रमाणेन वा ? न तावत्प्रत्यक्षेण; प्रतिनियतासन्नरूपादि विषयत्वेन अन्यसन्तानस्थसंवेदनमात्रेप्यस्य सामर्थ्यं नास्ति, किमङ्ग पुनरनाद्यनन्तातीतानागतवर्त्तमान सूक्ष्मादिस्वभावसकलपदार्थ साक्षात्कारिसंवेदनविशेषे तदध्यासिते पुरुषविशेषे वा तत्स्यात् ? न चातीतादिस्वभावनिखिलपदार्थग्रहणमन्तरेण प्रत्यक्षेण तत्साक्षात्करणप्रवृत्तज्ञानग्रहणम्, ग्राह्याग्रहणे तन्निष्ठग्राहकत्वस्याप्यग्रहणात्।

नाप्यनुमानेनासौ प्रतीयते; तद्धिनिश्चितस्वसाध्य प्रतिबन्धाद्धेतोरुदयमासादयत्प्रमाणतां प्रतिपद्यते। प्रतिबन्धश्चाखिल पदार्थज्ञसत्त्वेन स्वसाध्येन हेतोः किं प्रत्यक्षेण गृह्येत, अनुमानेन वा ? न तावत्प्रत्यक्षेण; अस्याऽत्यक्षज्ञानवत्सत्त्वसाक्षात्करणाक्षमत्वेन तत्प्रतिपत्तिनिमित्तहेतुप्रतिबन्धग्रहणेप्यक्षमत्वात्। न ह्यप्रतिपन्नसम्बन्धिनस्तद्गतसम्बन्धावगमो युक्तोऽतिप्रसङ्गात्। नाप्यनुमानेन; अनवस्थेतरेतराश्रयदोषानुषङ्गात्। न चात्र धर्मीप्रत्यक्षेणप्रतिपन्नः, अनक्षज्ञानवत्यत्यक्षेऽध्यक्षस्याप्रवृत्तेः। प्रवृत्तौवाध्यक्षेणैवास्य प्रतिपन्नत्वान्न किञ्चिदनुमानेन। नाप्यनुमानेन; हेतोः पक्षधर्मतावगममन्तरेणानुमानस्यैवाप्रवृत्तेः।

न चाप्रतिपन्ने धर्मिणि[५] हेतोस्तत्सम्बन्धावगमः । नाप्यप्रतिपन्नपक्षधर्मत्वो हेतुः प्रतिनियतसाध्यप्रतिपत्त्यङ्गम्

किञ्च, सत्तासाधने[६] सर्वो हेतुरसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वलक्षणां त्रयीं[७] दोषजातिं नातिवर्त्तते । तथाहि—सर्वज्ञसत्त्वे साध्ये भावधर्मो[८] हेतुः, अभावधर्मो वा स्यात्, उतउभयधर्मो वा ? प्रथमपक्षेऽसिद्धः; भावेऽसिद्धे तद्धर्मस्य सिद्धि विरोधात् । द्वितीयपक्षे तु विरुद्धः भावे[९]साध्ये-ऽभावधर्मस्याभावाव्यभिचारित्वेन विरुद्धत्वात् । उभयधर्मोप्यनैकान्तिकः सत्तासाधने[१०]; तदुभयव्यभिचारित्वात्[११] ।

अपि चाविशेषेण सर्वज्ञः कश्चित्साध्यते[१२], विशेषेण वा ? तत्राद्य-पक्षे विशेषतोऽर्हत्प्रणीतागमाश्रयणमनुपपन्नम् । द्वितीयपक्षे तु हेतोरपर-सर्वज्ञस्याभावेन[१३] दृष्टान्तानुवृत्त्यसम्भवादसाधारणानैकान्तिकत्वम्[१४] ।

किञ्च, यतोहेतोः प्रतिनियतोऽर्हन् सर्वज्ञः साध्यते ततो बुद्धो-पिसाध्यतां विशेषाभावात्[१५], न चात्र[१६] सर्वज्ञत्वसाधने हेतुरस्ति ।

यदप्युच्यते—सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात्पा-वकादिवत्; तदप्युक्तिमात्रम्[१७]; यतोऽत्रैकज्ञानप्रत्यक्षत्वं सूक्ष्माद्यर्थानां साध्यत्वेनाभिप्रेतम्, प्रतिनियतविषयानेकज्ञानप्रत्यक्षत्वं वा ? तत्राद्य-कल्पनायां विरुद्धो हेतुः; प्रतिनियतरूपादिविषयग्राहकानेकप्रत्ययप्रत्यक्ष-त्वेन व्याप्तस्याग्न्यादिदृष्टान्त धर्मिणि प्रमेयत्वस्योपलम्भात् साध्यविक-लता च दृष्टान्तस्य । द्वितीय कल्पनायां सिद्धसाध्यता अनेक प्रत्यक्षैरनु-मानादिभिश्च तत्परिज्ञानाभ्युपगमात्[१८] ।

"यदि षड्भि प्रमाणैः स्यात्सर्वज्ञः केन वार्यते ।
एकेन तु प्रमाणेन सर्वज्ञो येन कल्प्यते ॥
नूनं स चक्षुषा सर्वान् रसादीन्प्रतिपद्यते ।"

[मीमांसक श्लोक चोदना सूत्र० श्लोक—१११, ११२] इत्यभिधानात् ।

किञ्च, प्रमेयत्वं किमशेषज्ञेयव्यापि प्रमाणप्रमेयत्वव्यक्ति लक्षणमभ्युपगम्यते,[१] अस्मदादिप्रमाणप्रमेयत्व व्यक्तिस्वरूपं वा स्यात्, उभयव्यक्ति साधारण सामान्य स्वभावं वा? प्रथम पक्षोऽयुक्तः; विवादाध्यासित पदार्थेषु[३] तथाभूत प्रमाणप्रमेयत्वस्यासिद्धत्वात्, अन्यथा[४] साध्यस्यापि सिद्धेर्हेतूपादानमपार्थकम्[५] सन्दिग्धान्वयश्चायं[६] हेतुः स्यात्; तथाभूतप्रमाणप्रमेयत्वस्य दृष्टान्तेऽसिद्धत्वात्[७]। द्वितीयपक्षेऽसिद्धो हेतुः;[८] अस्मदादिप्रमाणप्रमेयत्वस्य विवादगोचरार्थेष्वसम्भवात्[९]। सम्भवे वा ततस्तथाभूतप्रत्यक्षत्वसिद्धेरेवस्यात्[१०]। तत्र चाविवादान्न हेतूपन्यासः फलवान्। नाप्युभयप्रमेयत्वव्यक्तिसाधारणं प्रमेयत्वसामान्यं हेतुः; अत्यन्तविलक्षणातीन्द्रियेन्द्रिय[११] विषयप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्ति द्वयसाधारणसामान्यस्यैवासम्भवात्। तन्नानुमानात्तत्सिद्धिः।

नाप्यागमात्;[१३] सोपि हि नित्यः, अनित्यो वा तत्प्रतिपादकः स्यात्? न तावन्नित्यः, तत्प्रतिपादकस्य तस्याभावात्, भावेपि प्रामाण्यासम्भवात् कार्येऽर्थे[१४] तत्प्रामाण्य प्रसिद्धेः। अनित्योऽपि किं तत्प्रणीतः,[१५] पुरुषान्तरप्रणीतो वा? प्रथमपक्षेऽन्योन्याश्रयः—सर्वज्ञप्रणीतत्वे तस्य प्रामाण्यम्, ततस्तत्प्रतिपादकत्वमिति। नापि पुरुषान्तरप्रणीतः तस्योन्मत्तवाक्यवदप्रामाण्यात्। तन्नागमादप्यस्य सिद्धिः।

नाप्युपमानात्;[१६] तत्खलूपमानोपमेययोरनवयवेनाध्यक्षत्वे सतिसादृश्यावलम्बनमुदयमासादयति; नान्यथातिप्रसङ्गात्[१७]। न चोपमानभूतः कश्चित्सर्वज्ञत्वेनाध्यक्षतः सिद्धो येन[१८] तत्सादृश्यादन्यस्य[१९] सर्वज्ञत्वमुपमानात्साध्येत।

नाप्यर्थापत्तितस्तत्सिद्धिः सर्वज्ञसद्भावमन्तरेणानुपपद्यमानस्य प्रमाणषट्क विज्ञातार्थस्य कस्यचिदभावात्। धर्माद्युपदेशस्य वहुजनपरिगृहीतस्यान्यथापि[१] भावात्। तथा चोक्तम्—

"सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः ।
[मीमांसक श्लोक चोदना सूत्र० श्लोक ११७]

दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वा योनुमापयेत् ॥१॥

न चागमविधिः कश्चिन्नित्यः सर्वज्ञ बोधकः ।

न च मन्त्रार्थ वादानां तात्पर्यमवकल्पते ॥२॥

न चान्यार्थं प्रधानैस्तै स्तदस्तित्वं विधीयते ।

न चानुवदितुं शक्यः पूर्वमन्यैरबोधितः ॥३॥

अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान् ।

कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते ॥४॥

अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽन्यैः प्रतीयते ।

प्रकल्पेत कथं सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्तयोः ? ॥५॥

सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन तदस्तिता ।

कथं तदुभयं सिध्येत् सिद्धमूलान्तराहृते ॥६॥

असर्वज्ञप्रणीतात्तु वचनान्मूलवर्जितात् ।

सर्वज्ञमवगच्छन्तः स्ववाक्यात्किन्न जानते ? ॥७॥

सर्वज्ञसदृशं कञ्चिद्यदि पश्येम सम्प्रति ।

उपमानेन सर्वज्ञं जानीयाम ततो वयम् ॥८॥

उपदेशो हि बुद्धादेर्धर्माऽधर्मादिगोचरः ।

अन्यथा नोपपद्येत सार्वज्ञं यदि नाऽभवत् ॥९॥

बुद्धादयो ह्यवेदज्ञास्तेषां वेदादसम्भवः ।

उपदेशः कृतोऽतस्तैर्व्यामोहादेव केवलात् ॥१०॥

ये तु मन्वादयः सिद्धाः प्राधान्येन त्रयीविदाम् ।

त्रयी विदाश्रित ग्रन्थास्ते वेदप्रभवोक्तयः ॥११॥ इति ।

न च प्रमाणान्तरं सदुपलम्भकं सर्वज्ञस्य साधकमस्ति।
मा भूदत्रत्येदानीन्तनास्मदादिजनाना(नां)सर्वज्ञस्य साधकं॥

प्रत्यक्षाद्यन्यतमं देशान्तर कालान्तर वर्तिनां केषाञ्चिद्भविष्यतीति चाऽयुक्तम्;

"यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु [५] यज्जातीयार्थदर्शनम्।
दृष्टं सम्प्रति लोकस्य [६] तथा कालान्तरेप्यभूत्॥"

[मीमांसक श्लोक चोदना सूत्र० श्लोक ११३

इत्यभिधानात्। तथा हि–विवादाध्यासिते देशेकाले च प्रत्यक्षादिप्रमाणम्, अत्रत्येदानीन्तन प्रत्यक्षादिग्राह्यसजातीयार्थ ग्राहकं तद्विजातीयसर्वज्ञाद्यर्थग्राहकं वा न भवति प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात् अत्रत्येदानीन्तनप्रत्यक्षादिप्रमाणवत्।

ननु[७] च यथा भूतमिन्द्रियादिजनितं प्रत्यक्षादि सर्वज्ञाद्यर्थासाधकं दृष्टं तथा भूतमेव देशान्तरे कालान्तरे च तथा साध्यते, अन्यथाभूतं[८] वा? तथाभूतं चेत्सिद्धसाधनम्। अन्यथाभूतं चेदप्रयोजको हेतुः[९]; जगतो बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये [१०]सन्निवेशविशिष्टत्वादिवत्; तदसाम्प्रतम्; तथाभूतस्यैव तथा साधनात् न च सिद्ध [११]साधनमन्यादृशप्रत्यक्षाद्यभावात्। तथा हि–[१२]विवादापन्नं प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात्[१३]प्रसिद्धप्रत्यक्षादिप्रमाणवत्। न गृध्द्रवराहपिपीलिकादिप्रत्यक्षेण सन्निहितदेशविशेषानपेक्षिणा नक्तञ्चरप्रत्यक्षेण वालोकानपेक्षिणानेकान्तः, [१४]कात्यायनाद्यनुमानातिशयेन, जैमिन्याद्यागमातिशयेन[१५] वा; तस्यापीन्द्रियादिप्रणिधान[१६]सामग्री विशेषमन्तरेणासम्भवात्, अतीन्द्रियानुमेयाद्यर्थाविषयत्वेन [१७]स्वार्थातिलङ्घनाभावात्। तथाचोक्तं–

"यत्राप्यतिशयो[1] दृष्टः सस्वार्थानतिलङ्घनात् ।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ[2] स्यान्नरूपे श्रोत्रवृत्तितः(ता) ॥१॥
[मीमांसक श्लोक चोदना सूत्र० श्लोक ११४]

येपि[3] सातिशया दृष्टाः प्रज्ञा[4]मेधा[5]दिभिर्नराः ।
स्तोक स्तोकान्तरत्वेन नत्वतीन्द्रिय दर्शनात् ॥२॥
प्राज्ञोपि[6] हि नरः सूक्ष्मानर्थान्दृष्टुं क्षमोपिसन् ।
सजातीरनतिक्रामन्नतिशेते परान्नरान् ॥३॥
[7]एकशास्त्रविचारेषु दृश्यतेऽतिशयो महान् ।
न तु शास्त्रान्तरज्ञानं तन्मात्रेणैव लभ्यते ॥४॥
ज्ञात्वा[8] व्याकरणं दूरं[9] बुद्धिः शद्वापशद्वयो ।
प्रकृष्यते[10] न नक्षत्र ग्रहण निर्णये ॥५॥
ज्योतिर्वि[11]च्च[12] प्रकृष्टोपि चन्द्रार्कग्रहणादिषु ।
न भवत्यादिशब्दानां साधुत्वं ज्ञातुमर्हति ॥६॥
तथा वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवानपि ।
न स्वर्ग[13]देवताऽपूर्वप्रत्यक्षीकरणेक्षमः ॥७॥
[14]दशहस्तान्तरंव्योम्नियोनामोत्प्लुत्यगच्छति ।
न योजनमसौ गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि" ॥८॥ इति ।

प्रसङ्गविपर्ययाभ्यां[15] चास्या[16]शेषार्थ विषयत्वं बाध्यते; तथाहि— सर्वज्ञस्य ज्ञानं प्रत्यक्षं[17] यद्यभ्युपगम्यते तदा तद्धर्मादि[18]ग्राहकं न स्याद्वि-द्यमानोपलम्भनत्वात् विद्यमानोपलम्भनं तत् सत्सम्प्रयोगजत्वात् । सत्सम्प्रयोगजं तत्, प्रत्यक्ष[19]शब्दवाच्यत्वादस्मदादिप्रत्यक्षवत् । तद्धर्मादि-ग्राहकं चेत् न विद्यमानोपलम्भनं धर्मादेरविद्यमानत्वात् । तत्त्वे[20] चास-त्सम्प्रयोगजत्वे चाऽप्रत्यक्ष[21]शब्दा[22]वाच्यत्वम् ।

धर्मज्ञत्वनिषेधे चान्याशेषार्थप्रत्यक्षत्वेपि न [1]प्रेरणाप्रामाण्य प्रतिबन्धो धर्मेतस्या एवप्रामाण्यात् । तदुक्तम्-

"सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादि निवारणात् ।
केवलागमगम्यत्वं लप्स्यते पुण्यपापयोः ॥१॥
धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु [2]केवलोत्रोपयुज्यते ।
[3]सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः [4]केन वार्यते ॥२॥"

[5]किञ्च, अस्य ज्ञानं चक्षुरादिजनितं धर्मादिग्राहकम्, अभ्यास जनितं वा स्यात्, शब्दप्रभवं वा, अनुमानाविर्भूतं वा ? प्रथमपक्षे धर्मादिग्राहकत्वायोगश्चक्षुरादीनां प्रतिनियतरूपादिविषयत्वेन तत्प्रभवज्ञानज्ञानस्याप्यत्रैव प्रवृत्तेः । अथाभ्यासजनितं, ज्ञानाभ्यासादि प्रकर्षतरतमादिक्रमेण तत्प्रकर्ष सम्भवे सकलस्वभावा[6]तिशयपर्यन्तं संवेदनमवाप्यते; इत्यपि मनोरथमात्रम्; अभ्यासो हि कस्यचित्प्रतिनियतशिल्पकलादौ तदुपदेशाद् ज्ञानाच्च दृष्टः । न चाशेषार्थोपदेशो ज्ञानं वा सम्भवति । तत्सम्भवे किमभ्यासप्रयासेनाशेषार्थज्ञानस्य सिद्धत्वात् । अन्योन्याश्रयश्च-अभ्यासात्तज्ज्ञानम्, ततोऽभ्यास इति । [7]शब्दप्रभवं [8]तदित्यप्ययुक्तम्; परस्पराश्रयणानुषङ्गात्-सर्वज्ञप्रणीतत्वेन हि तत्प्रामाण्येऽशेषार्थ विषय ज्ञानसम्भवः, तत्सम्भवे चाशेषज्ञस्य [9]तथा भूतशब्दप्रणेतृत्वमिति । अभ्युपगम्यते च प्रेरणाप्रभव ज्ञान[10]वतो धर्मज्ञत्वम्,

"चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं [11]व्यवहितं [12]विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलंनान्यत् किञ्चनेन्द्रियादिकम्"
[शावर भारत० १।१।२] इत्यभिधानात् ।

अनुमानाविर्भूतमित्यप्यसङ्गतम्; धर्मादेरतीन्द्रियत्वेन तज्ज्ञापक लिङ्गस्य तेन सह सम्बन्धासिद्धेरसिद्धसम्बन्धस्य चाज्ञापकत्वात् ।

किञ्च, अनुमानेनाशेषज्ञत्वेऽस्मदादीनामपि तत्प्रसङ्गः 'भावाभावोभयरूपं जगत्प्रमेयत्वात्' इत्याद्यनुमानस्यास्मदादीनामपि भावात् ।

अनुमानागमज्ञानस्यचाष्पस्टत्वात्तज्जनितस्याप्यवैशद्य सम्भवान्न तज्ज्ञानवान्सर्वज्ञोयुक्तः[१२] ।

न च वक्तव्यम्–'पुनः पुनर्भाव्यमान भावनाप्रकर्षपर्यन्ते योगिज्ञानरूपतामासादयेत्तद्वैशद्यभाग्[१] भविष्यति । दृश्यते चाभ्यासबलात्कामशोकाद्युपप्लुतज्ञानस्यवैशद्यम्' इति; तद्वदस्याप्युपप्लुतत्वप्रसङ्गात्[३] ।

किञ्च, अस्याखिलार्थग्रहणम् सकलज्ञत्वम्, प्रधानभूतकतिपयार्थ ग्रहणं वा ? तत्राद्यपक्षे क्रमेण तद्ग्रहणम्, युगपद्वा ? न तावत्क्रमेण; अतीतानागतवर्तमानार्थानां परिसमाप्त्यभावात्तज्ज्ञानस्याप्य परिसमाप्तेः सर्वज्ञत्वायोगात् । नापियुगपत् ; परस्परविरुद्धशीतोष्णाद्यर्थानामेकत्रज्ञाने प्रतिभासासम्भवात् । सम्भवे वा प्रतिनियतार्थस्वरूपप्रतितीविरोधः ।

किञ्च, एकक्षण एवाशेषार्थग्रहणात्, द्वितीयक्षणेऽकिञ्चिज्ज्ञः स्यात् । तथा परस्थरागादिसाक्षात्करणाद्रागादिमान्, अन्यथा सकलार्थसाक्षात्करणविरोधः ।

नापि प्रधानभूत कतिपयार्थग्रहणम्; इतरार्थव्यवच्छेदेन 'एतेषामेव प्रयोजननिष्पादकत्वात्प्राधान्यम्'[४] इति निश्चयो हि सकलार्थज्ञाने सत्येव घटते । नान्यथा, तच्च प्रागेव कृतोत्तरम् ।

कथं चातीतानागतग्रहणं तत्स्वरूपासम्भवाद् ? असतो ग्रहणे तैमिरिकज्ञानवत्प्रामाण्याभावः । सत्त्वेन ग्रहणेऽतीतादेर्वर्त्तमानत्वम् । तथा चान्यकालस्यान्यकालतया वस्तुनो ग्रहणात्तज्ज्ञानस्याज्प्रामाण्यम् ।

कथं चासौ[५] तग्राह्याखिलार्थाज्ञाने[६] तत्कालेप्य सर्वज्ञैर्ज्ञातुं शक्यते ? तदुक्तम्–

"सर्वज्ञोयमिति ह्येतत्तत्कालेपि बुभुत्सुभिः ।
तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितै र्गम्यते कथम् ॥१॥

कल्पनीयाश्च[7] सर्वज्ञा भवेयुर्बहवस्तव ।
य एव स्यादसर्वज्ञः स सर्वज्ञं[8] न बुध्यते ॥२॥
सर्वज्ञो नावबुद्धश्च येनैव स्यान्न तं प्रति ।
तद्वाक्यानां प्रमाणत्वं मूलाज्ञाने[9]ऽन्यवाक्यवत्[10] ॥३॥

[मीमांसक श्लोक चोदना सूत्र० श्लोक—१३४-३६] इति ।

अत्र[1] प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—सदुपलम्भक प्रमाणपञ्चकाविषयत्वं साधनम् तदसिद्धम्; तत्सद्भावावेदकस्यानुमानादेः सद्भावात् । तथाहि—कश्चिदात्मा सकलपदार्थसाक्षात्कारी तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति[2] प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्, यद्यद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययं तत्तत्साक्षात्कारि यथापगततिमिरादिप्रतिबन्धं लोचनविज्ञानं रूपसाक्षात्कारि, तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययश्च कश्चिदात्मेति । न तावत्सकलार्थ ग्रहणस्वभावत्वमात्मनोऽसिद्धम्; चोदनाबलान्निखिलार्थज्ञानोत्पत्त्यन्यथानुपपत्तेस्तस्य तत्सिद्धेः, 'सकलमनेकान्तात्मकं सत्त्वात्' इत्यादिव्याप्तिज्ञानोत्पत्तेर्वा । यद्धि[4] यद्विषयं तत्तद्ग्रहणस्वभावम् यथा रूपादिपरिहारेण रसविषयं रासनविज्ञानं रसग्रहणस्वभावम्, सकलार्थविषयश्चात्मा व्याप्त्यागमज्ञानाभ्यामिति । सोयं[5] "चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलं पुरुषान्" (शावर भा० १-१-२) इति स्वयं ब्रुवाणो विधिप्रतिषेधविचारणानिबन्धनं साकल्ये नव्याप्तिज्ञानं च प्रतिपद्यमानः सकलार्थग्रहणस्वभावतामात्मनो निराकरोतीति कथं स्वस्थः[6] ? प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वं च प्रागेवप्रसाधितत्वान्नासिद्धम्[7] ।

साध्यसाधनयोश्च प्रतिबन्धो न प्रत्यक्षानुमानाभ्यांप्रतिज्ञायते येनोक्तदोषानुषङ्गः[8] स्यात्, तर्काख्यप्रमाणान्तरात्तत्सिद्धेः[9] ।

यच्चाप्रतिपन्नपक्षधर्मत्वो हेतु र्न प्रतिनियतसाध्यप्रतिपत्त्यङ्ग[10]मित्युक्तम्; तदप्यपेशलम्; नहि [11]सर्वज्ञोऽत्र धर्मित्वेनोपात्तो [12]येनास्यासिद्धे-रयंदोषः। किं तर्हि ? कश्चिदात्मा तत्र चाविप्रतिपत्तेः। न चापक्ष-धर्मस्य हेतोरगमकत्वम्;

"पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन पुत्रब्राह्मणतानुमा।
सर्वलोक प्रसिद्धा न पक्षधर्ममपेक्षते॥"

इति स्वयमभिधानात्।

यदप्युक्तम्—सत्तासाधने सर्वो हेतुस्त्रयीं दोषजातिं नाति वर्त्तत इति; तत्सर्वानुमानोच्छेद कारित्वाद युक्तम्; शक्यं हि वक्तुं धूमत्वादि यंद्यग्निमत्पर्वतधर्मस्तदाऽसिद्धः; [1]कोहि नामाग्निमत्पर्वतधर्मं हेतुमिच्छन्न-ग्निमत्वमेव [2]नेच्छेत्। तद्विपरीत [3]धर्मश्चेद्विरुद्धः; साध्यविरुद्धसाधनात्। उभयधर्मश्चेद्व्यभिचारी सपक्षेतरयोर्वर्त्तनात्। विमत्यधिकरणभावापन्न-धर्मिधर्मत्वे धूमवत्वादेः सर्वंसुस्थम्। यथा [4]चाचलस्याचलत्वादिना प्रसिद्धसत्ताकस्य सन्दिग्धाग्निमत्त्वादिसाध्यधर्मस्य धर्मो हेतु र्नविरुध्यते, तथा [5]प्रसिद्धात्मत्वादिविशेषणसत्ताकस्याप्रसिद्धसर्वज्ञत्वोपाधिसत्ताकस्य च धर्मिणो धर्मः प्रकृतो हेतुः कथं विरुध्येत ?

यदपि अविशेषेणसर्वज्ञः कश्चित्साध्यते विशेषेण वेत्याद्यऽभिहि-तम्; तदप्यभिधानमात्रम्; सामान्यतस्तत्साधनात्तत्रै[6]वविवादात्। विशेषविप्रतिपत्तौ पुनर्दृष्टेष्टाविरुद्धवाक्त्वादर्हत एवाशेषार्थज्ञत्वं सेत्स्यति। कथं वा तत्प्रतिषेधः अत्राप्यस्य दोषस्यसमानत्वात् ? अर्हतो हि तत्प्रति-षेधसाधनेऽप्रसिद्धविशेषणः पक्षो व्याप्तिश्च[8] न सिद्धेत्,[9] दृष्टान्तस्य[10] साध्य-[11]शून्यतानुषङ्गात्। [12]अनर्हतश्चेत्; स एवदोषोबुद्धादेः [13]परस्यासिद्धेः; अनिष्टानुषङ्गश्चार्हतस्तदप्रतिषेधात्[14]। सामान्यतस्तत्प्रतिषेधे सर्वं [15]सुस्थम्।

यच्चोक्तम्—एकज्ञानप्रत्यक्षत्वं सूक्ष्माद्यर्थानां साध्यत्वेनाभिप्रेतं प्रतिनियतविषयानेकज्ञानप्रत्यक्षत्वं वेत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; प्रत्यक्षसामान्येन कस्यचित्सूक्ष्माद्यर्थानां प्रत्यक्षत्वसाधनात्। प्रसिद्धे च तेषां सामान्यतः कस्यचित्प्रत्यक्षत्वे तत्प्रत्यक्षस्यैकत्वमिन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षत्वात्सिद्धेत्, तदपेक्षस्यैवास्यानेकत्वप्रसिद्धेः[३६]। तदनपेक्षत्वं च प्रमाणान्तरात्सिद्धेत्; तथाहि—योगिप्रत्यक्षमिन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षं सूक्ष्माद्यर्थविषयत्वात्, यत्पुनरिन्द्रियानिन्द्रियापेक्षं तन्न सूक्ष्माद्यर्थविषयम् यथास्मदादिप्रत्यक्षम्, तथा च योगिनः प्रत्यक्षम्, तस्मात्तथेति।

किञ्च, एवंसाध्यविकल्पेनानुमानोच्छेदः। शक्यते हि वक्तुम्—साध्यधर्मिधर्मोऽग्निः साध्यत्वेनाभिप्रेतः, दृष्टान्तधर्मिधर्मः, उभयधर्मो वा? प्रथमपक्षे विरुद्धो हेतुः, तद्विरुद्धेन दृष्टान्तधर्मिणि तद्धर्मेणाग्निना धूमस्य व्याप्ति प्रतीतेः। साध्यविकलश्च दृष्टान्तः[१] स्यात्। द्वितीयपक्षे तु प्रत्यक्षादि[२] विरोधः। अथोभयगताग्निसामान्यं साध्यते तर्हि सिद्धसाध्यता[३]।

यच्चान्यदुक्तम्—प्रमेयत्वं किमशेषज्ञेयव्यापिप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिलक्षणमस्मदादिप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिस्वरूपं वेत्यादि; तद्धूमादिसकलसाधनोन्मूलनहेतुत्वान्न वक्तव्यम्। तथाहि—साध्यधर्मिधर्मो धूमो हेतुत्वेनोपात्तः, दृष्टान्तधर्मिधर्मो वा स्यात्, उभयगतसामान्यरूपो वा? साध्यधर्मिधर्मत्वे[४] दृष्टान्ते[५] तस्याभावादनन्वयो[६] हेतुदोषः। दृष्टान्तधर्मि[७]धर्मत्वे साध्यधर्मिण्यभावादसिद्धता। उभयगतसामान्यरूपत्वेप्यसिद्धतैव, प्रत्यक्षत्वाप्रत्यक्षत्वेनात्यन्तविलक्षणमहानसाचलप्रदेशव्यक्ति द्वयाश्रितसामान्यस्यैवासम्भवात् अथकण्ठाक्षिविक्षेपादि लक्षणधर्मकलाप साधर्म्यान्नमहानसाचलप्रदेशाश्रित धूमव्यक्त्योरत्यन्तवैलक्षण्यं येनोभयगतसामान्यासिद्धेरसिद्धता स्यात्; तर्हिस्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकत्वादि धर्मकलापसाधर्म्यस्यातीन्द्रियेन्द्रियविषयप्रमाणव्यक्तिद्वये[८]ऽत्यन्तवैलक्षण्यनिवर्त्तकस्य[९] सम्भ-

वादुभयसाधारण सामान्यसिद्धेः कथंप्रमेयत्वसामान्यस्यासिद्धिः ?

यच्चेदमुक्तम्–प्रसङ्ग विपर्ययाभ्यां [१०] चास्याशेषार्थ विषयत्वं बाध्यत इत्यादि; तन्मनोरथमात्रम्; साध्यसाधनयोर्व्याप्य व्यापकभाव-सिद्धौ हि व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयको [११] यत्र प्रदर्श्यते तत्प्रसङ्ग साधनम्। व्यापकनिवृत्तौ चावश्यं भाविनी व्याप्यनिवृत्तिः स विपर्ययः। न च [१२] प्रत्यक्षत्व[१३]सत्सम्प्रयोगजत्व[१४]विद्यमानोपलम्भनत्व[१५]धर्माद्यनिमित्तत्वानां व्याप्यव्यापकभावः [१६] क्वचित् प्रतिपन्नः। स्वात्मन्ये-वासौ प्रतिपन्न इत्यप्यसङ्गतम्, चक्षुरादिकरणग्रामप्रभवप्रत्यक्षस्या-व्यवहितदेशकाल[१७]स्वभावा[१८]विप्रकृष्ट प्रतिनियतरूपादिविषयत्वा[१९]भ्युपगमात्, नियमस्य[२०] चाभावाद्विप्रकृष्टार्थ [१] ग्राहकेपि प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वदर्शनात्। तथाहि–अनेक योजन शतव्यवहितार्थग्राहि वैनतेयप्रत्यक्षम् रामायणादौ प्रसिद्धम्। लोके चातिदूरार्थग्राहि [२] गृध्रवराहादिप्रत्यक्षम्, स्मरणसव्य-[३]पेक्षेन्द्रियादिजन्यप्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षं च कालविप्रकृष्टस्यातीतकाल सम्बन्धित्वस्यातीतदर्शनसम्बन्धित्वस्य च [४] ग्राहि [५] पुरोवस्थितार्थे [६] भवतै-वाभ्युपगम्यते। अन्यथा–

"देशकालादिभेदेन [७] [८] तत्रास्त्यवसरो [९] मितेः।
इदानीन्तनमस्तित्वं नहि पूर्वधिया [१०] गतम्॥"

[मीमांसक श्लोक प्रत्यक्ष सूत्र० श्लोक २३३-३४]

इत्यादिना [११] तस्यागृहीतार्थाधिगन्तृत्वं पूर्वापरकालसम्बन्धित्व-लक्षणनित्यत्वग्राहकत्वं च [१२] प्रतिपाद्यमानं विरुध्येत। प्रातिभं च ज्ञानं शब्दलिङ्गाक्षव्यापारानपेक्षं 'स्वो मे भ्राता आगन्ता' इत्याद्याकार-मनागतातीन्द्रियकालविशेषणार्थं प्रतिभासं जाग्रद्दशायां स्फुटतरमनुभूयते।

किञ्च, धर्मादेरतीन्द्रियत्वाच्चक्षुरादिनानुपलम्भः, अविद्यमा-

नत्वाद्वास्यात्, अविशेषणत्त्वाद्वा ? न तावदाद्यःपक्षः; अतीन्द्रियस्याप्यतीतकालादेरुपलम्भाभ्युपगमात्। नाप्यविद्यमानत्वात्; भावि धर्मादेर्[१३]-तीतकालादेरिवाविद्यमानत्वेप्युपलम्भसम्भवात्। अविशेषणत्वं तु तस्यासिद्धं सकललोकोपभोग्यार्थजनकत्वेन द्रव्यगुणकर्मजन्यत्वेन चास्याखिलार्थविशेषणत्वसम्भवात्[१४]। अतीताद्यतीन्द्रियकालादेरिवास्यापि विशेषण ग्रहणप्रवृत्तचक्षुरादिना ग्रहणोपपत्तेः कथं धर्मं[१५] प्रत्यस्यानिमित्तत्वसाधने[१६] प्रसङ्गविपर्ययसम्भवः[१७] ? प्रश्नादिमन्त्रादिना[१८] च संस्कृतं चक्षुर्यथा कालविप्रकृष्टार्थस्य द्रव्यविशेष संस्कृतं च निर्जीवकादि[१९] चक्षुर्जलाद्यन्तरितार्थस्य ग्राहकं दृष्टम्, तथा पुण्यविशेषसंस्कृतं[२०] सूक्ष्माद्यशेषार्थग्राहि भविष्यतीति न कश्चिदृष्टस्वभावातिक्रमः। 'स्वात्मनि च यावद्भिः कारणैर्जनितं यथा भूतार्थग्राहि प्रत्यक्षं प्रतिपन्नं तथा सर्वत्र सर्वदा प्राण्यन्तरेपि' इति नियमे नक्तंचराणामनालोकान्धकार व्यवहितरूपाद्युपलम्भो न स्यात्स्वात्मनि तथाऽनुपलम्भात्। प्राण्यन्तरे स्वात्मन्यनुपलब्धस्यानालोकान्धकारव्यवहितरूपाद्युपलम्भलक्षणातिशयस्य सम्भवे सूक्ष्माद्युपलम्भलक्षणातिशयोपि स्यात्। जात्यन्तरत्त्वं चोभयत्र[१] समानम्। अभ्युपगम्य चाक्षजत्वं सर्वज्ञ ज्ञानस्यातीन्द्रियार्थ साक्षात्कारित्वं समर्थितं नार्थतः[२], तज्ज्ञानस्य घातिकर्म चतुष्टयक्षयोद्भूतत्वात्।

यच्चास्य[३] ज्ञानं चक्षुरादिजनितं वेत्याद्यभिहितम्; तदप्यचारु; चक्षुरादिजन्यत्वेऽप्यनन्तरं धर्मादिग्राहकत्वाविरोधस्योक्तत्वात्। यच्चाभ्यासजनितत्वेऽभ्यासो हीत्याद्युक्तम्; तदप्ययुक्तम्; "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तंसत्" (तत्त्वार्थ सूत्र० ५-३०) इत्यखिलार्थ विषयोपदेशस्याविसंवादिनो ज्ञानस्य च सामान्यतः सम्भवात्। न च तज्ज्ञानवत[४] एवाशेषज्ञत्वाद्वयर्थोभ्यासः; तस्यसामान्यतोऽस्पष्टरूपस्यैवाविर्भावात्, अभ्यासस्य[५] तत्प्रतिबन्धकापायसहायस्याशेषविशेषविषयस्पष्टज्ञानोत्पत्तौ व्या-

पारात्। नाप्यन्योन्याश्रयः; [६]अभ्यासादेवाखिलार्थ विषयस्पष्टज्ञानो-[७]त्पत्तेरनभ्युपगमात्।

शब्दप्रभव पक्षेप्यन्योन्याश्रयानुषङ्गोऽसङ्गतः; कारकपक्षे तद-सम्भवात्। पूर्वसर्वज्ञप्रणीतागमप्रभवं [८]ह्येतस्याशेषार्थज्ञानम्, तस्याप्यन्य सर्वज्ञागमप्रभवम्। न चैवमनवस्था दोषानुषङ्गः बीजाङ्कुरवदनादित्वे-नाभ्युपगमादागमसर्वज्ञ परम्परायाः।

यच्चानुमानाविर्भावितत्वपक्षे सम्बन्धासिद्धेरित्युक्तम्; तदसमीचीनम्; [९]प्रमाणान्तरात्सम्बन्धसिद्धेरभ्युपगमात्। न खलु कश्चित्तस्यागोचरोस्ति सर्वत्रेन्द्रियातीन्द्रियविषये [११]प्रवृत्तेरन्यथा तत्रा-नुमानाप्रवृत्ति प्रसङ्गात्, तस्य तन्निबन्धनत्वात्।

यच्चानुमानागमज्ञानस्य चास्पष्टत्वादित्यभिहितम्; तदप्य-समीक्षिताभिधानम्; नहि सर्वथा कारणसदृशमेवकार्यं विलक्षणस्या-प्यङ्कुरादेर्बीजादेरुत्पत्तिदर्शनात्। सर्वत्र हि सामग्रीभेदात्कार्यभेदः। [१२]अत्राप्यागमादिज्ञानेनाभ्यास प्रतिबन्धकापायादि[१३]सामग्रीसहायेनासादिता-शेषविशेषवैशद्यं विज्ञानमाविर्भाव्यते।

भावनाबलाद्वैशद्ये कामाद्युपप्लुतज्ञानवत्त[१४]स्याप्युपप्लुतत्व-प्रसङ्गः। इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतो 'भावनाबलाद्ज्ञानं वैशद्यमनुभ-[१]वति' इत्येतावन्मात्रेण तज्ज्ञानस्य दृष्टान्तोपपत्तेः। न चाशेषदृष्टान्त धर्माणां [२]साध्यधर्मिण्यापादनं युक्तं सकलानुमानोच्छेदप्रसङ्गात्। न चाशेषज्ञज्ञानं क्रमेणाशेषार्थ[३]ग्राहिष्यते येन तत्पक्षनिक्षिप्तदोषोपनिपातः; सकलावरणपरिक्षये सहस्रकिरणवद्युगपन्निखिलार्थोद् द्योतनस्वभावत्वा-त्तस्य करणक्रमव्यवधानातिवर्तित्वाच्च।

यच्चोक्तम्—युगपत्परस्परविरुद्धशीतोष्णाद्यर्थानामेकत्र ज्ञाने

प्रतिभासासम्भवः; तदप्यसारम्; तत्र हि तेषामभावादप्रतिभासः, ज्ञानस्यासामर्थ्याद्वा ? न तावदभावात्, शीतोष्णाद्यर्थानां[४] सकृत्सम्भवात्। ज्ञानस्यासामर्थ्यादित्यसत्; परस्परविरुद्धानामन्धकारोद्योतादीनामेकत्र[५]ज्ञाने युगपत्प्रतिभाससंवेदनात्। सकृदेकत्रविरुद्धार्थानां प्रतिभासासम्भवे 'यत्कृतकं तदनित्यम्' इत्यादिव्याप्तिश्च न स्यात्, साध्यसाधन रूपतया तयोर्विरुद्धत्वसम्भवात्। नाप्येकत्रतेषां प्रतिभासे तज्ज्ञानस्य प्रतिनियतार्थ ग्राहकत्वविरोधः; अन्धकारोद्योतादिविरुद्धार्थ ग्राहिणोऽपि प्रतिनियतार्थ ग्राहकत्वप्रतीतेः।

यच्चान्यदुक्तम्—एकक्षण एवाशेषार्थग्रहणाद्द्वितीयक्षणेऽज्ञः स्यात्; तदप्यसम्बद्धम्; यदि हि द्वितीयक्षणेऽर्थानां तज्ज्ञानस्य चाभावस्तदा[७]ऽयंदोषः। न चैवम्, अनन्तत्वात्तद्द्वयस्य। पूर्वं हि भाविनोऽर्था भावित्वेनोत्पत्स्यमानतया प्रतिपन्ना न वर्त्तमानत्वेनोत्पन्नतया वा। साप्युत्पन्नता तेषां भवितव्यतया प्रतिपन्ना न भूततया। उत्तरकालं तु तद्विपरीतत्वेन ते[८] प्रतिपन्नाः। यदा हि यद्धर्मविशिष्टं वस्तु तदा तज्ज्ञाने[९] तथैव[१०] प्रतिभासते नान्यथा विभ्रमप्रसङ्गात् इति कथं गृहीतग्राहित्वेनाप्यस्या[११] प्रामाण्यम् ?

यच्चेदं परस्यरागादिसाक्षात्करणाद्रागादिमानित्युक्तम्; तदप्ययुक्तम्; [१२]तथापरिणामोहितत्त्वकारणं[१३] न संवेदनमात्रम्, अन्यथा 'मद्यादिकमेवंविधरसम्' इत्यादि वाक्यात्तच्छ्रोत्रियो यदा प्रतिपद्यते[१४] तदाऽस्यापि तद्रसास्वादनदोषः स्यात्। अरसनेन्द्रियजत्वात्तस्यादोशोयम्[१५]; [१६]इत्यन्यत्रापिसमानम्, नहि सर्वज्ञ ज्ञानमिन्द्रियप्रभवं प्रतिज्ञायते। किञ्चाङ्गनालिङ्गनसेवनाद्यभिलाषस्येन्द्रियोद्रेकहेतोराविर्भावोद्रागादिमत्त्वं[१] प्रसिद्धम्। न चासौ प्रक्षीणमोहे भगवत्यस्तीति कथं रागादिमत्त्वस्याशङ्कापि।

यदप्यभिहितम्—कथं चातीतादेर्ग्रहणं तत्स्वरूपासम्भवादित्यादि; तदप्यसारम्; [२]यतोऽतीतादेरतीतादिकालसम्बन्धित्वेनासत्त्वम्, तज्ज्ञानकालसम्बन्धित्वेन वा? नाद्यः पक्षो युक्तः; वर्त्तमानकालसम्बन्धित्वेन वर्त्तमानस्येव स्वकालसम्बन्धित्वेनातीतादेरपि सत्त्वसम्भवात्। वर्त्तमानकालसम्बन्धित्वेन [३]त्वतीतादेरसत्त्वमभिमतमेव, तत्कालसम्बन्धित्वतत्[४]सत्त्वयोः परस्परं भेदात्। न चैतत्कालसम्बन्धित्वेनासत्त्वे स्वकालसम्बन्धित्वेनाप्यतीतादेरसत्त्वम्; [५]वर्त्तमानकालसम्बन्धिनोप्यतीतादिकालसम्बन्धित्वेनासत्त्वात् तस्याप्यसत्त्वप्रसङ्गात् सकलशून्यतानुषङ्गः। न चातीतादेः सत्त्वेन ग्रहणे वर्त्तमानत्वानुषङ्गः; [६]स्वकालनियतसत्त्वरूपतयैव तस्य ग्रहणात्। ननु चातीतादेस्[७]तज्ज्ञानकाले असन्निधानात्कथं प्रतिभासः, सन्निधाने वा वर्तमानत्वप्रसङ्गः प्रसिद्धवर्त्तमानवत्; इत्यपि मन्त्रादिसंस्कृतलोचनादिज्ञानेन व्याप्तिज्ञानेन च प्रागेव कृतोत्तरम्।

अथोच्यते—'पूर्वं पश्चाद्वा यदि [९]क्वचित्कदाचिन्निखिलदर्शिनो विज्ञानं [१०]विश्रान्तं तर्हि तावन्मात्रत्वात्संसारस्य कुतोऽनाद्यनन्तता? अथ न विश्रान्तं तर्हि नानेकयुगसहस्रेणापि सकलसंसारसाक्षात्करणम्' इति; तदप्युक्तिमात्रम्; यतः किमिदं विश्रान्तत्वं नाम? किञ्चित्परिच्छेद्याऽपरस्यापरिच्छेदः [११]सकलविषयदेशकालगमना[१२]सामर्थ्यादवान्तरेऽवस्थानं वा, क्वचिद्विषये उत्पद्य विनाशो वा? न तावदाद्यविकल्पो युक्तः [१३]अनभ्युपगमात्। न खलु सर्वज्ञज्ञानं क्रमेणार्थपरिच्छेदकम्, युगपदशेषार्थोद्योतकत्वात्तस्येत्युक्तम्। द्वितीयविकल्पोप्य[१४]नभ्युपगमादेवायुक्तः। नहि विषयस्य देशं कालं वा गत्वा ज्ञानं तत्परिच्छेदकमिति केनाप्यभ्युपगतम्, अप्राप्यकारिणस्तस्य क्वचिद्गमनाभावात्। केवलं यथाऽनाद्यनन्तरूपतया स्थितोऽर्थस्तथैव तत्प्रतिपद्यते। तृतीयविकल्पोप्ययुक्तः;

क्वचिद्विषये तस्योत्पन्नस्यात्मस्वभावतया[15] विनाशासम्भवात्। नहि स्वभावो भावस्य[16] विनश्यति स्फटिकस्य स्वच्छतादिवत्, अन्यथा तस्याप्यभावः स्यात्। औपाधिकमेव हि रूपं नश्यति यथा तस्यैव रक्तिमादि[1]। कथं चैव[2] वादिनो वेदस्यानाद्यनन्तताप्रतिपत्तिस्तत्राप्युक्तविकल्पानामवतारात्[3]? कथं[4] वा साध्यसाधनयोः साकल्येन व्याप्तिप्रतिपत्तिः, सामान्येन[5] व्याप्तिप्रतिपत्तावप्यनाद्यनन्तसामान्यप्रतिपत्तावुक्तदोषानुषङ्ग[6] एव।

यच्चोक्तम्—'कथं चासौ[7] तत्कालेप्यऽसर्वज्ञैर्ज्ञातुं[8] शक्यते? तदपि फल्गुप्रायम्; विषयापरिज्ञाने[9] विषयिणोप्यपरिज्ञानाभ्युपगमे[10] कथं जैमिन्यादेः सकलवेदार्थपरिज्ञाननिश्चयोऽसकलवेदार्थविदाम्[11]? तदनिश्चये च कथं तद्व्याख्यातार्थाश्रयणादग्निहोत्रादावनुष्ठाने प्रवृत्तिः? कथं वा व्याकरणादिसकलशास्त्रार्थापरिज्ञाने तदर्थज्ञतानिश्चयो व्यवहारिणाम्? यतो व्यवहारप्रवृत्तिः स्यात्।

सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वाच्चाशेषार्थवेदिनो[12] भगवतः सत्त्वसिद्धिः। न चेदमसिद्धम्; तथा हि—सर्वविदोऽभावः प्रत्यक्षेणाधिगम्यः, प्रमाणान्तरेण वा? न तावत्प्रत्यक्षेण; तद्धि सर्वत्र सर्वदा सर्वः सर्वज्ञो न भवतीत्येवं प्रवर्त्तते, क्वचित्कदाचित्कश्चिद्वा? प्रथमपक्षे न सर्वज्ञाभावस्तज्ज्ञानवत एवाशेषज्ञत्वात्। न हि सकलदेशकालाश्रितपुरुषपरिषत्साक्षात्करणमन्तरेण प्रत्यक्षतस्तदाधारमसर्वज्ञत्वं प्रत्येतुं शक्यम्। द्वितीयपक्षे तु न सर्वथा सर्वज्ञाभावसिद्धिः।

अथ न प्रवर्त्तमानं प्रत्यक्षं[13] सर्वज्ञाभावसाधकं किन्तु निवर्तमानम्। ननु कारणस्य[14] व्यापकस्य[15] वा निवृत्तौ[16] कार्यस्य[17] व्याप्यस्य वा निवृत्तिः प्रसिद्धा नान्यनिवृत्तावन्यनिवृत्तिरतिप्रसङ्गात्[18][19][20]। न चाशेषज्ञस्य

प्रत्यक्षं[21] कारणं व्यापकं वा येन तन्निवृत्तौ सर्वज्ञस्यापि निवृत्तिः। न चैवं[22] घटाद्यभावासिद्धिः एकज्ञानसंसर्गिपदार्थान्तरोपलम्भात्[1] क्वचित्तत्सिद्धेः[2]। न चात्राप्ययं[3] न्यायः[4] समानस्तत्संसर्गिण एव कस्यचिदभावात्[5], अन्यथा[6] सर्वत्र तदभावविरोधो घटादिवत्। तन्न प्रत्यक्षेणाधिगम्यस्तदभावः।

नाप्यनुमानेन, विवादाध्यासितः पुरुषः सर्वज्ञो न भवति वक्तृत्वाद्रथ्यापुरुषवदित्यनुमाने हि प्रमाणान्तरसंवादिनोऽर्थस्य वक्तृत्वं हेतुः तद्विपरीतस्य वा स्यात्, वक्तृत्वमात्रं वा ? प्रथमपक्षे विरुद्धो हेतुः, प्रमाणान्तरसंवादिसूक्ष्माद्यर्थवक्तृत्वस्याशेषज्ञे[7] एव भावात्। द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाधनम्; तथाभूतस्य वक्तुरसर्वज्ञत्वेनास्माभिरभ्युपगमात्[8]। वक्तृत्वमात्रस्य तु हेतोः साध्यविपर्ययेण[9] सर्वज्ञत्वेनानुपलब्धेन सह सहानवस्थानपरस्परपरिहारस्थितिलक्षणविरोधासिद्धेस्ततो[10] व्यावृत्त्यभावान्न[11] स्वसाध्यनियतत्वं[12] यतोगमकत्वं स्यात्। सर्वज्ञे वक्तृत्वस्यानुपलब्धेस्ततो व्यावृत्तिरित्यप्यसम्यक्[13]; सर्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्यासिद्धेः, तेनैव[14] सर्वज्ञान्तरेण वा तत्र तस्योपलम्भसम्भवात्। सर्वज्ञस्य कस्यचिदभावात्सर्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्य सिद्धिरित्यसङ्गतम्, प्रमाणान्तरात्तत्सिद्धावस्य[15][16] वैयर्थ्यात्। अतः सिद्धौ[17] चक्रकानुषंगः; नापि स्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भात्तद्व्यतिरेकनिश्चयः[18][19], अस्य परचेतोवृत्तिविशेषैरनैकान्तिकत्वात्।

न चाखिलसाधनेषु दोषस्यास्य[20] समानत्वान्निखिलानुमानोच्छेदः, तत्र विपक्षव्यावृत्तिनिमित्तस्यानुपलम्भव्यतिरेकेण[21] प्रमाणान्तरस्य[22] भावात्। न[23] चात्र कार्यकारणभावः प्रसिद्धः; असर्वज्ञत्वधर्मानुविधानाभावाद्[24] वच-[25]

नस्य। यद्धि[२६] यत्कार्यं तत्तद्धर्मानुविधायि प्रसिद्धं वन्ह्यादिसामग्रीगतसु-[२७] रभिगन्धाद्यनुविधायिधूमवत्[२८]। तथाहि असर्वज्ञत्वं सर्वज्ञत्वादन्यत्पर्यु-दासवृत्त्या किञ्चिज्ज्ञत्वमभिधीयते। न च तत्तरतमभावाद्वचनस्य तथाभावो दृश्यते। तद्धिप्रकृष्टमत्यल्पज्ञानेषु कृम्यादिषु, न च तत्र वचन-प्रवृत्तेः प्रकर्षो दृश्यते। अथ[१] प्रसज्यप्रतिषेधवृत्त्या सर्वज्ञत्वाभावोऽसर्वज्ञत्वं[२] तत्कार्यं वचनम्; तर्हि ज्ञानरहिते मृतशरीरादौ तस्योपलम्भ-प्रसङ्गो ज्ञानातिशयवत्सु चाखिलशास्त्रव्याख्यातृषु वचनातिशयोप-लम्भो न स्यात्। न चैवम्, ततो ज्ञानप्रकर्षतरतमाद्यनुविधानदर्शना-त्तस्य तत्कार्यता[३] सातिशयतक्षादिकारणधर्मानुविधायिप्रासादादिकार्य-[४][५]विशेषवत्। तन्नानुमानात्तदभावसिद्धिः।

नाप्यागमात्, स हि तत्प्रणीतः, अन्यप्रणीतः, अपौरुषेयो वा तदभावसाधकः स्यात्? तत्र यद्यागमप्रणेता सकलं सकलज्ञविकलं साक्षात्प्रतिपद्यते युक्तोसौ तत्र[६] प्रमाणम्, किन्तु विद्यमानोपि न प्रकृता-[७]र्थोपयोगी, तथा प्रतिपद्यमानस्य तस्यैवाशेषज्ञत्वात्। न प्रतिपद्यते चेत्; तर्हि रथ्यापुरुषप्रणीतागमवन्नासौ तत्र[८] प्रमाणम्। न ह्यविदितार्थस्वरू-पस्य प्रणेतुः प्रमाणभूतागमप्रणयनं नामातिप्रसंगात्[९]। द्वितीयविकल्पे-प्येतदेव वक्तव्यम्।

अपौरुषेयोप्यागमो जैमिन्यादिभ्यो यदि सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञा-भावं प्रतिपादयेत्तर्हि सर्वस्मै प्रतिपादयेत् केनचित्[१०] सह प्रत्यासक्तिविप्रक-र्षविरहात् तथा च—

"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतः पात्।" (श्वेताश्वत० ३।३) स वेत्ति विश्वं नहि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्।" (श्वेताश्वत० ३।१०) "हिरण्यगर्भं" (ऋग्वेद अष्ट० ८ मं० १० सू० १२१) प्रकृत्य[११] "सर्वज्ञः" इत्यादौ न कस्यचिद्वि-

प्रतिपत्तिः स्यात्-'किमनेन[१२] सर्वज्ञः प्रतिपाद्यते[१३] कर्मविशेषो वा स्तुयते' इति। न खलु प्रदीपप्रकाशिते घटादौ कस्यचिद्विप्रतिपत्तिः-'किमयं घटः पटो वा' इति। न च स्वरूपेऽस्याप्रामाण्यम्[१]। अविसंवादो हि प्रमाणलक्षणं कार्ये स्वरूपे वार्थे[२] नान्यत्[३]। यत्र सोस्ति तत्प्रमाणम्। न चाशेषज्ञाभावावेदकं किञ्चिद्वेदवाक्यमस्ति, तत्सद्भावावेदकस्यैव श्रुतेः। तन्नागमादप्यस्याभावसिद्धिः।

नाप्युपमानात्; तत्खलूपमानोपमेययोरध्यक्षत्वे सति सादृश्यावलम्बनमुदयमासादयति नान्यथा। न चात्रत्येदानीन्तनोपमानभूताशेषपुरुषप्रत्यक्षत्वम् उपमेयभूताशेषान्यदेशपुरुषप्रत्यक्षत्वं चाभ्युपगम्यते; सर्वज्ञसिद्धिप्रसङ्गात्[४], निखिलार्थप्रत्यक्षत्वमन्तरेणाशेषपुरुषपरिषत्साक्षात्कारित्वासम्भवात्।

नाप्यर्थापत्तेस्तदभावावगमः; सर्वज्ञाभावमन्तरेणानुपजायमानस्य प्रमाणषट्कविज्ञातस्य कस्यचिदर्थस्यासम्भवात्। वेदप्रामाण्यस्य गुणवत्पुरुषप्रणीतत्वे सत्येव भावात्। अपौरुषेयत्वस्याग्रे विस्तरतो निषेधात्। न चार्थापत्तिरनुमानात्प्रमाणान्तरमित्यग्रे वक्ष्यते। तद्वदत्रापि व्याप्त्यादि[५]चिन्तायां[६] दोषान्तरं[७] चापादनीयम्।

नाप्यभावप्रमाणात्तदभावसिद्धिः, तस्यासिद्धेः, तदसिद्धिश्चाभावप्रमाणलक्षणस्य।

"प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते।
सात्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानं वान्य वस्तुनि॥"
[मीमांसक श्लोक अभावपत्त श्लोक ११]

इत्यादेः प्रागेव विस्तरतो निराकरणात्सिद्धा। इत्यलमतिप्रसङ्गेन[८]। न चानुमाने तत्सद्भावावेदके सत्येतत्प्रवर्त्तते-

"प्रमाणपञ्चकं[९] यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता॥"
[मीमांसक श्लोक अभावपत्त श्लोक १]

इत्यभिधानात्। किञ्च, अभावप्रमाणं–

"गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया॥"

[मीमांसक श्लोक अभावपक्ष श्लोक २७]

इति सामग्रीतः प्रादुर्भवति। न चाशेषज्ञनास्तिताधिकरणाखिलदेशकालप्रत्यक्षता कस्यचिदस्त्यतीन्द्रियार्थदर्शित्वप्रसङ्गात्। नाप्यशेषज्ञः क्वचित्कदाचित्केनचित्प्रतिपन्नो येनासौ स्मृत्वानिषेध्येत, सर्वत्र सर्वदा तन्निषेधविरोधात्। न च निषेध्यनिषेध्याधारयोरप्रतिपत्तौ निषेधो नामातिप्रसङ्गात्। नह्यप्रतिपन्ने भूतले घटे च घटनिषेधो घटते। यथा चाभावप्रमाणस्योत्पत्तिः स्वरूपं विषयो वा न सम्भवति तथा प्राक्प्रपञ्चेनोक्तमिति कृतमतिप्रसङ्गेन।

तन्नाभावप्रमाणादप्यशेषज्ञाभावसिद्धिः। तदेवं सिद्धं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वमप्यशेषज्ञस्य प्रसाधकम् इत्यलमतिप्रसङ्गेन[१]।

ननु चावरणविश्लेषादशेषवेदिनो विज्ञानं प्रभवतीत्यसाम्प्रतम्; [२]तस्यानादिमुक्तत्वेनावरणस्यैवासम्भवादिति चेत्; तदयुक्तम्; अनादिमुक्तत्वस्यासिद्धेः। तथाहि–नेश्वरोऽनादिमुक्तो मुक्तत्वात्तदन्यमुक्तवत्[३]। बन्धापेक्षया च मुक्तव्यपदेशः; तद्रहिते[६] चास्याप्यभावः स्यादाकाशवत्।

मीमांसकका पूर्वपक्ष

भावार्थः—अब मुख्य प्रत्यक्ष प्रमाणके कथन करनेका अवसर प्राप्त होनेसे उसकी उत्पत्तिका कारणस्वरूपप्रतिपादनार्थ प्रभाचन्द्राचार्य न्यायसूत्र कहते हैं। अर्थात् सामग्री विशेषतासे संपूर्ण कर्मावरण नष्ट होनेपर जो अतीन्द्रियज्ञान पैदा होगा वही सर्वथा मुख्य प्रत्यक्ष-ज्ञान कहलाता है।

विशेष रीतिसे प्रत्यक्ष-ज्ञान प्राप्त होता है, वही ज्ञान संपूर्णतः विशदरूप अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान है। इस सूत्रमें ज्ञानावरणादिप्रतिपक्षभूत जो आवरणथे वे समस्त देश कालानुसार विशेष सामग्री मिलनेसे विघटित अर्थात् नष्ट प्राय होनेसे अन्तरंगलक्षण सम्यग्दर्शनादिक तथा वहिरंगलक्षण अनुभवादिक सामग्रीसे समग्रत्वपन प्राप्त हुआ। उसकी बजहसे अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञानादिपर क्षयोपशम क्षयरूपतासे समस्त आवरणका अभाव हो जानेसे विशेषतः अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान निरावरणभूत विशुद्ध होगये हैं। क्योंकि अपने-अपने विषयमें स्पष्ट रीतिसे इन तीनों ज्ञानोंमें स्व-पर अवभासित्वपन आनेसे विशद प्रत्यक्ष स्वरूपमें इनका प्रवेश होचुका है। जिस ज्ञानमें स्पष्टत्व आनेपर उस ज्ञानमें संशय, विपर्यास तथा अनध्यव-सायादिकोंका सर्वथा अभाव हुआ। पश्चात् रूपी पदार्थोंमें तथा परमनोगत विषयमें जाननेमें किसी प्रकारका प्रतिवंध नहीं रहा। तब अवधिज्ञान मर्यादित-रूपी पदार्थोंमें पदार्थोंको स्पष्ट रीतिसे जानने लगा। एवं मनःपर्ययज्ञानभी दूसरोंके मनोगत व्यापारोंको सूक्ष्म-रीतिसे यदि सरलहो या टेड़ाहो इन दोनों प्रकारके पदार्थोंको विशद रीतिसे जानने लगा। तथा केवल ज्ञान मूर्तिक और अमूर्तिक ऐसे त्रिकालवर्ति समस्त चराचर पदार्थोंको अत्यन्त स्पष्ट रीतिसे जानने लगा। अतः ये तीनों ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष हैं इनमें इन्द्रिय तथा मनकी अपेक्षा नहीं है। इनके अनपेक्षत्वसे सकल आवरणरूपी कलंक नष्ट होकर विशुद्धत्व प्राप्त होगया है। इसलिये संपूर्णतासे विशद हैं। जो ज्ञान विशद नहीं है वह ज्ञान सावरणमय होनेपर हमारे प्रत्यक्ष ज्ञानवत् अविशद है अर्थात् इन्द्रिय तथा मनकी सहायतासे पदार्थको जाननेवाला सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। यहाँपर बोद्ध प्रश्न करता है कि, यदि आवरण प्रसिद्ध होगा तो उसका नाशहोनेसे ज्ञान प्राप्त होगा?। किन्तु आवरणही नहीं है तो ज्ञान कहाँसे पैदा होगा। आवरण ह्मने शरीर, रागादिक अथवा देशकालादिक हैं?। किन्तु शरीरादिक आवरण नहीं हैं उनका सद्भाव होनेपरभी पदार्थोंका उपलम्भ

प्रतीत होता है। उसका उपलम्भप्रतिबंधकही कांड़पटादिक लोकमें प्रसिद्ध आवरणहैं जैसे सुदर्शनमेरू पर्वत दूरदेशवर्ति है, रामरावणादिक कालसे दूरवर्ति हैं तथा परमाणु आदिक सूक्ष्म होनेसे स्वभावसे दूरवर्ति हैं। मूल, कील तथा उदकादिक एवं भूमि वगैरह ये प्रसिद्ध आवरणहैं ऐसा यदि कहोगे तो तुह्मारा कहना असार है। अर्थात् आवरणका अभाव तुम नहीं करसकते क्योंकि, सातिशयऋद्धिधारी योगियोंके द्वाराभी देशकालादिकका आवरण नष्ट नहीं किया जाता है। तथा अन्य किंचित्भी ज्ञानका आवरण प्रतीत नहीं होता है इसप्रकार सामग्रीविशेषविश्लेषित अखिल आवरण जो आपने कहाहै वह योग्य नहीं है। ऐसा मीमांसकका पूर्वपक्ष उठाकर आचार्य उनका निराकरण करते हैं।

शरीरादिक आवरण नहीं हैं तद्व्यतिरिक्त अर्थात् शरीरादिक छोड़कर कर्मही आवरण प्रसिद्ध है। वह अनुमान प्रमाणसे सिद्ध किया जाता है। उसी प्रकार 'स्वपरावभासी' अर्थात् सम्यग्ज्ञान अपने स्वरूपको तथा परस्वरूपको यथार्थ रीतिसे जानने योग्य प्रमेय वस्तु तत्वको अन्तरंग व वहिरंग वृत्तिसे जानता है। आत्मा गुणी है सम्यग्ज्ञान गुण है इन दोनोंका अविनाभाव सम्वन्ध होनेसे एकको छोड़कर दूसरा अकेला नहीं रहता है अतएव हीनगर्भादि शरीर विषयमें आत्माकी विशिष्ट अभिरति (प्रीति) देखी जाती है। अनादि कालसे आत्मा अपनेस्वस्वरूपसे च्युत होकर कर्मजन्य वैभाविक कुत्सित शरीरादि नाशवंत पदार्थोंपर प्रेम करता आरहा है। अपने शरीरसे अत्यंत भिन्न कलत्रादि विषयोंमें एवं पुष्पमाला चंदनादि परपदार्थोंपर औषधतन्त्रादिक उपयोगजनित प्रेमही विशिष्ट अभिरति कहलाती है। इस विषयमें परोपदेश विना स्वयमेव आत्मा मग्न होता है क्योंकि संसारी प्राणियोंको मोहोदय होनेसे मदिरादिवत् अर्थात् शराव पीकर नशासे जिसप्रकार आदमी अपनी पत्नीको माँ कहता है, एक दफे अपनी माँको भी पत्नी कहता है। उसी प्रकार यह संसारी आत्मा मोहरूपी शराव पीकर अपने निजस्वरूपसे भ्रष्ट होकर वहिरंग शरीरादि विषयोंमें मग्न होगया है, अतः इस आत्माको मोही संसारी विषयकषायी कहते हैं। यहाँ मोहोदयवत् शरावका दृष्टान्त समझना चाहिये।

फिर प्रश्न करता है कि, कर्ममात्रही प्रसिद्ध है, ननु आवरण? जब आवरण सिद्ध होगा तब प्रमाण देकर आवरण है ऐसा सिद्ध करना चाहिये। हमारा इसी आवरण विषयमें वादविवाद है, यदि तुम ऐसा कहोगे तो जवाव दियाजाता है कि, जो हमारा छद्मस्थज्ञान है वह संसारी आवरण सहित

होनेसे समस्त चराचर पदार्थोंको जाननेमें असमर्थ है। अतएव अपने विषयमें सावरणही रहेगा, तथा अशेषविषयभूत अर्थमें प्रवेश नहीं करता है ऐसा अप्रवृत्तिमत् प्रतिज्ञा हेतु देकर आचार्य संसारी ज्ञानको सावरण सिद्ध करते हैं। जिस प्रकार नेत्ररोगी एकही चंद्रमाको देखकर उस चंद्रमामें दो चंद्र हैं ऐसा अनुमान करता है उसी प्रकार यह सावरण ज्ञान अशेषविषयको जाननेमें असमर्थ है। फिर शंकाकार शंका करता है, विज्ञानमें अशेषविषय कहांसे सिद्ध होगा ? यदि आप आवरणका नाश होनेपर वह संपूर्ण पदार्थोंको विषय करेगा ऐसा कहोगे तो अन्योन्याश्रयनामका दोष आता है। क्योंकि ज्ञानमें आवरण सिद्ध होगा तो आवरण नष्ट होनेसे वह ज्ञान अशेषविषयको प्रकाशित करेगा। आवरणही सिद्ध नहीं है तो वह ज्ञान समस्त वस्तुको कैसे सिद्ध करेगा ? अतः ज्ञान सकल विषयी है ऐसा कहनाही व्यर्थ है। तब आचार्य उत्तर देते हैं कि, यदि तुम अनुमानकी इच्छा करोगे तो अवश्यही संपूर्ण आवरणका अभाव होनेपर, पहलेही तुमने सकल प्राणिमात्रको अशेषविषयत्व है ऐसा व्याप्तिज्ञान माना है। जैसे जो ज्ञान अपने विषयमें अस्पष्ट है वही ज्ञान सावरणमय है। दृष्टान्त अंधकारका अभाव होनेपर अंतरित वृक्षसमुदायका ज्ञान स्पष्टही कहलाता है, वैसे सर्वसत् अनेकान्तात्मक ज्ञान व्याप्ति ज्ञान है। तथा मिथ्यादृष्टियोंको सर्वत्र अनेकान्तात्मक ज्ञान माननेमें विपरीत ज्ञान सावरण है जैसे मिथ्या ज्ञानवत् (एकान्तरूप ज्ञान) धतूरा पीनेवाले आदमीका विपरीत ज्ञान मिट्टीके टुकड़ेको भी कांचका टुकड़ा है ऐसा जानता है। अतः यह सिद्ध हुआकि, आवरण पौद्गलिक कर्मही है।

पुरुषज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं कि, अविद्या 'आत्माको आवरण है, न तु पौद्गलिककर्म आवरण होसकता है। मूर्तिकपौद्गलिककर्म अमूर्तिक ज्ञानादिकको आवरण नहीं होसकता है; अन्यथा शरीरादिकोंसे भी अमूर्तिक ज्ञानादिकोंको आवरणत्वका प्रसंग आजायगा, इस प्रकार कहनाही मिथ्या है। शराव आदिक मूर्तद्रव्यसे भी अमूर्तिक आत्मा तथा ज्ञानादिकको आवरण होता है। ऐसा अवलोकनमें आता है। तुम यदि अविद्यास्वरूपको आवरण कहोगे तो आकाशभी अमूर्त द्रव्य है उसकोभी ज्ञानादिकका आवरण कहा जावे इसमें क्या आपत्ति है ? आकाश अविद्यासमान अमूर्त होनेसे, आकाश, और अविद्या इन दोनोंमें अमूर्तत्व होनेपर परस्परमें अविरुद्धपन देखा जाता है अत एव ऐसा नहीं हो सकता है। इसप्रकार कहोगे तो शरीरादिकभी आवरण नहीं होसकते हैं। उसके विरुद्ध पौद्गलिककर्मही आवरण प्रसिद्ध है, अनादि प्रवाहसे प्रवर्तमान ज्ञानादिकों पर

अविद्याका आवरण निरोध होनेसे, परस्पर विरुद्ध अवस्थामें आवार्य तथा आवारक-भाव नहीं देखे जाते हैं। 'यथा मदिरादिवत्' जैसे शरावादिक मादक पदार्थ हैं वैसे पौद्गलिककर्मभी आवरण है देखा जाता है। उसी प्रकार कर्मसंतप्तआत्मा-पर मिथ्या ज्ञानादिकका उदय होनेसे सम्यग्ज्ञान आच्छादित होजाता है। जैसे शराव पिया हुआ आदमी उन्मत्त होकर अद्वा-तद्वा वकता रहता है वैसे मिथ्या ज्ञानके उदयसे स्वभावसे च्युतहोकर वैभावमें आकर अनेक प्रकारके कर्मबंध संसारी आत्मा बांध लेता है। अतः मिथ्याज्ञानजनित अपर मिथ्याज्ञानसे अनेकान्तदोष नहीं आता, इसलिये परापर पौद्गलिक कर्मोदय होता है ऐसा देखने में आया है। उदाहरण—अपर-अपर उन्मत्तादिकोंका सद्भाव होनेसे उनमें परस्पर उन्मत्तादि संतानकी परिपाटी दिग्दर्शित होती है।

यौगवादी कहते हैं कि, कर्म आत्मगुण होनेसे उसमें पौद्गलिकत्व कैसे आता है? आचार्य उत्तर देते हैं—वे भी अपरीक्षक हैं। अर्थात् कर्मको आत्माके गुण मानने पर परस्परमें विरोध आता है, क्योंकि सदैव आत्माको कर्मवंधही नहीं होगा तो आत्माको मुक्तिका प्रसंग आजायगा ऐसा नहीं होसकता है। फिर यौगवादी कहता है जो जिसका गुण है वह उसका पारतंत्र्यनिमित्त नहीं होसकता, जैसे पृथिवी आदिमें रूपादिक गुण देखे जाते हैं; वैसे आत्माके गुण धर्माधर्मक कर्म हैं इस प्रकार यौगवादियोंने माना है। अतः कर्म आत्माको पारतन्त्र्य नहीं कर सकता है। आचार्य कहते हैं कि, ऐसा नहीं होसकता है—क्योंकि संसारी आत्मा कर्माधीन है ऐसा हम प्रमाणसे सिद्ध करते हैं। जिस प्रकार यह आत्मा परतंत्र है हीनस्थान अर्थात् अनादिसे शरीरधारी होनेसे परिग्रहके समान कर्माधीन है। उसी प्रकार शरावसे नशा चढ़नेसे उन्मत्त हुआ पुरुष अत्यंत अशुद्ध स्थानमें ही अपना आवासकर वैठ जाता है, तद्वत् यह कर्मपारतन्त्र्य आत्मा अपने शुद्धस्वभावसे च्युत होकर अशुद्ध वैभावमें आकर अपना आवासस्थान बनालेता है। हीनस्थानही आत्माको शरीर है, वह आत्माको दुःखदायक होनेसे 'कारागारवत्' अर्थात् जेलखानाके समान है। अतएव परिग्रहधारी संसारी प्रसिद्धही है। तथा देवोंमें भी शरीररूपी परिग्रहका अभाव नहीं है इसलिये हमारा पक्ष अव्याप्ति नहीं होसकता। देवोंमें भी मरण होनेसे उनको दुःख होता है, ऐसा प्रसिद्ध हेतुका अवलोकन किया जाता है। जो आत्माको परतन्त्र करता है वही यहाँपर कर्म प्रसिद्ध है; हमारा अभिप्राय सिद्ध हुआ कि, कर्मको पौद्गलिकत्व कहनेमें दोप नहीं है। एवं पौद्गलिक कर्म आत्माको पारतन्त्र्य करनेसे,

वेड़ीके समान बंध करनेमें समर्थ है। इस हेतुमें क्रोधादिकोंसे व्यभिचार (दोष) नहीं आता। पौद्गलिक कर्मोंका जीवपरिणाम होनेसे उनमें पारतन्त्र्य स्वभाव देखा जाता है, किन्तु क्रोधादिक जीवके परिणामोंमें पारतन्त्र्य निमित्त नहीं हैं।

सांख्य कहते हैं कि, सत्य है, कर्म आत्मगुण नहीं है किन्तु कर्म प्रधानका परिणाम है जैसे—पुण्य व पाप ये दोनों शुक्ल तथा कृष्ण कर्मही हैं, इस प्रकार उनके मतमें कहा है। ऐसा कहनाभी सांख्यका मनोरथमात्रही है। प्रधान यह असत्य है प्रधानका जो परिणाम बुध्यादिकोंमें विकार सो असम्भव है। वह असत्यस्वरूपी है ऐसा हम इसी प्रकरणमें कहनेवाले हैं। कर्म आत्मपरिणामी न होकर प्रधानका परिणाम है ऐसा सांख्य सिद्धान्त असत्य है। अर्थात् कर्म आत्मपारतन्त्र्यनिमित्तत्वका अभाव माननेसे उस कर्मकाही अभाव होगा। अन्यथा घटादिकोंमें भी कर्मत्वका सद्भाव मानना पड़ेगा, प्रधान पारतन्त्र्यनिमित्तत्व कर्म है ऐसा कहोगे तो नहीं होसकता है। अर्थात् बंधसम्बन्धमें तथा मोक्षोपयोगमें प्रधानही कारण मानोगे तो आत्मकल्पना करना व्यर्थ हो जायगा। बंध, मोक्षका फलानुभव आत्मामेंही मानागया है इस प्रकारकी कल्पना करना वैयर्थ्य नहीं है। यदि प्रधानकोही कर्मकर्तृत्व मानोगे तो कर्मफल भोक्तृत्वभी प्राप्त होगा तथा उस प्रधानमें प्रमाणसामर्थ्य प्राप्त होजायगा तो आत्मामें कर्मकृतफलका नाश व कर्मकृतफलका आगमन दोष पैदा होगा ऐसा नहीं है। आत्मामें चेतनत्व होनेसे कर्मका फलानुभवन बंध, मोक्ष हैं, किन्तु प्रधानमें अचेतनत्व होनेसे बंध, मोक्षका फलानुभव नहीं है। ऐसा कहनाही ठीक नहीं, क्योंकि मुक्तात्माओंमेंभी कर्मफलानुभवका प्रसंग आजायगा। मुक्तात्मामें प्रधान संसर्गका अभाव है अतः कर्मफलानुभव नहीं आता, यदि ऐसा कहोगे तो संसारी आत्माओंमेंही प्रधानका संसर्ग होनेसे बंध फलानुभव है, तो आत्मामेंही बंध सिद्ध हुआ। उस संसर्गसे बंध फलानुभवन निमित्त बंध देखा जाता है, बंधही संसर्ग है तथा पुद्गलकोही हमने प्रधान कहा है ऐसा नाममात्रका भेद है।

फिर सांख्य प्रश्न करते हैं कि, प्रसिद्ध ऐसा पौद्गलिक कर्म कार्यकारण प्रवाहसे प्रवर्तमान अनादि कालसे चलता हुआ विनाशहेतुभूतसामग्रीविशेषका ही अभाव है, उससे विश्लेषित अखिल आवरणत्व ज्ञानमें कैसे सिद्ध होगा ?। यहभी कहना तुम्हारा उचित नहीं है, क्योंकि, सम्यग्दर्शनादित्रय लक्षणका

कर्मावरण विनाश होजाना यह प्रसिद्ध है। कैसा ?–अनादिसे पूर्वसंचित कर्मभी विशेष चारित्रसे नष्ट होजाता है। यथा–कर्मकी निर्जरा दो प्रकारकी है–उपक्रम, अनुपक्रम, वहां उपक्रमकी निर्जरा बारा प्रकारके तपसे साध्य हैं। तथा अनुपक्रमकी निर्जरा यथा समय संसारी जीवोंको प्राप्त होती है। आप संपूर्ण रीतिसे पूर्वोपार्जित कर्मकी निर्जरा होती है, ऐसा कैसे सिद्ध करते हैं ? ऐसा कहोगे तो हम अनुमान प्रमाणसे निश्चय करसकते हैं इस प्रकार सांख्यको आचार्यने उत्तर दिया। जैसे क्वचित् आत्मामें संपूर्णतः कर्मोंकी निर्जरा देखी जाती है, अर्थात् फलदानका विपाकही निर्जरामें कारण है। और जिस आत्मामें कर्मोंकी निर्जरा नहीं होती है, तो उस आत्मामें कर्मोंका विपाकभी नहीं है। यथा कालादिकोंसे कर्मोंका विपाक देखनेमें आता है इसलिये क्वचित् आत्मामें समस्त कर्मोंकी निर्जरा होती है, यह साधन असिद्ध नहीं है। उसी प्रकार फलावसानमें कर्मोंकी विपाकता दृग्गोचर है, जैसे वर्तन, अग्नि, जल आदिक सामग्री विशेषतासे ओदन (भात) में विपाकावस्था देखी जाती है। यह दिया हुआ हमारा दृष्टान्तभी असिद्ध नहीं है। यदि ऐसा सांख्य नहीं मानेंगे तो कर्मोंमें नित्यत्वका प्रसंग आजायगा। किन्तु कर्म विनाशी होनेसे नित्य नहीं कहलाते हैं। अतः सांख्यका मानाहुआ कूटस्थनित्यत्वका खंडन हुआ।

आगामी कालमें आत्मामें प्रवेश होनेवाला कर्म, संवरतत्वसे रोकाजाता है। तत्वार्थसूत्रमें कहा है कि, "अपूर्वकर्मणामाश्रवनिरोधः संवरः" इस सूत्रानुसार आश्रवके पांच भेद हैं अतः मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इनके आश्रयसे कर्मोंका आश्रव होता है। वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय–तथा चरित्रसे प्राप्त किया जाता है. इस प्रकार आगममें विस्तारसे कहाहै सो देखें। संवर, तथा निर्जरासे सम्यग्दर्शनादिक आत्मसाक्षात्कार होनेसे क्वचित् आत्मामें परमप्रकर्ष होनेपर कर्मोंमें संतानरूपसे अनादित्व रहनेपरभी प्रक्षय (विनाश) प्रसिद्ध ही है। जैसे अनादिपरिपाटीसे विद्यमान शीतस्पर्श, उसका विपक्ष उष्णस्पर्शका परमप्रकर्ष होनेपर निर्मूलतः शीतस्पर्शका विध्वंस होजाता है। कभी भी उत्पन्न नहीं होता। वैसे कार्यकारणरूपसे अनादिप्रवाही बीजांकुर संतानभी उसके प्रतिपक्षभूत अग्निके द्वारा जलादिया जाय तो निर्दग्ध हुआ बीजांकुर नहीं पैदा करता है। इस प्रकार कहनेमें हम समर्थ हैं ऐसा प्रभाचन्द्राचार्यने सांख्योंको कहा है।

पुनः सांख्य कहता है कि, परमप्रकर्षमात्रसे कर्मप्रक्षयमात्रही, सिद्ध है, किन्तु संपूर्णतासे सम्यग्दर्शनादिकोंका कर्मप्रक्षय नहीं है, ऐसा कहनाही

असंगत है। सम्यग्दर्शनादि प्रकर्ष क्वचित् आत्मामें प्रसिद्ध है। जैसे जिस आत्मामें तारतम्य प्रकर्ष है, वैसे क्वचित् आत्मामें परमप्रकर्षभी है। यथा शीतस्पर्शका नाश उष्णस्पर्शसे होता है, तथा तारतम्यप्रकर्ष असंयत सम्यग्दृष्ट्यादिकोंमें सम्यग्दर्शनादिकोंका सद्भाव देखा जाता है। और दुःखप्रकर्षसे व्यभिचार नहीं आता, अर्थात् सातवें नरकमें नारकीयोंको दुःखका परमप्रकर्ष प्रसिद्ध है। सर्वार्थसिद्धिमें देवोंका सुखका परमप्रकर्ष देखा जाता है। तथा मिथ्यादृष्टियोंमें अनंतानुवंधि क्रोधादि कषायोंका परमप्रकर्ष है। इसमें ज्ञानहानिप्रकर्षसे अनेकान्त दोष नहीं आता, उसमेंभी क्षायोपशमिकतासे हीयमानकी अपेक्षासे प्रकृष्यमानता देखनेमें आती है। किन्तु केवलीमें सम्यग्दर्शनादिकोंका परमप्रकर्ष प्रसिद्ध है। केवल ज्ञानमें हानीका असंभव है अतः उस क्षायिकज्ञानमें तारतम्यप्रकर्ष कहां है? अर्थात् नहीं, जिससे अनेकान्त दोष आयगा।

इस प्रकार संपूर्णतासे कर्म नाश करनेका प्रयोग करना चाहिये जिसके अतिशयसे जिसकी हानीभी होगी। जिस प्रकार अग्निका अत्यंत अतिशय होनेसे शीतकीभी अत्यंत हानी होजाती है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शनादिकोंका अत्यंत अतिशय क्वचित् आत्मामें अवश्य है। तथा कर्मावरणहानीभी क्वचित्पुरुषविशेषमें परमप्रकर्षतासे देखीजाती है। अर्थात् प्रकृष्यमाण होनेसे परिमाणके समान दृग्गोचर होता है, यहां हमारा दिया हुआ साधन असिद्ध नहीं है। तथा प्रकृष्यमाण आवरणकी हानी होनेपर, रत्नोंपर, जो मलभाग था वह नष्ट होनेसे उसपर कांति पैदा होगई है। वैसे क्वचित् आत्मामें आवरणका अदृश्य होनेसे उस आत्मामें विशिष्ट शुद्धपन पैदा होगयाहै।

जिस प्रकार प्रकाशात्मक ज्ञानावरणकी हानी उत्कृष्टतासे होनेपर ज्ञानका परमप्रकाशमानत्व देखा जाता है जैसे लोचनको प्रदीपादिकसे स्पष्ट वस्तुज्ञान होजाना है वैसे आवरणका अभाव होनेसे ज्ञान स्वयमेव स्वपरप्रकाशमान होजाता है। उसी प्रकार आवरणप्रसिद्धिके समान उस आवरणका अभावभी समस्त प्रमाणोंसे प्रसिद्ध है, आवरणका अभावही अवशेषअर्थगोचरज्ञानको दूसरोंके द्वारा अवश्य माना जाता है अर्थात् परकी अपेक्षासे एकान्तवादियोंको माननाही चाहिये। अंशतः यदि आवरणका सद्भाव माना जायगा तो क्वचित् शुद्धात्मामें अवशेषअर्थगोचरत्वका असंभव होगा। जहां आवरणका सद्भाव होगा वहां क्वचित् आत्माको प्रतिवंध प्राप्त होगा किन्तु ऐसा नहीं होता।

वौद्ध कहते हैं कि, आगमद्वारा अशेषार्थगोचरज्ञान होजाता है,

ऐसा कहना भी अनुचित है, क्योंकि विशद ज्ञानही प्रसिद्ध है तथा आगमज्ञान विशद नहीं है। आगमभी अशेषार्थ गोचर नहीं है, अर्थपर्यायमें उसकी प्रवृत्ति नहीं है। एवं अर्थपर्याय तो क्षणध्वंसी है अर्थात् बौद्धोंने माना हुआ अर्थ अवस्तुस्वरूपी होनेसे असत् है। जो असत् अर्थ है वह अर्थ क्रियाकारी नहीं होसकता क्योंकि आकाशपुष्पके समान है। अन्यथा इसको अवस्तुत्व प्रसंग आजायगा। तथा इन्द्रियजन्य ज्ञान अतीन्द्रियात्मकअर्थमें प्रवेश नहीं करता है, अर्थात् प्रसिद्ध रीतिसे प्रतिबंधक है, इन्द्रियोंका रूपीपदार्थोंमेंही नियमित विषयमें प्रवेश प्रतीत है।

योगजधर्मग्राही इन्द्रियज्ञान गगनादि (आकाशादि) अशेष अतीन्द्रियार्थको जाननेमें समर्थ है, किन्तु इन्द्रियजज्ञान अशेषार्थको प्रतीत करता हुआ उसमें कैसा प्रतिबंधकपन आसकता है?। ऐसा कहनाही ठीक नहीं है, हमने (आचार्यने) योगजधर्मग्राहीइन्द्रिय ज्ञानका प्रथमाध्यायमें खंडन किया है।

तब भावनाप्रकर्षजयोगिविज्ञानमें उक्त दोष नहीं आसकता है। भावना दो प्रकारकी हैं, श्रुतमयी तथा चिंतामयी वहां श्रुतमयी भावना श्रवण करने वालोंसे 'सर्व क्षणिकं सत्वात्' अर्थात् बौद्धोंका मत सर्वथा क्षणिक होनेपर उत्पद्यमान ज्ञानसे श्रुतशब्दवाच्यको पैदा करता है, तथा वही श्रुतमयी परमप्रकर्षताको निर्माण करती हुई स्वार्थानुमानज्ञानलक्षणचितासे चिंतामयी भावनाको प्राप्त होती है। तथा प्रकृष्यमाण होनेसे परमप्रकर्षताको प्राप्त होकर योगिप्रत्यक्षको उत्पन्न करती है। ऐसी अवस्थामें मुख्यप्रत्यक्षज्ञानके आवरणका अभाव कैसे प्राप्त होगा ? यहभी तुम्हारा कहना प्रलापमात्र है। क्षणिकनैरात्म्यादिभावनाही चिंतामयी तथा श्रुतमयी भावना मिथ्यारूप होनेसे उस मिथ्याज्ञानसे परमार्थविषययोगिज्ञान नहीं पैदा होता है। ऐसा मानने पर अतिप्रसंग आयगा अर्थात् द्विचंद्रादिज्ञानकोभी योगिज्ञानजनकत्वका प्रसंग आजायगा। जिससे वस्तुक्षणिकत्व, नैरात्म्य तथा शून्यत्वको प्राप्त होवें ऐसा नहीं होसकता है, आगे हम कहेंगे।

आचार्य समर्थन करते हैं कि, समस्त प्राणियोंको अशेषविषयज्ञान क्यों नहीं होगा ? सुगतके समान। यदि समस्त प्राणियोंमें उस प्रकारकी भावनाका अभाव है ऐसा कहोगे तो नहीं। सकलतत्वसंपन्नभावनाप्रवृत्तोंमें समानभावना क्यों नहीं होगी?। प्रतिबंधककर्मका सद्भाव कहोगे तो भावनाप्रतिबंधककर्मका अपाय होनेसे तथा योगिज्ञानप्रतिबंधककर्मका

अभाव होने पर सर्वज्ञज्ञानोत्पत्ति माननाही चाहिये। इस प्रकार सिद्ध हुआ है कि, समस्त आवरणका अपाय होने पर अतीन्द्रिय ज्ञानअशेपार्थविपयी विशद प्रत्यक्ष है।

मीमांसक कहता है कि, अशेषार्थज्ञानी कस्यचित् पुरुपविशेपका ही असंभव है कैसा सर्वज्ञज्ञान संभव होगा ? तथा कश्चित् पुरुषविशेप सर्वज्ञ नहीं है। सदुपलंभकप्रमाणपंचक को अगोचर होनेसे वंध्यापुत्रके समान है हमारा दिया हुआ हेतु असिद्ध नहीं है। तथा समस्तपदार्थवेदीपुरुषविशेपको प्रत्यक्ष-प्रमाण से जाना जाता है, या अनुमानादि प्रमाणों से ? प्रत्यक्षप्रमाणसे तो नहीं जाना जाता है। प्रतिनियतासन्नरूपादिविषयत्वसे पुरुषान्तर को जाननेमें भी यह समर्थ नहीं है। भो मीमांसक ! पुनः अनादि अनंत अतीत अर्थात् भूत-काल, भविष्यकाल तथा वर्तमानकाल इन तीनोंमें सूक्ष्मादि स्वभाव समस्तपदार्थ-साक्षात्कारीसंवेदनविशेषमें या सर्वज्ञ सहित पुरुषविशेषमें वह होगा ?। अतीतादि स्वभाव अखिलपदार्थ ग्रहण किये बिना प्रत्यक्षसे सर्वज्ञसाक्षात्कारित्व नहीं हो सकता है। अर्थात् ग्राह्यमयको ग्रहण नहीं करनेसे तत्स्थितग्राहकत्वको भी धारण नहीं कर सकता है।

अनुमानप्रमाणसे भी कश्चित्पुरुष सर्वज्ञको नहीं जाना है। सर्वज्ञत्व-निश्चितस्वसाध्यके प्रतिबंधकहेतुके सद्भाव होनेसे वही हेतु प्रमाणताको प्राप्त होता है। प्रतिबंधक अखिलपदार्थज्ञत्वस्वसाध्यमय हेतु, प्रत्यक्षप्रमाणसे ग्रहण किया जाता है या अनुमान प्रमाणसे ?। आद्यपक्ष—प्रत्यक्षप्रमाणसे नहीं ग्रहण किया जाता है। हेतु—प्रत्यक्षज्ञानके समान सत्त्वसाक्षात्करनेमें असमर्थ होनेसे, तत्प्रतिपत्तिनिमित्तहेतु प्रतिबंधको भी ग्रहणकरने में असमर्थ है। तथा अप्रति-पन्नसंबंधीतद्गतसंबंधावगमयुक्त है ऐसा कहोगे तो अतिप्रसंगनामका दोप आता है। द्वितीयपक्षभी समर्थक नहीं है—

अनुमानप्रमाणसे भी नहीं जाना जाता है; क्योंकि अनवस्था, इतरेतरा-श्रयनामक अनेकदोष आजाते हैं। निश्चिताविनाभावपूर्वकत्वानुमानधर्मीप्रत्यक्षसे प्रतीत नहीं होता है क्योंकि अनक्षज्ञान परोक्षमें प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति नहीं होती है यदि प्रवृत्ति होगी तो प्रत्यक्षप्रमाणसे ही हेतु जाना जायगा। किन्तु अनुमानप्रमाणसे नहीं, अनुमानप्रमाणसे धर्मीहेतु प्रतीत नहीं है पक्षधर्मको जाने बिना यहां अनुमानकी अप्रवृत्ति है। तथा अप्रतिपन्नधर्मीसर्वज्ञत्वमें हेतुका प्रवेश नहीं होता है एवं अप्रतिपन्न पक्ष धर्मित्वहेतु नहीं है जिससे प्रतिनियतसाध्यसिद्धि करेगा।

सर्वज्ञ सिद्ध करनेमें सवही हेतु असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिकत्वलक्षणभूत पक्ष, सपक्ष तथा विपक्षरूपसाध्यको सिद्ध नहीं कर सकते हैं। अर्थात् पक्षादि तीनों दोषोंसे सवही हेतु मुक्त नहीं हो सकते। तथा सर्वज्ञत्वसाधनेमें—भावधर्म-हेतु, अभावधर्महेतु या उभयधर्महेतु समर्थ होगा ?। प्रथमपक्षमें हेतु असिद्ध है क्योंकि तुम्हारा भाव धर्मसिद्ध नहीं होनेसे विरोधी हो जाता है।

द्वितीयपक्षमें—अभावधर्महेतु भी सर्वज्ञ सिद्ध करनेमें असमर्थ है अर्थात् अपना भाव सिद्ध करनेमें अभाव साधक कहलाता है। और यह विरुद्ध ही है एवं उभयधर्मीहेतु अनैकान्तिक होनेसे सत्तासाधनसिद्धकरनेमें भाव, अभाव तथा उभय धर्म को कार्यकारी नहीं कर सकता है।

अब आचार्य कहते हैं कि, सामान्यसे सर्वज्ञ सिद्धि करेंगे या विशेष से ?। आद्यपक्षमें—विशेषरीतिसे अर्हत्प्रणीत (कथित) आगम का जो आश्रय वह प्राप्त नहीं है। द्वितीय पक्षमें तो हेतु अपरसर्वज्ञका अभाव सिद्ध करता है अतः दृष्टान्त भी असंभव है। तथा हेतु सपक्ष, विपक्षमें प्रवेश करनेसे असाधारण अनैकांतिकत्व है।

जैसे—तुह्यारा हेतु प्रतिनियत अर्हन् सर्वज्ञ को सावेगा तो वुद्धको भी सर्वज्ञ सिद्ध करेगा अर्थात् हेतुका अभाव होनेसे नहीं सिद्ध करसकते हैं। इसलिये सर्वज्ञत्वसाधनेमें कोई भी हेतु नहीं है।

आपने जो कहा है कि, 'सूक्ष्मान्तरित दूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात् पावकादिवत्,' अर्थात् सूक्ष्म परमाणु, रामरावण, सुदर्शनमेरू वगैरह कोई पुरुपको प्रत्यक्ष हैं। दृष्टान्त अग्न्यादिकोंके समान ऐसा कहनाभी उक्तिमात्र है, तब जैन पूछते हैं, यहां एकज्ञानप्रत्यक्षत्वसूक्ष्माद्यर्थको साधेगा या अनेक-ज्ञान प्रत्यक्षत्व?। प्रथम कल्पनामें हेतु विरुद्ध है, प्रतिनियतरूपादिविपय-ग्राहक अनेक प्रत्यक्षत्वसे व्याप्त अग्न्यादि दृष्टान्त धर्मीमें प्रमेयत्वका उपलंभ है ऐसा कहोगे तो तुह्यारा दृष्टान्त साध्यविकल है। तथा द्वितीयकल्पनामें हेतुसिद्धसाध्य है, अनेक प्रत्यक्षोंसे तथा अनुमानादिकोंसे 'सूक्ष्मान्तरित दूरार्थ' माना है।

तथा मीमांसकके चोदनासूत्रमें कहा है—चक्षुसे समस्त रसादिकोंको जाना जाता है ऐसा उन्होंने मानलिया है। यदि छह प्रमाणोंसे तुम सर्वज्ञ सिद्ध करोगे तो कौन रोकता है तथा एकही प्रमाणसे सर्वज्ञकी कल्पनाभी मानी जाय तो भी रुकावट नहीं है।

जैसे प्रमेयत्वको अशेषज्ञेयव्यापिप्रमाण प्रमेयत्वका लक्षण माना है या अस्मदादि अर्थात् हमारे माने हुये प्रमाण प्रमेयत्वके व्यक्तिस्वरूप, अथवा उभयव्यक्ति साधारण सामान्य स्वभाव माना है? । प्रथम पक्ष अयुक्त है, अर्थात् विवाद अध्यासितपदार्थोंमें उस माफिक प्रमाण प्रमेयत्वकी असिद्धि है । अन्यथा साध्य सिद्ध होजायगा तो हेतु उपादानका निराकरणही होगा हमारा--- असाधारण अनैकान्तिक हेतु है वही तथाभूतप्रमाण प्रमेयत्वको सिद्ध करेगा । ऐसा कहोगेतो पावकादि दृष्टान्तोंमें हेतु असिद्ध होगा । द्वितीय पक्षमेंभी हेतु असिद्ध है, हमारे प्रमाण प्रमेयत्वके विवादाध्यासित सूक्ष्मादिकोंमें हेतु असम्भव या सम्भव मानोगे । यदि तुह्मारा हेतु अविवादग्रस्त होनेपर भी फलद्रूप नहीं होसकता है, तथा उभय प्रमेयत्व व्यक्तिसाधारण प्रमेयत्वसामान्यभी हेतु नहीं होसकता है । अत्यंत विलक्षण अतीन्द्रिय, इन्द्रियविषयप्रमाण प्रमेयत्व व्यक्तिद्वयसाधारण सामान्यत्वका असम्भव है, अतः अनुमानसे सर्वज्ञको सिद्धि नहीं होसकती है ।

आगमसे भो नहीं हो सकती है । आगम नित्य है या अनित्य है ?--- यदि नित्य मानोगे तो आगमका प्रतिपादन करनेवाले कर्ताका अभाव है । यदि अनित्य मानोगे तो प्रमाणका असम्भव है अग्निष्टोमसे स्वर्गकामकी पूजा करना चाहिये इस प्रकारके अर्थ क्रियामें तुह्मारे हेतुके प्रमाणत्वकी प्रसिद्धि नहीं होगी । अनित्य सर्वज्ञप्रणीत है या पुरुषान्तरप्रणीत है ? प्रथम पक्षमें अन्योन्याश्रय है, यदि सर्वज्ञप्रणीतत्व मानोगे तो उसका प्रामाण्य शावित होगा और सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित है ऐसा सिद्ध होगा । पुरुषान्तर प्रणीत नहीं है उसका उन्मत्तवाक्यवत् होनेसे वह आगम, प्रमाण नहीं माना जाता है इसलिये तुह्मारे आगमसे भी सर्वज्ञ सिद्धि नहीं हो सकती है ।

उपमानसे भी नहीं होसकती, निश्चयरीतिसे उपमान उपमेय इनके साकल्यतासे अध्यक्षत्व होनेपर सादृश्यताको प्राप्त नहीं करसकते अन्यथा अतिप्रसंग आजायगा । उपमानभूत प्रमाणसे कश्चित् सर्वज्ञत्वको प्रत्यक्षतः सिद्ध नहीं करसकते जिससे उपमानभूत सर्वज्ञत्व सिद्ध होजायगा ।

अर्थापत्तिसे भी उसकी सिद्धि नहीं होसकती है, सर्वज्ञसद्भाव विना अनुपपद्यमानकस्यचित्प्रमाणषट्कका अभाव होनेसे धर्मादि उपदेश सर्वज्ञके अभावमें भी वहुजनोंके द्वारा ग्रहण किया जाता है ।

मीमांसकोंका यह चोदना सूत्रका श्लोक है कि, हमारे द्वारा वर्तमानमें सर्वज्ञ नहीं देखा गया है ।

संवन्व्यन्तरहेतु एकदेश नहीं है अथवा अनुमानप्रमाणसर्वज्ञको जानेगा ऐसा नहीं है, कश्चिन्नित्यआगमविधिभी सर्वज्ञवोधक नहीं होसकता। मन्त्रार्थवादोंकी भी तात्पर्यकल्पना (सर्वज्ञकल्पना) में घटना नहीं होती। योगार्थ तथा आगमोंसे भी सर्वज्ञत्वके अस्तित्वको नहीं जाना जाता है। तथा आगमसे सर्वज्ञ है ऐसे नहीं वोल सकते, एवं प्रमाणांतरोंसे भी नहीं जाना जाता है। आगमका अर्थ अनादि होनेसे आदिमान् सर्वज्ञको नहीं जानता, तो असत्य कृत्रिमसे वह सर्वज्ञ कैसा जाना जायगा?। तथा हमारे द्वारा सर्वज्ञ वचनसे ही सर्वज्ञको जाना जाता है सर्वज्ञागम, सत्यार्थ इन दोनोंमें सर्वज्ञकल्पना कैसी कीजायगी अन्यथा अन्योन्याश्रयनामका दोप आजायगा।

सर्वज्ञोक्त वाक्य सत्य होगा तो सर्वज्ञत्वका अस्तित्व सिद्ध होगा, इसप्रकार व्यक्तिगत उभयत्व कैसा माना जायगा। आगमप्रमाणसे सर्वज्ञप्रामाण्य देखना चाहिये असर्वज्ञप्रणीत आगम वचनसे मूलभूत प्रामाण्यका ही निषेध किया जाता है। आधुनिक समयमें यदि सर्वज्ञ समान कुछ देखा हो, तो उपमानसे सर्वज्ञको हमने जानलिया है क्योंकि सर्वज्ञके सदृश दृष्टिगोचर होनेसे, वुद्धादिकोंका भी धर्माधर्मादि गोचर उपदेश होता है। अन्यथा सार्वज्ञत्वकी उत्पत्तिही नहीं होगी वुद्धादिक अवेदज्ञ होनेसे उनके वेदसे सर्वज्ञ सम्भव नहीं है। उन्होंने जो उपदेश किया केवल व्यामोहसे ही किया है। जो मन्वादिक हैं उनके वेदसे पैदा होनेवाली उक्तियां वे ही त्रयीविदके आश्रित ग्रन्थ हैं। इसप्रकार प्रमाणान्तरसदुपलंभकसर्वज्ञसाधक हम लोगोंको कोईभी प्रमाण सर्वज्ञसाधक है ऐसा नहीं दीखता है। अतः प्रत्यक्षादि या अन्यतम प्रमाणादिकोंसे देशान्तर, कालान्तरवर्ती सूक्ष्मादि पदार्थ केचित् पुरुपको विदित होते होंगे ऐसा कहनाही अयोग्य है। जिस जातिके प्रमाणोंसे जिस जातिके अर्थोंको जाना जाता है उसी प्रकार हमारे प्रमाण सदृश प्रमाण प्रकारांतरसे इस वर्तमान समयमें हमने लोकको देखलिया। और कालान्तरमें भी देखलिया था ऐसा उन्होंने मानलिया है।

तथा—विवादाध्यासित देशमें तथा कालमें प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे वर्तमान समयमें सजातीय एवं विजातीय सर्वज्ञादिकोंका ग्राहकत्व नहीं है।

सर्वज्ञवादी कहते हैं कि, जैसे इन्द्रियादिकोंसे प्रत्यक्षादिक सर्वज्ञादि साधक नहीं होसकते हैं, वैसे देशान्तर, कालान्तरसे साध्यसिद्धि करेंगे या अतीन्द्रिय प्रत्यक्षादिकसे ? तथाभूत कहोगे तो हेतुसिद्ध साधन होगा यदि अन्यथाभूत कहोगे तो हेतु अप्रयोजक होगा यदि वुद्धिमत्कारणसे सिद्ध है ऐसा

कहोगे तो कहां तक न्यायसंगत होगा। यदि तथाभूत कहोगे तो सिद्धसाधन होगा क्योंकि अन्यादृशइन्द्रियजन्यप्रत्यक्षादिकोंका अभाव होनेसे। तथा विवादापन्न (देशान्तरकालान्तरवर्ती) प्रत्यक्षादि प्रमाण, इन्द्रियादि सामग्रीविशेषसे अनपेक्ष नहीं होसकते।

गिधाड़पक्षी, सूअर, चींटियाँ वगैरह प्रत्यक्षसे समीपवर्ती, देशकी अनपेक्षासे नक्तंचर अर्थात् निशाचर प्रत्यक्षसे अथवा आलोक अर्थात् प्रकाशके अनपेक्षासे, अनेकान्तदोष नहीं आ सकता है। कात्यायनादिक अनुमानादिकोंसे अथवा जैमिन्यादिक आगमातिशयोंसे, इन्द्रियादिकोंकी एकाग्रता असम्भव है अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं माननेसे तुमने माना हुआ इन्द्रियप्रत्यक्षका अभाव हुआ।

जहां अतिशय देखा जाता है वहां इन्द्रियप्रत्यक्षका उल्लंघन नहीं होता। दूर सूक्ष्मादिपदार्थभी इन्द्रियप्रत्यक्षसे अवलोकन किये जाते हैं। जो सातिशय देखा गया है वह प्रज्ञा ह्मने अर्थग्रहण करनेकी शक्ति, मेधा अर्थात् पाठग्रहण करनेकी शक्ति ऐसे गुणविशिष्टमनुष्योंने देखा है। अल्पसे अल्पपदार्थ दृग्गोचर होनेपर अतीन्द्रियप्रत्यक्षसे नहीं देखा जाता है। बुद्धिमान्पुरुष सूक्ष्मादिपदार्थोंको देखनेमें समर्थ है, अपने सजातीयत्वका उल्लंघन नहीं करताहुआ परपुरुषको भी अवलोकन करवानेमें समर्थ ही होगा।

एकही शास्त्रके विचारसे महान् अतिशय देखा जाता है, किन्तु शास्त्रान्तरज्ञान एकशास्त्रसे नहीं हो सकता है। व्याकरण जानकर बुद्धिन्यासतक शब्द अपशब्दोंमें प्रवेश करती है। तथा नक्षत्र, तिथिके निर्णय करनेमें वृद्धिगत नहीं होती है। ज्योतिपविषयमें भी उत्कृष्टवुद्धि चन्द्र, सूर्य और ग्रहणादिकोंमें भवत्यादिशब्दोंको यथायोग्यजाननेमें असमर्थ होती है। तथा वेद, इतिहासादिज्ञानातिशयवान् होकरभी स्वर्गदेवता अदृष्ट (पुण्य, पाप) प्रत्यक्ष जाननेमें समर्थ नहीं हो सकती है। जो मनुष्य आकाशमें दस हाथ अन्तरतक कूदकर उड़ सकता है किन्तु सैकड़ों अभ्याससे भी एक योजनतक उड़नेमें असमर्थ होजाता है।

इसप्रकार प्रसंगविपर्ययज्ञानसे सर्वज्ञज्ञान विषयत्व बाधित होता है। तथापि सर्वज्ञज्ञान यदि प्रत्यक्ष मानोगे तो पुण्यपापादिकोंका ग्राहक नहीं हो सकता। विद्यमानोपलम्भ सत्सम्प्रयोगजत्व होनेपर हमारे प्रत्यक्षवत् हो जायगा। यदि सर्वज्ञधर्मादिग्राहक कहोगे तो धर्मादिक विद्यमानोपलम्भ नहीं होनेसे अविद्यमानोप ही होगा अतः सर्वज्ञत्व प्रत्यक्ष न होकर परोक्षही होगा। इसप्रकार विपर्ययसे सर्वज्ञ अशेषार्थविषयत्व बाधित ही होगा।

धर्मज्ञत्वका निषेध होनेपर अन्य अशेषार्थ प्रत्यक्षभी वैदिकी प्रामाण्यका प्रतिबंधक नहीं है, धर्ममें उसका प्रामाण्य देखा जाता है। कहाभी है सर्वप्रमाताके सम्बन्धमें प्रत्यक्षादिकोंका निवारण होनेसे पुण्य, पाप केवल आगमसे ही जाने जाते हैं। धर्मज्ञत्वका निषेध केवल प्रेरणाके प्रामाण्यमें ही उपयोग किया जाता है। किन्तु धर्म तथा अधर्मसे जो अन्य उसको जाननेवाला पुरुष है उसको किससे रोका जायगा।

सर्वज्ञका ज्ञान, चक्षुरादिसे प्राप्त, धर्मादिग्राहक है, या अभ्याससे प्राप्त है ? अथवा शब्दसे उत्पन्न है, या अनुमानसे जनित है ?

प्रथमपक्षमें--धर्मादिग्राहकत्वका अयोग है,। चक्षुरादिकोंका प्रतिनियतरूपादिविषयत्वसे, तत्प्रभवज्ञानकी भी यहीं पर प्रवृत्ति होती है। अभ्यासजनित कहोगे तो ज्ञानाभ्यासादिकप्रकर्षतरतमादिक्रमसे यदि ज्ञानप्रकर्षसम्भव होगा तो सकलार्थग्रहणलक्षणातिशयतक संवेदन माना जायगा। यहभी मनोरथमात्र है।

अभ्यास तो कस्यचित्प्रतिनियतशिल्पकलादिकोंमें ज्ञानोपदेशसे देखा गया है। अशेषार्थोपदेशज्ञानका सम्भव नहीं है, यदि सम्भव है तो अभ्यासप्रयाससे क्या प्रयोजन ?। अशेषार्थज्ञानसिद्धही होगा तो अन्योन्याश्रयदोष मौजूद होगा अर्थात् अभ्याससे सर्वज्ञज्ञान तथा सर्वज्ञज्ञानसे अभ्यास शब्दप्रभव (आगम) कहोगे तो अयुक्त है। अर्थात् परस्पराश्रयनामका दोष आयगा, सर्वज्ञके द्वारा प्रतिपादित होनेसे उस प्रामाण्यमें अशेषार्थविषयज्ञान सम्भव होगा। तथा अशेषार्थविषयज्ञान होनेसे अशेषज्ञको (सर्वज्ञको) अशेषार्थविपयसिद्ध होगा। मन्वादिकोंने प्रेरणाप्रभवज्ञानवान्को धर्मज्ञत्व माना है।

'चोदना ही भूतकालीन, वर्तमानकालीन, भविष्यत्कालीन, सूक्ष्मको कालसे दूरवर्तीय, अनुमानादिज्ञानजनित अस्पष्टत्वको इसप्रकार जातीय अर्थको जाननेमें समर्थ है। किन्तु इन्द्रियादिक किंचत्भी अन्य समर्थ नहीं है' ऐसा कहा गया है।

अनुमानसे प्रगट है ऐसाभी कहना असंगत है, क्योंकि धर्मादिक अतीन्द्रियत्व होनेसे उस ज्ञापकलिंगका उनके साथ सम्बन्ध असिद्ध है। तथा असिद्ध सम्बन्धत्वका अज्ञापकत्व प्रसिद्ध है। अनुमानसे अशेपज्ञत्व मानोगे तो हमारे इन्द्रियजन्यज्ञानत्वको भी वही प्रसंग आजायगा। भावाभाव उभयरूपजगत् प्रमेयत्व होनेपर अनुमान इत्यादि हमारेमें भी विद्यमान हैं। तथा अनुमान

आगमज्ञान अस्पष्ट होनेसे उससे पैदा होनेवाला ज्ञान असम्भव है, अर्थात् अनुमानसे ज्ञानवान् सर्वज्ञ युक्त नहीं है।

नहीं बोलना चाहिये ? पुनः पुनर्भाव्यमान भावनाप्रकर्षतक योगिज्ञानरूप को प्राप्त करनेवाला अनुमान आगमजनित अस्पस्टज्ञान वैशद्यस्वरूपको प्राप्त होता है। अभ्यासके बलसे काम, शोकादिव्याहतज्ञानका वैशद्य देखा जाता है, तदनुसार सर्वज्ञज्ञानको भी व्याहतका प्रसंग आजायगा।

इस ज्ञानका अखिलार्थग्रहण सकलज्ञत्व है या प्रधानभूत कतिपयार्थग्रहण सकलज्ञत्व है ? प्रथमपक्षमें क्रमसे उसका ग्रहण है ? अथवा युगपत् है ? क्रमसे तो ग्रहण नहीं है। भूतकालीन, वर्तमानकालीन तथा भविष्यत्कालीन अर्थोंके परिसमाप्तिका अभाव होनेसे उस ज्ञानको भी अपरिसमाप्तिका प्रसंग आजायगा। युगपत्भी नहीं है परस्पर विरुद्ध शीतोष्णादि अर्थोंका एकत्रज्ञानमें प्रतिभासका असम्भव है। अथवा सम्भव है ऐसा कहोगे तो प्रतिनियतार्थस्वरूपके प्रतीतिमें विरोध आयगा।

एक समयमें ही अशेषार्थको ग्रहण माननेसे, दूसरे समयमें अकिंचिज्ञ होगा। तथा दूसरेमें स्थित रागद्वेषादिकोंको साक्षात्कार करनेसे रागादिमान् होगा। अन्यथा सकलार्थसाक्षात्कारीमें विरोध आजायगा।

प्रधानभूत कतिपयार्थको ग्रहण करता है ऐसा कहोगे तो यहभी ठीक नहीं है। इतरार्थका व्यवच्छेद होनेसे ही सर्वज्ञज्ञानमें मोक्षलक्षण घटित होगा। अतएव प्राधान्य माना जायगा। इसप्रकार निश्चय हुआ कि, सकलार्थज्ञानमें ही मोक्षका स्वरूप प्रसिद्ध होगा। इसका प्रथमही हमने उत्तर दिया है।

भूतकालीन तथा भविष्यत्कालीन अर्थको कैसा ग्रहण करेगा?। यदि असत् वस्तुको ग्रहण करेगा तो नेत्रदोषज्ञानके समान प्रामाण्यका अभाव होगा यदि सद्वस्तुको ग्रहण करेगा तो भूतकालको ही वर्तमानकालका प्रसंग आजायगा। तथा अन्यकालको अन्यकालसे वस्तुग्रहण करनेसे उस ज्ञानका अप्रामाण्य प्रसिद्ध ही होगा।

सर्वज्ञ—मूलवाक्यकारण सर्वज्ञलक्षणको न जाननेसे उस कालमें भी असर्वज्ञ द्वारा कैसा जाना जासकता है?।

कहा है। यह सर्वज्ञ इसप्रकार उसकालमें भी भूख, प्याससे पीड़ित ऐसे ज्ञान, ज्ञेय विज्ञानादिकोंसे रहित होनेसे उसके द्वारा कैसा जाना जायगा।

तुह्मारे कल्पनीय सर्वज्ञ बहुतसे हो गये हैं, जो तुह्मारा असर्वज्ञ है वह सर्वज्ञको नहीं, जानता है। सर्वज्ञ तो अप्रतिवुद्ध नहीं होते हैं, किन्तु अप्रतिवुद्ध असर्वज्ञही है अतः इसके वचनमें प्रामाण्य नहीं होनेसे रथ्यापुरुषके समान अज्ञानी है।

उत्तरपक्षः

आचार्यके द्वारा—मीमांसकके एकान्त मतका खण्डन किया जाता है तुमने जो कहाथा—सदुपलम्भक प्रमाणपंचक यह अविषयत्वसाधन होनेसे असिद्ध है। सर्वज्ञसद्भावको अनुमानादिकोंसे जाना जाता है। तथा कश्चित् आत्मा समस्त पदार्थको साक्षात्कार करता है, अर्थग्रहणस्वभावत्व होनेसे प्रतिवंधप्रत्यय सिद्ध होता है। जो-जो ग्रहणस्वभावत्व होगा, वह-वह प्रक्षीण प्रतिवंध प्रत्ययत्वको साक्षात्कारी करेगा। जिसप्रकार नेत्रदोष विच्छेद होनेसे निर्दोष नेत्रज्ञान रूपका यथायोग्य अवलोकन करेगा उसीप्रकार सर्वज्ञग्रहण-स्वभावत्व होनेसे प्रक्षीण प्रतिवंध प्रत्ययत्वकी आत्मामें प्रसिद्धि होगी सकलार्थ-ग्रहणस्वभावत्व आत्मामें असिद्ध नहीं है। आगमवलसे समस्तार्थज्ञानोत्पत्ति होती है तथा अन्यथानुपपत्तिसे सर्वज्ञत्वकी सिद्धि होजाती है। सकलवस्तु अनेकान्तात्मक होनेसे सत्वात् इत्यादि व्याप्ति ज्ञानोत्पत्तिभी प्रसिद्ध है। आत्मासकलार्थग्रहणस्वभावी है क्योंकि जो जिसका विषय होता है वह उसको ग्रहण करता है जैसे रूपादिकोंका परिहार होनेपर रासनविज्ञानका रसविषय होनेसे उसमें रसग्रहण देखा जाता है। सकलार्थविषयी आत्मा व्याप्ति तथा आगमज्ञानसे सिद्ध है।

मीमांसककी चोदना—ही भूतकालीन, वर्तमानकालीन भविष्यत्कालीन, विप्रकृष्टार्थ इत्यादिकोंको जाननेमें समर्थ है। पुरुपान् इति, इसप्रकार स्वयमेव वोलनेवाला मीमांसक विधिप्रतिपेधविचारनिवंधही साकल्यसे व्याप्तिज्ञानका प्रतिपादन करता हुआ, सकलार्थग्रहणस्वभावी आत्माका निराकरण करता है, इसलिये कैसा वुद्धिमान् होगा?। प्रक्षीणप्रतिवंधप्रत्ययत्वका प्रथमही हमने सिद्ध किया है।

साध्य तथा साधनका प्रतिबंध प्रत्यक्ष एवं अनुमानसे नहीं जाना-जाता है। जिससे अनवस्था इतरेतराश्रय नामके दोष प्राप्त होजायेंगे। अतः तर्कप्रमाणान्तरसे साध्यसाधनके सम्बन्धकी सिद्धि होजायगी। जो अप्रतिपन्न, पक्षधर्मत्व हेतु, प्रतिनियतसाध्यका कारण नहीं होसकता है, ऐसा मीमांसकने कहा है वह ठीक नहीं है। सर्वज्ञके इस अनुमानमें सर्वज्ञकी ही सिद्धि होगी।

अर्थात् पिता ब्राह्मण होनेसे पुत्रको भी अनुमानसे ब्राह्मण माना जाता है। यह विषय सब लोगोंको विदित है इसलिये हेतु पक्षधर्मकी अपेक्षा नहींकरता है।

फिरभी जो कहा है—सत्तासाधनमें सब हेतु त्रयीदोषजातीको छोड़ते नहीं हैं, इसलिये वे सर्वानुमानके उच्छेद करनेवाले होनेसे हेतु अयुक्त हैं। हम कह सकते हैं कि, यदि धूमत्वादिहेतु अग्निमत्पर्वतधर्मके असिद्ध होजायेंगे तो कोईभी ज्ञानवान् अग्निमत्पर्वतधर्महेतुकी इच्छा करनेवाला, अग्निमत्वकी इच्छा नहीं करेगा क्या ?। अग्निमत्वको विपरीत मानोगे तो हेतुविरुद्ध होगा। साध्य विरुद्ध होनेसे यदि उभयधर्म मानोगे तो व्यभिचारी होगा सपक्ष और विपक्षमें भी प्रवेश करनेसे, अनेकान्तिक होगा। जैसे अचल अर्थात् स्थूलादिकोंमें अचलत्व प्रसिद्धहोनेसे संदिग्ध तथा अग्निमत्वादिकोंमें हेतु विरुद्ध नहीं होंगे वैसे प्रसिद्ध अमूर्तत्वादि विशेषणसत्तासहित व–अप्रसिद्ध सर्वज्ञत्व उपाधिसत्तासहित इन दोनोंमें धर्मि और धर्ममें वर्तमान जो हेतु हैं वे विरुद्ध कैसे होंगे।

फिरभी सामान्यसे सर्वज्ञ कोईभी है ऐसा सिद्धकरोगे या विशेषसे ? यहभी तुह्मारा कथनमात्र है। क्योंकि, सामान्यसे सर्वज्ञसिद्धि करोगे तो उसीमें वादविवाद है। यदि विशेषसे करोगे तो प्रत्यक्ष तथा अनुमानसे अविरोध वचन होनेसे अर्हंतभगवान् ही समस्त चराचरपदार्थोंको विषय करनेमें प्रसिद्ध हैं, अतः कैसा अशेषार्थज्ञत्वका प्रतिषेध होगा ?।

यहांपरभी इस दोषका समानत्व है ?। अर्हंतको ही सर्वज्ञत्वका प्रतिषेधसाधनेमें, अप्रसिद्ध विशेषणयुक्त जो पक्ष तथा व्याप्ति अर्थात् जो पुरुष हैं वही अर्हंत ही हैं सर्वज्ञ नहीं हैं, इसप्रकार पक्ष एवं व्याप्तिकी सिद्धि नहीं होपाती। अन्यथा रथ्यापुरुषके समान साध्यशून्य हो जायगा। यदि अन्य अर्हंतही है ऐसा कहोगे तो वही दोष आता है, बौद्ध तथा मीमांसादिकोंके सर्वज्ञ नहीं हो सकते हैं अर्थात् असिद्ध हैं। अतः अनिष्टप्रसंग उपस्थित होनेसे अर्हंतभगवान्ही सर्वज्ञ हैं इनके सर्वज्ञत्वका प्रतिषेध नहीं किया जाता है। सामान्यतासे सर्वज्ञत्वका प्रतिषेध करनेपर हमारे पक्षके समानही होगया।

उन्होंने जो कहा है–एक ज्ञानप्रत्यक्षही सूक्ष्मादि अर्थोंको जानलेता है या प्रतिनिश्चितविषयको अवगत करनेवाला अनेकज्ञान प्रत्यक्ष है ? यहभी उक्तिमात्रही है। प्रत्यक्षसामान्यसे कस्यचित्सूक्ष्मादि अर्थोंको साक्षात् जाने जाते हैं प्रसिद्धही है कि, उनको सामान्यतासे कोईको प्रत्यक्ष होनेसे वह प्रत्यक्ष इन्द्रिय तथा अनिन्द्रियकी अपेक्षासे सिद्ध है उसकी अपेक्षाही अनेकत्वको प्राप्त होती है। तथा उसका अनपेक्षत्वही प्रमाणान्तरसे सिद्ध होता है।

तथा योगिप्रत्यक्ष इन्द्रिय और अनिन्द्रियकी अपेक्षासे सूक्ष्माद्यर्थोंको जानता है यदि वह इन्द्रिय तथा अनिन्द्रियकी अपेक्षा करेगा तो सूक्ष्माद्यर्थोंका विषय नहीं करेगा। जैसे हमारे प्रत्यक्षादिकोंके समान।

इसप्रकार साध्यविकल्पसे अनुमानका विच्छेद हो जायगा। ऐसा हम कह सकते हैं कि—साध्यधर्मिधर्म अग्नि साध्यत्वसे माना है या दृष्टान्तधर्मिधर्मसे अथवा उभयधर्मसे ? प्रथमपक्षमें तो हेतु विरुद्ध है, उसके विरुद्धसे दृष्टान्तधर्मि तथा अग्निमयधर्महेतुसे धूमकी व्याप्ति प्रतीत है। अर्थात् साध्यविकलही दृष्टान्त है खुलासा–रसोईशालामें अग्नि है क्योंकि धुवां निकल रहा है किन्तु पर्वतमें अग्निका अभाव है। द्वितीयपक्षमें तो प्रत्यक्षादिकोंसे विरोध आता है। यदि उभयगत अग्निसामान्यको सिद्ध करोगे तो सिद्धसाध्यही है।

उन्होंने जो प्रमेयत्व कहा है—वह क्या प्रमेयत्वसमस्तज्ञेयमें व्यापकर प्रमाणका प्रमेयत्वव्यक्तिलक्षण है या हमारे प्रमाणप्रमेयत्वका व्यक्तिस्वरूप है ?। पर्वतधूमादिसमस्तसाधनका उन्मूलन करनेमें कारण होनेसे इसको नहीं कहना चाहिये।

तथा—साध्यधर्मि, धर्म जो धूम यह हेतुसे पैदा हुआ है या दृष्टान्तधर्मि धर्मसे अथवा उभयगतसामान्यरूपसे ?

साध्यधर्मि धर्मत्वके महानसरूप (रसोईशाला) दृष्टान्तमें उसका अभाव है अतः हेतुका अनन्वयनामकदोष है। अर्थात् जो–जो पर्वतधूमवान् है, वह–वह अग्निमान है, ऐसा अन्वय हेतु नहीं होनेसे साध्यसाधनमें असमर्थ है। यदि दृष्टान्तधर्मि धर्मत्व मानोगे तो साध्य धर्मिका अभाव होनेपर असिद्ध होगा तथा उभयगत सामान्यरूपत्वभी असिद्धही है। प्रत्यक्षत्व अप्रत्यक्षत्वसे अत्यन्त विलक्षण महानस अर्थात् अचल प्रदेश व्यक्तिद्वयआश्रितसामान्यका ही असम्भव होगा।

यह जो कहा है कि, प्रसंगविपर्ययसे सर्वज्ञत्वका विषय बाधित होता है इत्यादि ऐसा कहनाभी मनोराज्य है। अर्थात् साध्यसाधनसे व्याप्य व्यापककी

सिद्धि होनेपर व्याप्यभाव माननेपर व्यापकको भी मानना न्यायसंगत होगा अर्थात् अनुमानमें इन दोनोंका सद्भाव प्रकाशित होजाता है। व्यापककी निवृत्ति होनेपर अवश्यही व्याप्यकी निवृत्ति होजाती है वही विपर्यय है। व्याप्य, व्यापकभाव विद्यमान होनेसे दृष्टान्तमें इन दोनोंका अस्तित्व स्वयमेव सिद्ध होगा। स्वात्मामेंही इनका उत्पाद देखा जाता है यहभी असंगत है। चक्षुरादिकोंके इन्द्रिय समुदायसे प्रत्यक्षका अव्यवहित देश-काल स्वभावसे समोपवर्ति प्रतिनिश्चित रूपादिविषय उन्होंने माना है। नियमका अभाव होनेसे विप्रकृष्टार्थका ज्ञानमें प्रत्यक्ष शब्दवाच्यत्व देखा गया है। तथा अनेक अर्थात् सैकड़ों योजन दूरवर्ति अर्थको ग्रहण करनेका सामर्थ्य रखनेवाला वैनतेय प्रत्यक्ष रामायणादिकोंमें प्रसिद्ध है। लोकमें अतिदूरार्थग्राहीत्व वराह अर्थात् सूअरादि पिपीलिका अर्थात् चींटियों वगैरहसे प्रत्यक्ष प्रसिद्ध है। स्मरण सव्यपेक्ष इन्द्रियादिजन्य तथा आदिपदसे अनिंद्रियजन्य प्रत्यभिज्ञान नामका प्रत्यक्ष है। कालसे दूरवर्ति रामरावणादि भूतकाल सम्बन्धि विषय होनेसे इस प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्षसे अवलोकन ग्रहण कियाजाता है तो समीपवर्ति देवदत्तके विषयमें देवदत्तका स्वरूपावलोकन मीमांसकने स्वयमेव माना है। नान्यथा——

देश कालादिकोंके भेदसे पूर्वप्रमाण गृहीत अर्थमें प्रत्यभिज्ञानका अवसर प्राप्त होनेसे इस समय प्रत्यभिज्ञानका अस्तित्व पूर्व ज्ञानसे नहीं जाना जाता है। (मीमांसकका श्लोक २३३-३४) में कहा गया है कि——

प्रत्यभिज्ञानको ग्रहण किये हुये अर्थमें पूर्वापर कालसम्बन्धित्व लक्षणसे नित्यत्व ग्राहकत्वको तुमने माना है वह वस्तुतः विरुद्ध है। मीमांसकने शब्द, लिंग अर्थात् अनुमान इन्द्रियव्यापार अनपेक्ष जो प्रातिभज्ञान है उसको मान-लिया है। अर्थात् सुबह मेरा भाई आनेवाला है इसप्रकार भविष्यकालका सूचक अतीन्द्रियकालके विशेषणसे जाग्रद्दशामें स्पष्ट रीतिसे प्रकाशमानत्वका अनुभव आता है ऐसा उनके द्वारा मानागया है।

धर्मादिक अतीन्द्रिय होनेसे चक्षुओंसे अनुपलम्भ हैं; या अविद्यमान हैं अथवा अविशेष हैं? तुह्मारा आद्यपक्ष ठीक नहीं है,——क्योंकि अतीन्द्रियज्ञानसे भी भूतकालीनवस्तुस्वरूपका सम्भव माना गया है। अविद्यमानभी उचित नहीं है। भविष्यत्कालीन धर्मादिकोंका भूतकालके समान अविद्यमान होने-पर भी उपलम्भ सम्भव है। और अविशेषणत्व तो असिद्ध है, समस्तजनोंको भोग्य होने योग्य पदार्थको पैदा करनेसे तथा द्रव्य-गुण-कर्मजन्यसे उत्पन्न हुआ इस प्रातिभज्ञानसे अखिलार्थ विशेषणत्व सम्भव है।

भूतकालीन तथा अनागत अर्थात् भविष्यकालीन अतीन्द्रियकालके समान इस प्रत्यभिज्ञानके विशेषणको ग्रहण करनेमें समर्थ ऐसे नेत्रेन्द्रियोंसे ग्रहणोपपत्ति देखी जाती है। धर्मके प्रति इस सर्वज्ञज्ञानका अग्राहकत्व साधनेमें कैसा प्रसंग विपर्यास सम्भव होगा? ।

प्रश्नादिकोंसे तथा मन्त्रतन्त्रादिकोंसे संस्कारित किया हुआ चक्षु जिसप्रकार कालसे दूरवर्ति अर्थको दृष्टिगोचर करता है उसीप्रकार द्रव्यविशेषसे संस्कृत कियागया कर्णधार चक्षु जलादिकोंसे भीतर प्राप्त अर्थको ग्रहण करता है ऐसा देखा गया है।

तथा पुण्य विशेषसे संस्कारित किया गया योगिचक्षु सूक्ष्मादि समस्त पदार्थोंको ग्रहण करनेमें समर्थ है, इस विषयमें किंचित्भी देखा हुआ पदार्थका अतिक्रम नहीं है।

यथा—स्वात्मामें जिन कारणोंसे उत्पन्न यथार्थ अर्थोंको ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्ष प्रतीत हैं तथा सब जगह वे सदैव दूसरोंमें भी मानना चाहिये।

इसप्रकारके नियममें—निशाचरप्राणियोंको अत्यन्त अवगाढ़ अंधेरामें समीपवर्तीपदार्थोंका भी अवलोकन नहीं होगा, तथा स्व आत्मामेंभी अर्थावलोकन अप्राप्य रहेगा। क्योंकि प्राण्यन्तरमें तथा स्वात्मामें अप्राप्यत्वके अंधेरामें मग्न ऐसे रूपादि उपलम्भलक्षणोंके अतिशयोंसे सम्भव होनेपर सूक्ष्मादि उपलम्भलक्षण अतिशयभी न्यायप्राप्त हैं। इसप्रकार जात्यन्तरत्व निशाचरादिकोंमें, सर्वज्ञलक्षणमें तथा प्राण्यन्तरमें समान है। अर्थात् सर्वज्ञज्ञान इन्द्रियजत्वमानकर अतीन्द्रियार्थ साक्षात्कारित्व हमने (प्रभाचन्द्राचार्यने) परमार्थतः समर्थन किया है। सर्वज्ञज्ञान तो घातिकर्मचतुष्टयका विध्वंस होनेसे प्राप्त होता है।

जो तुमने सर्वज्ञज्ञानको चक्षुरादिकोंसे पैदा होता है ऐसा कहा है वह असुन्दर है। चक्षुरादिजन्यत्वमेंभी धर्मादिकोंको ग्रहण करनेमें विरोध नहीं आता है ऐसा कहागया है।

जो ज्ञान है वह अभ्याससे पैदा होता है इसप्रकार उन्होंने कहा है वहभी अयुक्त है। अर्थात् उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्यसहित सत् ऐसा द्रव्यका लक्षण तत्वार्थ सूत्रकारने माना है। इसप्रकार समस्तार्थविषयका उपदेश अविसंवाद होनेपर ज्ञानका अखिलार्थ विषय सामान्यसे सम्भवनीय है। तज्ज्ञानवान् जो पुरुष उनका अशेषज्ञत्व होनेसे अभ्यास व्यर्थ नहीं है, उनको सामान्यसे अस्पष्टरूपसे ही आविर्भाव (प्राप्त) होनेसे तत्प्रतिबन्धक अर्थात् ज्ञानावरणका अपाय होनेपर

अशेष अर्थात् संपूर्ण पदार्थोंका विषय करनेका सामर्थ्य ज्ञानमें पैदा होजानेसे स्पष्ट-ज्ञानोत्पत्ति होती है।

अन्योन्याश्रयभी नहीं है क्योंकि—केवल अभ्यासादिकोंसे अखिलार्थको जाननेवाला स्पष्टज्ञानोत्पन्नत्वको आचार्यने नहीं माना है।

शव्दप्रभवपक्षमें भी अन्योन्याश्रयका असंगतपन है कारकपक्षमें उक्त-दोषका असम्भव है। पूर्वसर्वज्ञप्रतिपादित आगमही उत्तरसर्वज्ञका अशेषार्थ-ज्ञान है।

उत्तरसर्वज्ञज्ञानभी अन्यसर्वज्ञआगमसे सम्भव है यदि ऐसा कहोगे तो अनवस्थादोष प्राप्त होगा। अर्थात् वीजांकुरन्यायसे अनादिकालसे ही आगम तथा सर्वज्ञकी परम्परा मानी गई है।

अनुमानप्रमाणसे सर्वज्ञत्व प्रसिद्ध है इस पक्षमें भी सम्वन्ध असिद्ध है ऐसा जो मीमांसकोंने कहा है वह यथार्थ नहीं है। प्रमाणान्तरसे अर्थात् तर्क-प्रमाणसे सर्वज्ञसम्वन्ध सिद्ध है ऐसा आचार्यने माना है। अर्थात् कोईको भी सर्वज्ञत्वका अगोचरत्व सम्भव नहीं है क्योंकि सब जगह इन्द्रिय तथा अतीन्द्रिय विषयकी प्रवृत्ति प्रसिद्ध है। अन्यथा अर्थात् ऐसा नहीं मानोगे तो इस प्रस्तुत-विषयमें अनुमानप्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं होगी इसप्रकार अति प्रसंगनामका महादोष उपस्थित होगा। सर्वज्ञसिद्धिमें अनुमानज्ञान मानागया है।

जो अनुमान, आगमको अस्पष्ट कहा है वहभी अविचारपूर्वक है। सर्वथा कारणके सदृश्य कार्य नहीं होता है विलक्षण होनेपरभी अंकुरादिकोंसे वीजादिकोंकी उत्पत्ति देखी जाती है। सब जगहमें सामग्रीभेदसे कार्यभेद प्रसिद्ध है। यहांपर सर्वज्ञविषयमें अनुमान तथा आगमज्ञानादिकोंसे अभ्यास प्रति-वंधक अपायादिकोंके सामग्री सहायतासे प्राप्तकिया है। समस्तं विशेषवैशद्यको ऐसा विज्ञान प्रगट होजाता है।

यदि भावनावलसे वैशद्य मानोगे तो कामादिक उपप्लुतज्ञानके समान अशेषज्ञज्ञानकोभी यही आपत्ति आजायगी। यहभी अनुचित है, यतः अर्थात् जिस भावनावलसे वैशद्यज्ञान प्राप्त होता है उस ज्ञानका दृष्टान्त उपस्थित है। समस्त दृष्टान्त धर्मोंका सर्वज्ञके ज्ञानमें समावेश करना युक्त नहीं है। ऐसा करोगे तो सकलानुमानका विच्छेद होनेका प्रसंग आजायगा। अशेषज्ञज्ञान क्रमसे अशेषार्थको ग्रहणकरना नहीं चाहता है जिससे सर्वज्ञपक्षपर तुमारे द्वारा दिया गया दोष आजायगा। समस्त आवरणका विध्वंस होनेपर सहस्रकिरणोंके समान अर्थात्

सूर्यके सदृश्य युगपत् एकही समयमें समस्त चराचरपदार्थोंको प्रकाशित करनेका स्वभाव होनेसे उस अतीन्द्रियज्ञानके करणक्रमव्यवधान नहीं हैं।

ऐसाभी कहा है कि, युगपत्परस्पर विरुद्ध शीत, उष्ण इत्यादि अर्थोंका एकत्रज्ञानमें प्रतिभासका असम्भव है यहभी असार है। वहांपर परस्पर विरुद्धार्थोंका अभाव होनेपर अप्रतिभास माना है? या ज्ञानका सामर्थ्य माना है? अभाव तो नहीं है एक समयमें भी परस्पर विरुद्ध शीतोष्णादि पदार्थोंका सम्भव देखा जाता है। अर्थात् युगपत् सूर्यका प्रकाश तथा प्रताप अवलोकन किया गया है।

एवं इसप्रकार ज्ञानका असामर्थ्य होनेसे युगपत् वस्तुको प्रकाशित नहीं करता है ऐसा कहना ही असत्य है। परस्पर विरुद्ध अंधकार तथा प्रकाशादिकोंमें अर्थात् सांप तथा न्योला ये दोनों परस्पर विरुद्धताको प्राप्तहोते हुएभी एकत्रज्ञानमें युगपत् प्रतिभाषित होते हैं। युगपत् एकत्रज्ञानमें विरुद्धार्थोंका प्रतिभास असम्भव मानने पर, 'जो कृत्रिम होगा वही अनित्य होगा' इसप्रकारकी व्याप्ति नहीं घट सकती है। साध्य तथा साधनसे कृतकत्व और अनित्यत्वमें विरोध सम्भव होनेसे, एकत्र ज्ञानमें इनका प्रतिभास नहीं होनेपर उस ज्ञानके प्रतिनियत अर्थग्राहकत्वमें विरोध आता है। अन्धकार तथा उद्योत ये दोनों विरुद्धार्थग्राही होनेपर भी प्रतिनियतार्थग्राही हैं—ऐसा प्रतीत होता है।

औरभी दूसरी रीतिसे कहा है कि, एक क्षणमें ही अशेषार्थग्रहण होता है किन्तु द्वितीय क्षणमें तुह्मारा सर्वज्ञ अज्ञही रहेगा। यहभी उनका कहना असम्बद्ध है यदि द्वितीयक्षणमें अर्थोंका सर्वज्ञज्ञानमें अभाव कहोगे तो उनमें अज्ञत्वलक्षण नामका दोष आजायगा। जिससमय जिस धर्मविशिष्ट वस्तु उससमय सर्वज्ञज्ञानमें उसीप्रकार तदनुरूप होकर प्रकाशित होती है अन्यथा नहीं इसप्रकार ग्रहीतग्राहित्वसे अर्थात् ग्रहण कियेहुये पदार्थोंको सदैव ग्रहण करतेही रहना इसका नाम गृहीतग्राही है ऐसे सर्वज्ञज्ञानमें कैसा अप्रामाण्य पैदा हो सकता है?।

दूसरे मनुष्योंमें स्थित रागद्वेषादिकोंको साक्षात् ग्रहण करनेसे रागादिमान् हैं, ऐसा जो कहा है वहभी अयुक्त है। रागादिरूप परिणामसे रागादिमत्व तत्वकारण होजाता है। किन्तु संवेदनमात्र नहीं होता अन्यथा मद्यादिकभी इस प्रकारके रस हैं, कि ऐसे वाक्योंसे प्रतिवोधित होकर श्रोत्रीय द्वारा जव जानाजायगा तव सर्वज्ञज्ञानमें भी मद्यादिरसास्वादनदोष आजायेंगे। मद्यादिज्ञान अरसनेन्द्रियसे पैदा होनेसे उक्त दोष नहीं आयेंगे। यदि ऐसा

कहोगे तो सर्वज्ञज्ञानमें भी ये दोष नहीं आनेसे समान होगये। सर्वज्ञज्ञान इन्द्रियोंसे नहीं पैदा होता है ऐसा माना गया है।

कान्ता अर्थात् स्त्रीका आलिंगन, सेवन आदि अभिलाषवुद्धिसे इन्द्रियों-का उद्रेक होनेलायक कारण उपस्थित होनेसे यह रागादिमत्व प्रसिद्ध है ऐसा संसारमें देखाजाता है। किन्तु प्रक्षीणमोही अर्थात् जिनका मोहनीयकर्मका नाश हुआ है ऐसे सर्वज्ञ अर्हंत भगवान्में रागादिमत्व दोष नहीं हैं अतएव इनमें रागादिमत्वकी आशंकाभी कैसी होसकती है ? ।

उन्होंने फिरभी ऐसा कहा है कि, अतीतादिकका अर्थात् भूतकाली-नार्थका ग्रहण कैसा होसकता है। उस स्वरूपका ही असम्भव है, यहभी कहना असार है। कारण—अतीतादिक अर्थका अतीतादिकालके सम्वन्धित्वसे असत्व है या सर्वज्ञज्ञानके कालसम्वन्धित्वसे असत्व है ? । आद्यपक्ष ठीक नहीं है, जिसप्रकार वर्तमान कालसम्वन्धित्वसे वर्तमान कालीनार्थको जाना जाता है, उसी प्रकार भूतकाल सम्बन्धित्वसे भूतकालीनार्थकाभी सत्वसम्भव प्रसिद्ध है। किन्तु वर्तमानकालके सम्वन्धित्वसे भूतकालीनार्थका असत्वपन आचार्य प्रभृति-कोभी मान्य है अर्थात् इन दोनोंमें परस्पर जमीनास्मानका भेद है। यह काल-सम्वन्धित्वसे असत्व होनेपर स्वकालसम्वन्धित्वसे अतीतादिक असत्व नहीं हैं। तथा वर्तमान कालसम्बन्धिभी अतीतादि (भूतकालादि) कालसम्वन्धित्वसे असत्व होनेसे अतीतकालको भी असत्वप्रसंग आजायगा तो समस्त वस्तुका अस्तित्वही शून्य होजायगा।

भूतकालीन सत्वका ग्रहण होनेसे, वर्तमान कालीन सत्वका प्रसंग नहीं आता है। अतीतकालके नियतसत्वस्वरूपको ग्रहण करनेसे उसका ग्रहण होजाता है। अतीतादिकोंसे वर्तमान ज्ञानकालमें असानिध्य होनेसे कैसा प्रतिभास होगा, यदि सानिध्य कहोगे तो वर्तमानत्वका प्रसंग आयगा। प्रसिद्ध वर्तमान समान मन्त्रादिकोंसे संस्कारित कियेगये नेत्रज्ञानसे तथा व्याप्तिज्ञानसे हमने (प्रभाचन्द्राचार्यने) मीमांसकको प्रथमही उत्तर दिया है।

कहाजाता है कि, यदि भूतकालमें तथा वर्तमानकालमें क्वचित् अर्थात् अर्थके विषयमें निखिलदर्शी (सर्वज्ञ) का विज्ञान समाप्त होजायगा तो उस समयमात्रकी अनन्तता कहां है ? यदि समाप्त नहीं होगा, तो अनेक हजारोंयुग वीतजाने परभी समस्त संसारको साक्षात्कार नहीं करसकते हैं। यहभी तुह्मारा प्रलापमात्र है। क्योंकि—यह विश्रान्तत्व क्या चीज है ? क्या किंचित् जानकर तथा बिलकुल न जानकर, समस्त देशवर्ति एवं अखिलकाल सम्वन्धि

विषयोंको जाननेमें सामर्थ्य नहीं होनेसे अथवा कस्मिश्चित् अर्थात् केचित् वस्तुमें अवस्थान होनेसे या क्वचित् वस्तु उत्पन्न होकर विनाश होनेसे इसका अवस्थान माना जायगा क्या ? ।

आद्य विकल्प युक्त नहीं है उसको हमने नहीं माना है। अर्थात् सर्वज्ञका ज्ञान क्रमसे अर्थको नहीं जानकर युगपत् समस्तार्थोंको प्रकाशित करेगा ऐसा कहा गया है। दूसरा विकल्पभी अयुक्त होनेसे हमने नहीं ग्रहण किया। सर्वज्ञका ज्ञान अनेक देशस्थित तथा कालस्थित विषयोंको प्राप्तकर नहीं जानता है ऐसा कोईने कहा है किन्तु ज्ञानचक्षु अप्राप्यकारी होनेसे गमनाभाव है। जिसप्रकार अनादि अनन्तरूपसे स्थित अर्थको उसीप्रकार उसको प्राप्त करेगा। तीसरा विकल्पभी अयुक्त है, क्वचित् विषयमें आत्म स्वभावतासे उत्पन्न हुआ ज्ञानका विनाश असम्भव है। जैसे उपाधिजन्य रूपकाही विनाश होजाता है वैसे स्फटिकमणिको रंगी-बेरंगी शीशीमें रखनेसे लाल, हरा, नीला, रक्त, श्याम इत्यादि अनेक रूप दीखने लगता है किन्तु उस मणिका निजस्वरूप नहीं होनेसे औपाधिक स्वभावका नाश न्यायसंगत होगा। इसप्रकारके वादी, सर्वज्ञज्ञान क्वचित् समाप्तको प्राप्त होता है इसलिये उनमें सर्वज्ञत्व नहीं है। इसप्रकार साध्य साधनमें समग्रतासे व्याप्तिकी सम्भावना कैसी होसकेगी अतः सामान्यसे व्याप्ति ज्ञानके उत्पत्तिमें अनादिअनन्त सामान्यकी प्राप्ति मानोगे तो उक्त दोषकाही प्रसंग आजायगा।

कहा है कि, सर्वज्ञज्ञान कालमेंभी सर्वज्ञ असर्वज्ञके द्वारा कैसा जाना जासकता है ? यहभी कहना फालतुक है। अर्थका स्वरूप नहीं जाननेसे ज्ञानकोभी अनभिज्ञता प्राप्त होगी। ऐसा माननेसे, जैमिन्यादिकोंमें समस्त वेदार्थपरिज्ञानका निश्चय कैसा सम्भवनीय होगा। वह सर्वज्ञ तुह्मारे समान किंचितज्ञही है, वेदार्थका निश्चय नहीं होनेसे कैसा असर्वज्ञसे प्रतिपादित व्याख्यानका आश्रय किया जायगा और होम, हवनादिकोंमें उसकी अनुष्ठानकी प्रवृत्ति होगी तो व्याकरण, न्याय, साहित्य, धर्म वगैरह समस्त शास्त्रका परिज्ञान नहीं होनेसे, व्यवहारीलोगोंको, उसके अर्थज्ञताका कैसा निश्चय होगा। जिससे व्यवहारकी प्रवृत्ति होजायगी।

सुनिश्चितासम्भवद्बाधक प्रमाणत्वसे अर्थात् सुनिश्चित है कि बाधक प्रमाणका असम्भव जिसमें ऐसे प्रमाणसे अर्थात् आत्मामें सुखादिकोंके समान अतीन्द्रियज्ञानसे समस्तार्थको जाननेवाले अर्हंत भगवान्ही यहांपर निर्दोष मानेगये हैं। अतः उनमें सत्वकी सिद्धि प्रसिद्ध है यह असिद्ध नहीं है।

तथापि सर्वविद्का (सर्वज्ञका) अभाव प्रत्यक्ष प्रमाणगम्य है या प्रमाणान्तरसे गम्य है ?। प्रत्यक्षसे तो नहीं है, सर्वज्ञ—सबजगह, सदैव, सबसर्वज्ञ नहीं होसकते हैं। इसप्रकारकी प्रवृत्ति है या क्वचित्, कदाचित्की। प्रथम पक्षमें— सर्वज्ञका अभाव नहीं है, सर्वज्ञके ज्ञानसमान उनमें अशेषज्ञत्व होनेसे सकलदेश तथा सकलकालके आश्रित पुरुषोंके सभामें सर्वज्ञको साक्षात्किये जाते हैं। द्वितीय पक्षमेंभी सर्वथा सर्वज्ञकी अभाव सिद्धि नहीं होसकती है।

सर्वज्ञके अभावसाधक प्रत्यक्षप्रमाण नहीं है, किन्तु सर्वज्ञके सद्भावसाधक प्रत्यक्षप्रमाण विद्यमान है। अग्न्यादिकोंके तथा वृक्षत्वादिकोंके उत्पत्तिमें धूमादिकोंकी तथा व्याप्यभूत शिशपात्वकोंकी उत्पत्ति प्रसिद्ध है। तथा अकारणमें—अकार्यकी उत्पत्ति नहीं होती यदि ऐसा होने लगेगा तो घटोत्पत्तिमें पटोत्पत्ति (वस्त्रोत्पत्ति) भी होने लगेगी। ऐसा होनेसे अतिप्रसंग नामका दोष आजायगा। इसप्रकार घटादिकोंका अभाव असिद्ध नहीं है एक ज्ञानके संसर्गसे पदार्थान्तर अर्थात् इस भूतलपर साक्षात् घट नहीं होनेपर अन्य भूतलपर घटका अस्तित्व है। इस न्यायसे क्वचित्स्थानमें घटका अभाव तथा सद्भाव सिद्ध है। यहांपर सर्वज्ञके विषयमें यह न्याय नहीं है। अर्थात् घटसंसर्गी प्रदेशका अभाव होनेसे सबजगह घटका अभाव नहीं है विरोध आता है। अतः प्रत्यक्षप्रमाणसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नहीं होसकता है।

अनुमानसे भी नहीं—वादविवादमें उपस्थित पुरुष सर्वज्ञ नहीं होसकते हैं। उनमें वक्तृत्व होनेसे अर्थात् इधर-उधर भटकनेवाले रथ्यापुरुषके समान सर्वज्ञ हैं या प्रमाणान्तरसे हैं, अथवा उसके विपरीत हैं, या वक्तृत्वमात्र हैं ?। प्रथमपक्षमें हेतु विरुद्ध है, प्रमाणान्तर संवादके सूक्ष्मादि (अन्तरितदूरवर्ति) अर्थ वक्तृत्वके अशेषज्ञमें अस्तित्व होनेसे। द्वितीयपक्षमें तो हेतु सिद्धसाधन है अर्थात् उस जातीका वक्ता असर्वज्ञको आचार्यने भी माना है। वक्तृत्वमात्र हेतु साध्यविपरीत सर्वज्ञके अभाव प्रदर्शनमें प्रयास करनेसे परस्पर अनवस्थाका परिहारस्थिति लक्षणका विरोध होगा। यदि सर्वज्ञमें वक्तृत्वका अप्राप्यत्व कहोगे तो तुह्मारा कहनाही मिथ्या होगा सर्वसम्बन्धि अनुपलम्भकी असिद्धि प्रकृत सर्वज्ञसे या सर्वज्ञान्तरसे होगी। सर्वज्ञका कस्यचित् अभाव होनेसे सर्वसम्बन्धिकी अनुपलम्भता सिद्ध होगी ऐसा कहोगे तो असंगत होगा। प्रमाणान्तरसे प्रकृतानुमानकी सिद्धि होगी कहोगे तो वक्तृत्वानुमानका व्यर्थपन सिद्ध होजायगा। अतः यहां चक्रकनामका दोष आता है जैसे वक्तृत्वानुमानसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध होगा तथा सर्वज्ञका अभाव सिद्ध होनेसे सर्वज्ञसाधनकी व्यावृत्ति सिद्ध होगी

एवं सर्वज्ञसाधनकी व्यावृत्ति सिद्ध होनेपर अनुमानकी व्यावृत्ति सिद्ध होगी। अर्थात् स्वसंवन्धिके अनुपलम्भसे सर्वज्ञके वक्तृत्वका निश्चय सिद्ध नहीं होसकता है इसलिये इस विपरीत कथनसे अनेकान्त दोष आजायगा।

समस्तसाधनमें इस दोषका समानत्व नहीं होसकता यदि ऐसा कहोगे तो निखिल अनुमानका विच्छेद होजायगा। अर्थात् जहां अग्नि नहीं है वहां धुवांभी नहीं है इसप्रकार व्याप्तिकी सिद्धि तर्कप्रमाणसे होसकती है। वक्तृत्व असर्वज्ञत्व इन दोनोंमें कार्यकारणभाव नहीं है क्योंकि वचन जो है वह असर्वज्ञका कार्य नहीं होसकता यदि ऐसा होने लगेगा तो सर्वज्ञ धर्मानुविधानका अभाव होजायगा। जो-जो कार्य है वह-वह सर्वज्ञधर्मानुविधायी प्रसिद्ध है जैसे अग्न्यादिक सामग्रीमें प्राप्त सुगंधयुक्तभी गंध आदि द्रव्य हैं। वे अग्न्यादिसामग्रीके अनुविधायी होनेसे धुवांके समान सुगंधको प्रगट करते हैं। वैसे असर्वज्ञत्व--सर्वज्ञत्वसे भिन्न होनेसे किंचिज्ञत्व माना गया है। अतः किंचिज्ञमें वचनका तरतमभाव नहीं होनेसे उनके वचनमें प्रकर्षत्व नहीं देखा जाता है। अर्थात् सर्वज्ञसे अत्यन्त दूरवर्ति अल्पज्ञमें तथा कृमिआदिकोंमें इन दोनोंमें वचनप्रवृत्तिका प्रकर्ष नहीं देखा गया है। यदि प्रसज्यका-प्रतिषेध करके सर्वज्ञत्वका अभाव प्रदर्शक, असर्वज्ञत्वका वचनही तत्कार्य है ऐसा मानोगे तो ज्ञानरहित ऐसे मुर्देके शरीरादिकोंमें भी वचनोपलम्भका प्रसंग आजायगा। और ज्ञानातिशयमानमें तथा समस्त शास्त्रव्याख्यातादिकोंमें भी वचनातिशय प्राप्त नहीं होगा। ऐसा कदापि नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञानप्रकर्षका तरतमभाव देखा जाता है। अतः ज्ञानका जो अतिशय है वह उसका कार्य मानागया है। ज्ञानका सातिशयत्व बुद्धिमान् कारीगरके कारणवश राजमहल वगैरह निर्माण कार्यमें साक्षात् अवलोकन किया जाता है। अतएव अनुमानप्रमाणसे सर्वज्ञ की अभाव सिद्धि नहीं हो सकती है।

तथा आगमसेभी नहीं है---वह आगम सर्वज्ञप्रतिपादित है या असर्वज्ञ कथित है अथवा अपौरुषेय है जिससे सर्वज्ञ अभाव साधक होसके ? वहां यदि आगमप्रणेता कहोगे तो सर्वसकलज्ञविकलत्व अर्थात् अल्पज्ञ होनेसे यथार्थ वस्तुका विवेचन नहीं होनेपर कल्पितत्वनामका दोष आयगा। किन्तु विद्यमान प्रकृतार्थ उचित नहीं है अर्थात् सर्वज्ञ अभाव लक्षण अर्थमें यह उपयोगी नहीं होसकता है। तथा प्रतिपद्यमानको ही अशेषज्ञत्व आजायगा, यदि प्रतिपादक नहीं कहोगे तो रथ्यापुरुष अर्थात् इतस्ततः घूमनेवाले मनुष्यके प्रतिपादित आगमके समान होनेसे, सर्वज्ञके अभावमें इसका वचन प्रमाण नहीं माना

जायगा। अनभिज्ञ प्रणेता नहीं होसकता, क्योंकि रथ्यापुरुषप्रणीत आगमके समान मिथ्या होजायगा। द्वितीय विकल्पमेंभी ऐसाही अतिप्रसंग नामका दोष आजायगा।

अपौरुषेय आगमने जैमिन्यादिकोंसे प्रतिपादित सवजगह, सदैव सर्वज्ञका अभाव बतलाया है या मीमांसक तथा नैयायिकादिकोंसे सहित होकर उन्होंने प्रतिपादन किया है ?। तथा जो विश्वको नहीं जानता है वही उसका वेत्ता (निर्माता) होजाता है इस पुरुषका कथन हम आगे करेंगे। क्या इस वेद-वाक्यसेही सर्वज्ञका प्रतिपादन करतेहो या कर्मविशेष (यागलक्षण) से उनकी स्तुति करते हो इसप्रकार दीपकसे प्रकाशित कियेगये घटादिकोंमें कथंचित्भी विप्रतिपत्ति नहीं आसकती है। क्या यह घड़ा है अथवा वस्त्र है ? इसप्रकार श्रुतिवाक्यके स्वरूपमें अप्रामाण्य नहीं है। अविसंवादही कार्यमें, स्वरूपमें तथा अर्थमें प्रमाण है। जहां प्रमाणसे स्वीकार किये गये वचनादिकोंमें अविसंवाद होगा वही प्रमाण माना जायगा। अर्थात् सर्वज्ञका अभावप्रदर्शक कोईभी वेदवाक्य नहीं है, किन्तु सर्वज्ञका सद्भावदर्शक श्रुतिवाक्य प्रसिद्ध है। इसलिये आगमसे भी सर्वज्ञका अभाव, सिद्ध नहीं हो सकता है।

उपमानसे भी नहीं—उपमान उपमेय इन दोनोंमें प्रत्यक्षत्व होनेसे इनमें सादृश्यता देखी जाती है। यहांपर—वर्तमानसादृश्य उपमानभूत अशेष अर्थात् समस्त पुरुष प्रत्यक्षत्वके समानही, उपमेयभूत समस्त अन्यदेश तथा कालस्थित पुरुष प्रत्यक्षत्वही माना गया है। इसलिये सर्वज्ञसिद्धिका प्रसंग ही इन उपमान तथा उपमेयप्रमाणोंसे स्वयमेव प्रसिद्ध होगया है। अतः समस्त अर्थ प्रत्यक्ष जानेविना अशेषपुरुषका साक्षात्कारित्व करनाही असम्भव होगा अतएव सर्वज्ञ अन्यथानुपपत्तिसे सिद्ध है।

अर्थापत्तिसे भी सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नहीं है,—सर्वज्ञ अभावविना अनुत्पन्नमान ऐसे प्रमाणषट्कोंके असम्भव होनेसे। वेदप्रामाण्यका अस्तित्व गुणवान् पुरुषप्रणीत होनेसे उसका प्रमाण माना गया है। तथा अपौरुषेय आगमका विस्तारसे हम (आचार्यप्रभाचन्द्रप्रभृति) आगे निराकरण करेंगे। अर्थापत्ति यह अनुमानसे अन्य प्रमाण नहीं है, इसकाभी आगे लक्षण कहेंगे। तदनुसार यहां-परभी सपक्षमें—अन्वयादिविचारोंमें अनवस्था, इतरेतर आश्रयलक्षणयुक्तदोपान्त-रका निराकरण किया गया है।

अभावप्रमाणसे भी सर्वज्ञत्वका अभाव सिद्ध नहीं होसकता है। अर्थात् अभावही असिद्ध है।

प्रत्यक्षादिकोंकी उत्पत्ति नहीं है क्योंकि प्रमाणका अभाव होनेसे। इन सबका निराकरण प्रथमही विस्तारसे किया है। यहां अतिप्रसंगनामके दोषके वजहसे नहीं करेंगे।

अर्थात् अनुमानप्रमाणमें अभावप्रमाणका सद्भाव नहीं है। अर्थतः प्रमाणपंचकका घटके अदृशरूपमें प्रवेश नहीं होता। इसलिये वस्तुकी सत्ता जाननेके लिये वहां अभावप्रमाण माना गया है। ऐसा मीमांसकोंने कथन किया है। तुह्मारा अभावप्रमाण क्या है?

वस्तुसद्भावको ग्रहणकर तथा प्रतियोगीका स्मरणकर एवं इन्द्रियोंकी अनपेक्षासे नास्तिकस्वरूपी मानस प्रत्यक्ष पैदा करेगा। अशेषज्ञ नहीं है क्वचित्, कदाचित्, केनचित् प्रतिपन्न अर्थात्—कोई, कोई समयमें, किसीको प्राप्त जिससे अशेषज्ञका स्मरणकर निषेध किया जायगा। सब जगह हमेशा अशेषज्ञका निषेध करना विरोध है। निषेध्य तथा निषेध्यआधारकी सम्भावना नहीं होनेसे किसका निषेध किया जायगा। इसलिये अतिप्रसंगनामका दोष आजायगा। अर्थात् भूतलके अभावसे घटविषयमें घटका निषेध नहीं होता। 'वन्ध्यापुत्रवत्' अर्थात् वांझस्त्रीको पुत्र नहीं होता इसीप्रकार अभावप्रमाणकी उत्पत्ति, स्वरूप तथा विषय सम्भव नहीं है। पूर्वमें ही हमने अत्यन्त विस्तारसे प्रतिपादन किया है, अब पुनर्वाच्यिदोषके वजहसे अतिप्रसंग आयगा। अतः अभावप्रमाणसे भी सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नहीं हुआ। वही सिद्ध है कि, जिसमें सुनिश्चित है, बाधकप्रमाणका असम्भव ऐसे प्रमाणसे सर्वज्ञत्व सिद्ध किया है। इसप्रकार सर्वज्ञ सद्भावमें प्रमाणोपन्यासके विस्तारसे सर्वज्ञत्वकी सिद्धि कीगई है। अतः अतिप्रसंगनामके दोष उपस्थित होनेसे इस प्रकरणको स्थगित कियाजाता है।

अशेषवेदी अर्थात् सर्वज्ञ आवरणयुक्त नहीं हैं क्योंकि अनादिमुक्त होनेसे, जो आवरणयुक्त हैं वे अनादिमुक्त नहीं हैं जैसे—स्थम्भादि। इसप्रकारका कहना अयुक्त है अर्थात् अनादि मुक्तत्वकी असिद्धि है। तथापि तुह्मारा ईश्वर अनादिमुक्त नहीं है, ईश्वर मुक्तव्यपदेश संज्ञाको नहीं प्राप्त होते बंधरहित होनेसे। बंधकी अपेक्षासे ही मुक्तव्यपदेश सम्भव है किन्तु बंधका अभाव होनेसे ईश्वरका अभाव होगया, आकाशके समान बेकार है।

जयंति का निषेध—

सन् १९५० के जैनमित्रमें आदेश दिया है

प्रमेयकमलमार्तण्डके प्रथमाध्यायमें कहा है कि—

तथाहि—मा अन्तरङ्गबहिरङ्गानन्तज्ञानप्राप्ति हार्यादिश्रीः, अण्यते शब्द्यते येनार्थोऽसावाणः शब्दः, माचाणश्च माणौ, प्रकृष्टौ महेश्वराद्यसम्भविनौ माणौ यस्याऽसौ प्रमाणो भगवान् सर्वज्ञो दृष्टेष्टाऽविरुद्धवाक् च, तस्मादुक्तप्रकारार्थसंसिद्धिर्भवति। तदभासात्तु महेश्वरादेर्विपर्ययस्तत्संसिद्धयभाव। इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म 'सामग्रीविशेषविश्लेषिताऽखिलावरणमतीन्द्रियम्' इत्याद्यसाधारणस्वरूपं प्रमाणस्य। किंविशिष्टम्? सिद्धं वक्ष्यमाणप्रमाणप्रसिद्धम्, तद्विपरीतं तु तदाभासस्य; तच्चाऽल्पं संक्षिप्तं यथा भवति तथा, लघीयसः प्रतिवक्ष्ये तयोर्लक्ष्मेति। शास्त्रारम्भे चाऽपरिमितगुणोदधेर्भगवतो गुणलवव्यावर्णनमेव वाक् स्तुतिरित्यलमतिप्रसङ्गेन ॥

अर्थः—तथापि 'मा' शव्दका विस्तृत अर्थ कियाजाता है अर्थात् अन्तरंग लक्ष्मी—अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य, अनन्त चतुष्टय और बहिरंग लक्ष्मी—समवशरण, प्रातिहार्यादि—१ अशोकवृक्ष, २ सिंहासन, ३ छत्रत्रय, ४ भामण्डल, ५ दिव्यध्वनि, ६ पुष्पवृष्टि, ७ चौसंष्टचमर, ८ देवदुंदुभि, तथा बारासभा इत्यादिकोंसे युक्त श्री अर्थात् लक्ष्मी ऐसा अर्थ होता है। अण्यते अर्थात् गंभीर, सर्वांगमयसे निकलनेवाले शव्द अर्थतः दिव्यध्वनि जिससे बारासभा अपनी-अपनी भाषामें समझने योग्य द्विव्योपदेश-प्रकृष्ट=सातिशय उत्कृष्ट, महेश्वरादिकोंमें असम्भव अर्थात् बहिरंगलक्ष्मी एवं अंतरंगलक्ष्मी अनंत चतुष्टय, व बारासभा समवशरणादिरहित अवस्था। किन्तु जिनमें ये समस्त गुणविद्यमान हैं ऐसे प्रमाणभूत भगवान् सर्वज्ञ प्रत्यक्ष, तथा अनुमानसे अविरुद्ध वचन होनेसे निर्दोष कहलाते हैं। इसप्रकार वाधारहित स्याद्वाद सत्यलांछन स्यात्कार सहित अर्थकी संसिद्धि होती है। किन्तु सर्वज्ञके आभासमय महेश्वरादिकोंमें विपरीत अवस्था होनेसे यथार्थवस्तुका प्रतिपादन नहीं होता; इसलिये उनका वचन प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रमाणसे वाधित होनेसे अर्थकी सिद्धि नहीं होसकती। इसप्रकार प्रमाण तथा प्रमाणाभासका लक्षण

कहा गया है। सामग्रीविशेषसे समस्त दर्शनावरण, ज्ञानावरण कर्मका सर्वथा विध्वंस होनेपर अतीन्द्रियज्ञान विशुद्ध आत्मामें पैदा होता है। इस न्यायसे असाधारण स्वरूप प्रमाणका लक्षण सिद्ध हुआ। इस प्रमाणमें क्या वैशिष्ट्य है? ऐसा प्रश्न उपस्थित होनेपर 'कश्चित् पुरुष' अर्थात् सर्वज्ञ हैं ऐसा प्रमाण प्रसिद्ध होनेपर चिदात्मा अर्हंत भगवान्ही प्रमाण हैं। सर्वज्ञस्वरूपविपरीत महेश्वरादिक प्रमाणाभास सिद्ध होगये हैं। प्रमाणका वर्णन अल्प अर्थात् अत्यन्त संक्षेपसे जैसाथा वैसेही अल्पबुद्धिधारकशिष्यप्रति प्रमाण तथा प्रमाणाभासका लक्षण कहा गया। शास्त्रके आरम्भमें अन्य व्यक्तिमें असम्भव ऐसे मर्यादातीतगुणके समुद्र भगवान् प्रसिद्ध त्रैलोक्यनाथ तीर्थंकर प्रभृति देवाधिदेव जिनेन्द्र प्रभु साक्षात् परमगुरु हैं। इसप्रकार वचनसे नमोऽस्तु कर अल्पबुद्धयनुसार गुणका अंशवर्णन करते हुये शास्त्रके प्रारम्भमें प्रभाचन्द्राचार्यने वाचासे स्तुति की है। अतः जन्म, जरा, मरणसे रहित प्रमाणभूत सर्वज्ञ अर्हंतभगवान् महावीरतीर्थंकर प्रभुही जयंतिके विभूति (पात्र) हैं। अन्यथा आधुनिक साधु जन्म, जरा तथा मरणके चक्ररूपी संसारसमुद्रमें डूबनेवाले होनेसे उनकी जयंति करना ठीक नहीं है। शब्दशः अर्थ होता है कि—जय और अंति अर्थात् जो आत्मा पंचपरावर्तन चतुर्गतिरूप संसारसे रहित हैं ऐसे विशुद्ध निर्दोष पवित्रात्माकी अंतिममें जयंति की जाती है। किन्तु आजकल भगवान् महावीरके अनुसरण करके रथ्यापुरुषके समान कोईकी भी अज्ञानतावश जनता जयंति कर रही है यह महदाश्चर्य? इस जमानेमें जयंति रूपी नदीयोंको बहुत बाढ़ आगई है।

तथा षट्खण्डागमजीवस्थान प्रथम धवलग्रन्थमें भी प्रमाणयुक्त अरहंत ही मंगलमय होनेसे जयंतिके पात्र हैं। यथा—

णमो 'अरिहंताणं' अरिहननादरिहन्ता। नरकतिर्यक्कुमानुष्यप्रेतावासगताशेषदुःखप्राप्तिनिमित्तत्वादरिर्मोहः। तथा च शेषकर्मव्यापारो वैफल्यमुपेयादिति चेन्न, शेषकर्मणां मोहतन्त्रत्वात्। न हि मोहमन्तरेण शेषकर्माणि स्वकार्यनिष्पत्तौ व्यापृतान्युपलभ्यन्ते येन तेषां स्वातन्त्र्यं जायेत। मोहे विनष्टेऽपि कियन्तमपि कालं शेषकर्मणां सत्त्वोपलम्भान्न तेषां तत्तन्त्रत्वमिति चेन्न, विनष्टेऽरौ जन्ममरणप्रबन्धलक्षणसंसारोत्पादनसामर्थ्यमन्तरेण तत्सत्त्वस्यासत्त्वसमानत्वात् केवलज्ञानाद्यशेषात्मगुणाविर्भावप्रतिबन्धनप्रत्ययसमर्थत्वाच्च। तस्या-

रेर्हननादरिहन्ता। रजोहननाद्वा अरिहन्ता। ज्ञानदृगावरणानि रजांसीव बहिरङ्गान्तरङ्गाशेषत्रिकालगोचरानन्तार्थव्यञ्जनपरिणामात्मकवस्तुविषयबोधानुभवप्रतिबन्धकत्वाद्रजांसि। मोहोऽपिरजः भस्मरजसा पूरिताननानामिव भूयो मोहावरुद्धात्मनां जिह्मभावोपलम्भात्। किमिति त्रितयस्यैव विनाश उपदिश्यत इति चेन्न, एतद्विनाशस्य शेषकर्मविनाशाविनाभावित्वात्। तेषां हननादरिहन्ता।

रहस्याभावाद्वा अरिहन्ता। रहस्यमन्तरायः, तस्य शेषघातित्रितयविनाशाविनाभाविनो भ्रष्टबीजवन्निःशक्तीकृताघातिकर्मणो हननादरिहन्ता।

अतिशयपूजार्हत्वाद्वार्हन्तः। स्वर्गावतरणजन्माभिषेकपरिनिष्क्रमणकेवलज्ञानोत्पत्तिपरिनिर्वाणेषु देवकृतानां पूजानां देवासुरमानवप्राप्तपूजाभ्योऽधिकत्वादतिशयानामर्हत्वाद्योग्यत्वादर्हन्तः।

आविर्भूतानन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यविरतिक्षायिकसम्यक्त्वदानलाभभोगोपभोगाद्यनन्तगुणत्वादिहैवात्मसात्कृतसिद्धस्वरूपाः स्फटिकमणिमहीधरगर्भोद्भूतादित्यबिम्बवद्दीप्यमानाः स्वशरीरपरिमाणा अपि ज्ञानेन व्याप्तविश्वरूपाः स्वस्थिताशेषप्रमेयत्वतः प्राप्तविश्वरूपाः निर्गताशेषामयत्वतो निरामयाः विगताशेषपापाञ्जनपुञ्जत्वेन निरञ्जनाः दोषकलातीतत्वतो निष्कलाः। तेभ्योऽर्हद्भ्यो नमः, इति।

अर्थः—अरिहंतोंको नमस्कार हो। अरि अर्थात् शत्रुओंके 'हननात्' अर्थात् नाशकरनेसे 'अरिहंत' यह संज्ञा प्राप्त होती है। नारक, तिर्यंच, कुमानुष तथा प्रेत इन पर्यायोंमें निवासकरनेसे होनेवाले समस्त दुःखोंकी प्राप्तिका निमित्तकारण होनेसे मोहको 'अरि' अर्थात् शत्रु कहा है।

शंका—केवल मोहकोही अरि मानलेनेपर शेषकर्मोंका व्यापार निष्फल होजाता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि बाकीके समस्त कर्म मोहकेही आधीन हैं। मोहके बिना शेषकर्म अपने-अपने कार्यकी उत्पत्तिमें व्यापार करते हुए नहीं पाये जाते हैं। जिससे कि वे भी अपने कार्यमें स्वतन्त्र

समझे जायं। इसलिये सच्चा अरि मोहही है, और शेष कर्म उसके आधीन हैं।

शंका—मोहके नष्ट होजानेपरभी कितनेही कालतक शेष कर्मोंकी सत्ता रहती है, इसलिये उनको मोहके आधीन मानना उचित नहीं है?

समाधान—ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, मोहरूप अरिके नष्ट होजाने पर जन्म, मरणकी परंपरारूप संसारके उत्पादनकी सामर्थ्य शेषकर्मोंमें नहीं रहनेसे उन कर्मोंका सत्व असत्वके समान होजाता है।

तथा केवलज्ञानादि संपूर्ण आत्मगुणोंके आविर्भावके रोकनेमें समर्थ कारण होनेसे भी मोह प्रधानशत्रु है, और उस शत्रुके नाश करनेसे 'अरिहंत' यह संज्ञा प्राप्त होती है। ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्म धूलीकी तरह, बाह्य और अन्तरंग समस्त त्रिकालके विषयभूत अनन्त अर्थपर्याय एवं व्यंजनपर्यायस्वरूप वस्तुओंको विषय करनेवाले बोध और अनुभवके प्रतिबन्धक होनेसे रज कहलाते हैं। मोहको भी रज कहते हैं, क्योंकि, जिसप्रकार जिनका मुख भस्मसे व्याप्त होता है उनमें जिह्मभाव अर्थात् कार्यकी मन्दता देखीजाती है, उसीप्रकार मोहसे जिनका आत्मा व्याप्त होरहा है उनके भी जिह्मभाव देखाजाता है, अर्थात् उनकी स्वानुभूतिमें कालुष्य, मन्दता या कुटिलता पाई जाती है।

शंका—यहांपर केवल तीनों, अर्थात् मोहनीय, ज्ञानावरण तथा दर्शनावरणकर्मके ही विनाशका उपदेश क्यों दिया गया है?

समाधान—ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि शेष सभी कर्मोंका विनाश इन तीन कर्मोंके विनाशका अविनाभावी है। अर्थात् इन तीन कर्मोंके नाश होजाने पर शेष कर्मोंका नाश अवश्यंभावी है। इसप्रकार उनका नाश करनेसे अरिहंत संज्ञा प्राप्त होती है।

अथवा 'रहस्य' के अभावसे भी अरिहंत संज्ञा प्राप्त होती है। रहस्य अन्तराय कर्मको कहते हैं। अन्तराय कर्मका नाश शेष तीन घातिया कर्मोंके नाशका अविनाभावी है, तथा अन्तराय कर्मके नाश होनेपर अघातिया कर्म भ्रष्ट-वीजके समान निःशक्त होजाते हैं। ऐसे अन्तराय कर्मके नाशसे अरिहंत संज्ञा प्राप्त होती है।

अथवा, सातिशय पूजाके योग्य होनेसे अर्हन् संज्ञा प्राप्त होती है, क्योंकि, गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवल और निर्वाण इन पांचों कल्याणकोंमें देवोंद्वारा की गई पूजाएं देव, असुर तथा मनुष्योंको प्राप्त पूजाओंसे अधिक अर्थात् महान् हैं, इसलिये इन अतिशयोंके योग्य होनेसे अर्हन् संज्ञा समझना चाहिये।

अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, अनन्तविरति, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, तथा क्षायिकउपभोग आदि प्रगट हुए अनन्तगुणस्वरूप होनेसे जिन्होंने यहींपर सिद्धस्वरूप प्राप्त करलिया है, स्फटिकमणिके पर्वतके मध्यसे निकलते हुए सूर्यबिंवके समान जो दैदीप्यमान होरहे हैं, अपने शरीरप्रमाण होनेपर भी जिन्होंने अपने ज्ञानके द्वारा संपूर्ण विश्वको व्याप्त करलिया है, अपने (ज्ञान) में ही संपूर्ण प्रमेय रहनेके कारण (प्रतिभासित होनेसे) जो विश्वरूपताको प्राप्त होगये हैं, संपूर्ण आमय अर्थात् रोगोंके दूर होजानेके कारण जो निरामय हैं, संपूर्ण पापरूपी अंजनके समूहके नष्ट होजानेसे जो निरंजन हैं, और दोषोंकी कलाएं अर्थात् संपूर्ण दोषोंसे रहित होनेके कारण जो निष्कल हैं, ऐसे उन अरिहंतोंको नमस्कार हो।

इसप्रकार—भगवान् वर्धमानका तीर्थ चलरहा है तथा महापद्मतीर्थंकर तक चलेगा तदनुसार वीरप्रभुकी ही जयंति करना आर्षोक्त है, अन्योंकी करना आर्षविरुद्ध होनेसे नहीं करना चाहिये। इस शास्त्रीय विषयपर पाठक तथा ग्राहक विचार करेंगे। इति शुभं भवतु।

॥ द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥



॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

(अ)

अवसरपठिता वाणी, गुणगणरहिताऽपि शोभते पुंसाम् ।
रतिसमये रमणीनां, भूषाहानिस्तु भूषणं भवति ॥ १ ॥

गुणोंके समुदायसे रहितभी मौकेपर कही हुई बात पुरुषोंको शोभा देती है।

जिसप्रकार संभोगके समय स्त्रियोंका भूषणहीन होनाही भूषण है।

असन्तुष्टा द्विजा नष्टा, संतुष्टश्च महीपतिः ।
सलज्जा गणिका नष्टा, निर्लज्जा च कुलाङ्गना ॥ २ ॥

संतोषरहित ब्राह्मण नाशको प्राप्त होगये। और संतोषी राजा नष्ट होगया। अर्थात् वह वैभवशाली नहीं बन सकता।

शर्म रखनेवाली वेश्या नष्ट होगई। अर्थात् वह लोकरञ्जन से पैसा नहीं कमासकती है। और कुलीन-स्त्री यदि वेशर्म होजाय तो वह नष्ट हुई ही समझनी चाहिये। क्योंकि स्त्रीका भूषण लज्जाही है।

अनभ्यासे विषं शास्त्रं, अजीर्णे भोजनं विषम् ।
मूर्खस्य च विषं गोष्ठी, वृद्धस्य तरुणी विषम् ॥ ३ ॥

शास्त्रका अभ्यास छोड़देने पर शास्त्र विषके तुल्य होजाता है।

पूर्वकृत भोजनकी अजीर्णावस्थामें पुनः किया हुआ भोजन विषके समान होजाता है। अर्थात् विषकी तरह शरीरको हानि पहुंचाता है।

मूर्ख मनुष्यके लिये विचार-सभा विषतुल्य है क्योंकि मुर्ख उसमें कुछभी बोलने तथा समझनेमें असमर्थ रहता है। और वूढ़ेके लिये जवान स्त्री विषके तुल्य है। क्योंकि शारीरिक सामर्थ्यके अभावसे वह उसकी वशवर्तिनी नहीं रहती।

न पश्यति जन्मान्धः, कामान्धो नैव पश्यति ।
न पश्यति मदोन्मत्तो, ह्यर्थी दोषान्न पश्यति ॥ ४ ॥

जन्मसे अन्धा मनुष्य कुछभी नहीं देखसकता। कामके वशीभूतहोकर अन्धा हुआ मनुष्य कुछभी नहीं देखता। अर्थात् हिताहितका अवबोध नहीं कर सकता।

अभिमानमें चूर हुआ व्यक्तिभी कुछ नहीं देखता। अर्थात् न्याय अन्यायका निर्णय नहीं करसंकता। और याचक दोषोंको नहीं देखता।

अतिरूपाद्धृता सीता, अतिगर्वाद्रावणो हतः।
अतिदानाद् बलिर्बद्धो, ह्यति सर्वत्र वर्जयेत् ॥ ५ ॥

अत्यन्त रूपवति होनेके कारण सीता हरी गई। अत्यन्त अभिमानके कारण रावण मारा गया। अत्यन्त दानी होनेके कारण बलिराजा बंधन में बंधा। इसलिये गुण और दोष दोनोंमें ही अतिका त्याग करदेना चाहिए।

अतिपरिचयादवज्ञा, संततगमनादनादरो भवति।
मलये भिल्लपुरन्ध्री, चन्दनतरुकाष्ठमिन्धनं कुरुते ॥ ६ ॥

अत्यन्त परिचय होनेसे अपमान होने लगता है। अर्थात् शिष्टाचार लिहाज आदिका भी ख्याल नहीं रक्खा जाता है।

हमेशा रातदिन किसीके घर जानेसे अनादर होता है। अर्थात् आदर-की भावनाका ह्रास होजाता है।

जैसे मलयपर्वतमें निवास करनेवाली भीलोंकी स्त्रियां चन्दनके काठ जलानेके काममें लेती हैं। वे यह नहीं समझतीं कि यह कितनी कीमती और उपादेय वस्तु है।

लुलाये गोमायौ मृगपरिषदि श्वापदकुले।
करिष्यन् कार्पण्यं किमिह महिमानं गमयसि ॥
निमग्नः पंकेऽस्मिन्ननुभव करीन्द्राधिप ! दशाम्।
अभद्रं भद्रं वा विधिलिखितमुन्मूलयति कः ॥ ७ ॥

जंगली भैंसेपर, शृगालपर तथा हरिणोंके झुण्ड पर और अन्य चतुष्पद पशुओंके समुदायपर कृपणता करता हुआ अपने आपको क्या महिमाशाली समझ रहा है। अर्थात् इसमें तेरा वडप्पन नहीं है।

हे हाथियोंके राजाओंके राजा ! इस कीचड़में पड़ाहुआ तू इस दुर्दशाका अनुभव करता रह।

क्योंकि भला या बुरा जो कुछभी विधाता भाग्यमें लिखदेता है उसको कौन मिटा सकता है। जो कुछ भाग्यमें लिखा है वह भोगनाही पड़ता है।

क्षमाधनुः करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति ।
अतृणे पतितो बह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ।। ८

जिस मनुष्यके हाथमें क्षमारूपी धनुष है उसका दुष्ट मनुष्य कुछभी नहीं कर सकता ।

क्योंकि तृणरहित स्थानमें पड़ी हुई आग खुदही शान्त होजाती है । इसीप्रकार क्षमाशील मनुष्यका दुर्जन अपने दुर्व्यवहारसे कोई नुकसान नहीं कर सकता ।

अमृतं शिशिरे बह्निरमृतं प्रियदर्शनम् ।
अमृतं राजसन्मानं अमृतं क्षीरभोजनम् ।। ९ ।।

शिशिर (शीत) ऋतुमें अग्नि अमृतकी तरह प्रिय होती है । और अपने प्रियजनके दर्शनभी अमृतके तुल्य हैं । राजाके द्वारा प्रदत्त आदरभी अमृतोपम है । और खीरका भोजनभी अमृतके तुल्य है ।

अमृतं शिशिरे बह्निरमृतं बालभाषणम् ।
अमृतं स्वप्रिया भार्या, ह्यमृतं स्वामिगौरवम् ।। १० ।।

शिशिरमें अग्नि अमृत तुल्य अभिप्रेत है । बच्चेकी बोलीभी अमृतके समान मधुर लगती है ।

अपनी प्यारी औरतभी अमृतके तुल्य लगती है । और अपने मालिकका बडप्पनभी अमृत तुल्य लगता है ।

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ।। ११ ।।

मनुष्य धनका गुलाम है और धन किसीका भी गुलाम नहीं है । हे महाराज ! यह बात सत्य है । और मुझेभी कौरवोंने धनसे ही बांध रक्खा है । अर्थात् मैं भी धनके कारण उनका वशवर्ती हूं ।

अयुक्तं स्वामिनो युक्तं, युक्तं नीचस्य दूषणम् ।
अमृतं राहवे मृत्युर्विषं शंकरभूषणम् ।। १२ ।।

असङ्गत वस्तुभी स्वामीके लिये सर्वथा संगत है । और वाजिब तथा संगत कार्यभी नीच मनुष्यके लिये दूषण है । जिसप्रकार अमृतभी राहुके मृत्युका कारण है । और विषभी भगवान् शिवके लिये शोभास्पद है ।

अश्वं नैव गजं नैव व्याघ्रं नैव च नैव च।
अजपुत्रमपि बलिं न दद्यात् देवः प्राणि संरक्षकः ॥१३॥

देवताको घोड़ेकी बलिभी नहीं दीजाती है और न हाथीका ही बलिदान दिया जाता है। और व्याघ्रका बलिदान सर्वथाही निषिद्ध है।

केवल बकरी के बच्चे का भी बलि देने का विधान नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि, देवता प्राणियों के संरक्षक माने गये हैं।

अज्ञानेनावृतो लोकस्तमसा न प्रकाशते।
लोभात्त्यजति मित्राणि सङ्गात् स्वर्गं न गच्छति ॥ १४ ॥

यह संसार अज्ञानरूपी अन्धकारसे ढका हुआ होनेके कारण प्रकाशमान नहीं होता है।

लोभके वशीभूत होकर मित्रोंको छोड़ देता है और आसक्तिके वशीभूत होनेके कारण स्वर्गमें नहीं जाता।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ १५ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको मनके निग्रहके उपाय बतला रहे हैं। —

दीर्घ भुजाओं वाले हे अर्जुन! यह मन बड़ा चंचल है। इसीलिये इसका निग्रह यानी रोकथाम नहीं हो सकती है। इसमें कोईभी संदेह नहीं है।

तथापि हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मन वैराग्ययुक्त निरन्तर साधनासे काबूमें किया जासकता है।

अपुत्रस्य गृहं शून्यं दिशः शून्यास्त्वबान्धवाः।
मूर्खस्य हृदयं शून्यं सर्वशून्या दरिद्रता ॥ १६ ॥

सन्तानरहित मनुष्यका घर सूना है। अर्थात् विना सन्तानके घरकी शोभा नहीं होती है।

जिस व्यक्तिके बन्धु बान्धव कुटुम्बी जन न हों उसके लिये सारी दिशाएँही सूनी-सूनी हैं। उसे चारों तरफ कोईभी अपना नजर नहीं आता।

मूर्ख आदमीका हृदय सूना है उसके दिलमें न कुछ भावनायें पैदा होती हैं और न वह सहृदय होता है।

और कंगालीमें तो सारा संसारही सूना दिखाई देता है। कंगालके लिये सबतरफ सूनापन है।

अपुत्रस्य शान्तिर्भवति तस्य स्वर्गोऽस्त्येव चास्त्येव च
पश्चात्स्वर्गमोक्षसुखं भुक्त्वाऽन्ते निर्वाणपदभूषितः ॥१७॥

पुत्रहीन मनुष्य को शान्ति प्राप्त होती है। उसको नियम से स्वर्ग ह मिलेगा, क्योंकि स्वर्ग-मोक्ष का सुख भोग कर अन्त में निर्वाणपद भूषित होता है।

क्षणे रुष्टाः क्षणे तुष्टा रुष्टा तुष्टाः क्षणे क्षणे।
अव्यवस्थितचित्तानां प्रसादोऽपि भयङ्करः ॥ १८ ॥

क्षणभरमें नाराज और फिर क्षणभरमें राजी इसप्रकार क्षण-क्षण फिर नाराज और फिर राजी होनेवाले डांवाडोल मनवाले पुरुषोंकी प्रसन्नताभी वड़ी भयङ्कर होती है। अर्थात् उनका कोई विश्वास नहीं है।

व्यवस्थितः प्रशान्तात्मा कुपितोऽप्यभयङ्करः।
अव्यवस्थितचित्तस्य प्रसादोऽपि भयङ्करः ॥ १९ ॥

व्यवस्थामें रहनेवाला, प्रशान्त है चित्त जिसका ऐसा व्यक्ति गुस्सेमें हुआभी भयङ्कर नहीं होता है। और जिसका चित्त स्थिर नहीं है ऐसे व्यक्ति-की प्रसन्नताभी अत्यन्त भयङ्कर है। अर्थात् अव्यवस्थित चित्त वालोंकी प्रसन्नता परभी विश्वास नहीं करना चाहिये।

अभिमानधनं येषां चिरं जीवन्ति ते नराः।
अभिमानविहीनानां किं धनेन किमायुषा ॥ २० ॥

जिन मनुष्योंके पास अभिमान रूपी धन है वे मनुष्य चिरकालतक जीवित रहते हैं। और जिनके आत्माभिमान विलकुल नहीं है उनके धनसे क्या लाभ है। अर्थात् कोई लाभ नहीं है। और उनके दीर्घकालतक जीनेसे भी क्या फायदा है।

उष्ट्राणां विवाहेषु गीतं गायन्ति गर्दभाः।
परस्परं प्रशंसन्ति अहो रूपमहो ध्वनिः ॥ २१ ॥

ऊँटोंके विवाहोत्सवोंमें गधेही गीत गाया करते हैं। अर्थात् जैसे मुखिया होते हैं वैसेही उनके अनुरूप उनके स्तुति करनेवाले होते हैं। और आपसमें एक दूसरेकी प्रशंसा करते हैं। गधे कहते हैं कि हे उष्ट्राधिराज आपका क्या ही सुन्दर स्वरूप है। आपके सम्मुख कामदेवका रूपभी मात है। और गर्दभकी

की प्रशंसा ऊँट करते हैं कि अहा आपकी क्या ही सुन्दर आवाज है। कमालही का आपने गला पाया है।

अमितगुणोऽपि पदार्थो दोषेणैकेन निन्दितो भवति।
निखिलरसायनमहितो गन्धेनोग्रेण लशुन इव ॥ २२ ॥

जिसके गुणोंकी गणना नहीं की जासकती हो ऐसा पदार्थभी केवलमात्र एक दोषके कारणसे अत्यन्त निन्दित व गर्हित होजाता है। इसी बातको अर्थान्तरन्यास अलङ्कारसे पुष्ट करते हैं——

समग्र रसायनों में पूजित व श्रेष्ठ लहसुन जिसप्रकार अपनी उग्र गन्धके कारण सब सभ्य मनुष्योंसे गर्हित होता है। अर्थात् रसायन-श्रेष्ठ होनेपरभी लहसुनका तिरस्कार होता ही है।

अध्वा जरा मनुष्याणां अनध्वा वाजिनां जरा।
असंभोगो जरा स्त्रीणां वस्त्राणामातपो जरा ॥ २३ ॥

मनुष्यके लिये मार्गही बुढ़ापा है। अर्थात् अधिक मार्ग चलनेसे मनुष्य जल्दीही वार्धक्यको प्राप्त होजाता है।

घोड़ोंके लिये मार्ग चलनाही बुढ़ापा है। अर्थात् बंधा हुआ घोड़ा बेकार होकर बूढ़ासा होजाता है।

स्त्रियोंके लिये मैथुन न करनाही बुढापा है। अर्थात् मैथुनके न करनेसे स्त्रीमें वार्धक्य शीघ्र आजाता है। और वस्त्र यदि धूपमें पड़े रहें तो शीघ्रही जीर्ण होजाते हैं।

असिजीवी मषीजीवी देवलो ग्रामयाजकः।
धावको पाचकश्चैव षडेते ब्राह्मणाधमाः ॥ २४ ॥

तलवारके बलपर जीनेवाला या लेखन इत्यादि कार्यसे पेट भरनेवाला अर्थात् स्याहीके सहारे जीवन यापन करनेवाला, देवालयमें पूजापाठ करनेवाला गांवमें अनुष्ठान आदि कराकर जीविका चलानेवाला, दौड़नेवाला और रसोई बनाकर पेट भरनेवाला ये छः प्रकारके ब्राह्मण ब्राह्मणोंमें नीच गिनेजाते हैं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २५ ॥

जो भक्त मनुष्य दूसरे सब आश्रयोंका परित्याग करके केवल मात्र मेराही अनवरत चिन्तन करते हुए मेरी उपासनामें लगेरहते हैं। हमेशा यानि

निरन्तर भक्ति करनेवाले उन लोगोंके लिये मैं ही अप्राप्तकी प्राप्ति तथा प्राप्तके संरक्षणका भार वहन करता हूं।

अत्यन्तमति मेधावी त्रयाणामेकमश्नुते।
अल्पायुषो दरिद्रोवा ह्यनपत्यो न संशयः ॥ २६ ॥

अत्यन्त लोकोत्तर बुद्धिमान् व्यक्ति इन तीनोंमें से एक दोषको जरूर प्राप्त करता है या तो वह थोड़ी उम्रवाला होता है या कंगाल होता है या संतानहीन होता है। इसमें संशय नहीं है।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ २७ ॥

प्रयत्नपूर्वक उद्योग करनेवाला, शुद्ध होगये हैं पाप जिसके ऐसा योगी अनेक जन्म-जन्मान्तरोंमें सिद्धिको प्राप्त करके उसके बाद मोक्षको प्राप्त करलेता है।

दीपनष्टं हरिर्भ्रष्टं स्थानभ्रष्टं च माधवम्।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥ २८ ॥

अच्छे या बुरे जैसेभी कर्म हमने किये हैं उनका तदनुसारही फल हमें जरूरही भोगना पड़ता है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ २९ ॥

दूसरे व्यक्तिको क्रोध न आये ऐसे वाक्य और सत्य वाक्य तथा प्रिय एवं हित लगानेवाले वाक्य बोलना और स्वाध्याय अर्थात् वेद आदिका पाठ करना यह वाणी-सम्बन्धी तप कहलाता है।

जन्मप्रभृति दारिद्रयं दश वर्षाणि बन्धनम्।
समुद्रतीरे मरणमन्यत् किंचिद् भविष्यति ॥ ३० ॥

जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त कंगाली रहना और दश वर्षतक बन्धनमें फंसे रहना (जेल इत्यादिमें सड़ना) और अन्तमें समुद्रके तीरपर मरजाना इससे अतिरिक्त और कुछ क्या होगा। अर्थात् यह अधिकसे अधिक कष्टमय तथा यातनामय जीवन है।

अनारम्भो मनुष्याणां प्रथमं बुद्धिलक्षणम् ।
आरब्धस्यान्तगमनं द्वितीयं बुद्धिलक्षणम् ॥ ३१ ॥

बुद्धिमान् कोई कार्य बिना सोचे समझे प्रारम्भही नहीं करे यह उसकी पहली बुद्धिमानी तथा समझदारी है। शुरू किये हुए कार्यको पूरा करना यह दूसरी बुद्धिमानीका लक्षण है।

प्रजां न रञ्जयेद्यस्तु राजा रक्षादिभिर्गुणैः ।
अजागलस्तनस्यैव तस्य जन्म निरर्थकम् ॥ ३२ ॥

जो राजा रक्षा करना इत्यादि स्वकीय गुणोंसे प्रजाको सन्तुष्ट नहीं रखता है। बकरीके गलेपर उत्पन्न हुए बोबेकी तरह उस राजाका जीवनभी फिजूल है। अर्थात् जिसप्रकार बकरीके गलेपर होनेवाले बोबेसे दूध नहीं निकलता है अतः उसकी उत्पत्ति निरर्थक है। उसीप्रकार कर्तव्यशून्य होनेके कारण उस राजाका जीवनभी बेकार है।

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ३३ ॥

जो भाग्यशाली व्यक्ति मृत्युकाल उपस्थित होनेपर मुझ जनार्दनका ही स्मरण करता हुआ इस शरीरको छोड़कर परलोक गमन करता है वह मेरे स्वरूपमें मिलजाता है। इस बातमें भी संदेह नहीं है।

एकं दृष्ट्वा शतं दृष्ट्वा दृष्ट्वा पञ्चशतान्यपि ।
अतिलोभो न कर्तव्यश्चक्रं भ्रमति मस्तके ॥ ३४ ॥

एक (रुपये) को देखकर, सौ रुपयोंको देखकर तथा पांचसौ रुपयोंको देखकरभी अधिक लोभ नहीं करना चाहिए। क्योंकि अधिक लोभ करनेसे मस्तकपर चक्र घूमता है। अर्थात् अतिलोभ विपत्तिमें फंसा देता है।

धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते ।
अजागलस्तनस्यैव तस्य जन्म निरर्थकम् ॥ ३५ ॥

धर्म, धन, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंमें से जिस मनुष्यने एकभी पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं की है। उस मनुष्यका जन्म बकरीके गलेपर लटकने वाले थणकी तरह निरर्थक है। उसके जन्मसे कोई लाभ नहीं है।

अक्षौरेऽपि च नक्षत्रे कुर्वीत बुधसोमयोः ।
युक्तेऽपि तिथिनक्षत्रे न कुर्याच्छनिभौमयोः ।। ३६ ।।

यदि हजामत बनानेका अनुकूल नक्षत्र न भी हो तो भी बुधवार और सोमवारमें हजामत बनाही लेनी चाहिए। तिथि तथा नक्षत्रके उपयुक्त होनेपरभी शनिवार तथा मंगलवारको हजामत नहीं करनी चाहिए।

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत् ।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ।। ३७ ।।

विद्वान् मनुष्यको अजर और अमर होनेकी इच्छाकी तरह विद्या और धनकी प्राप्तिकी चिन्ता करनी चाहिए। साथही यहभी खयाल करता हुआ कि 'मौतने मेरे बालोंको पकड़ रक्खा है' नित्य धर्माचरण करना चाहिए।

यस्य किञ्चिन्न दातव्यं, तस्य देयं किमुत्तरम् ।
अद्य सायं पुनः प्रातः सायं प्रातः पुनः पुनः ।। ३८ ।।

जिसको कुछभी देनेकी इच्छा न हो उसको क्या उत्तर देना चाहिए। आज सायङ्कालको आना फिर शामको आने पर कहना कि कल प्रातः काल आना इसप्रकार सायङ्काल और प्रातःकाल बार-बार बुलाना चाहिए।

इतरपापफलानि यथेच्छया ।
विलिखितानि सहे चतुरानन ।।
अरसिकेषु कवित्वनिवेदनम् ।
शिरसि मालिख मालिख मालिख ।। ३९ ।।

हे विधाता! मैं मेरे भाग्यमें लिखे हुए और पापोंके फलोंको इच्छानुसार बर्दाश्त करूंगा। किन्तु हे विधाता! नीरसहृदय-व्यक्तियोंको कविता आदि साहित्य सुनानेका उत्तरदायित्व मेरी तकदीरमें मत लिख, मत लिख, मत लिख। अर्थात् अरसिक व्यक्ति काव्यका महत्व नहीं समझ सकते।

अधना धनमिच्छन्ति, वाचं चैव चतुष्पदः ।
मानवाः स्वर्गमिच्छन्ति, मोक्षमिच्छन्ति देवताः ।। ४० ।।

धनहीन मनुष्य धनकी इच्छा करते हैं। चौपाये जानवर बोलना चाहते हैं। मनुष्य साधारणतया स्वर्गकी इच्छा करते हैं। और देवता लोग

मोक्षकी इच्छा करते हैं। अर्थात् संतोष सब कुछ प्राप्त होनेपरभी नहीं होता उत्तरोत्तर इच्छा बढ़ती ही जाती है।

अद्यापि नोऽझति हरः किल काल कूटं
कूर्मो बिर्भति धरणीं खलु पृष्ठभागे।
अम्भोनिधिर्वहति दुस्तरवाडवाग्नि
अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति ॥ ४१ ॥

आजभी अबतक भी भगवान् शिव कालकूट नामक भयानक विषको नहीं छोड़ते हैं। कच्छपावतार रूपसे विष्णु आजभी पृथ्वीको पीठपर धारण किये हुए हैं। समुद्र अत्यन्त भयानक वाडवाग्निको अपने भीतर छिपाये हुए आजतक बैठा है। क्योंकि पुण्यकार्य करनेवाले महानुभाव जो कुछभी कष्ट स्वीकार करलेते हैं उसे अनन्तकालतक पालन करते हैं निभाते हैं।

शास्त्रं सुचिन्तितमयं परिचिन्तनीयम्
आराधितोऽपि नृपतिः परिसेवनीयः।
अङ्के धृताऽपि तरुणी परिरक्षणीया
शास्त्रे नृपे च युवतौ च कुतो वशित्वम् ॥ ४२ ॥

खूब अच्छी तरह विचारपूर्वक अवगत शास्त्रको भी पुनः पुनः विचारते रहना चाहिये। सेवासे अत्यन्त प्रसन्न राजाकी भी पुनः पुनः अधिकाधिक सेवा करनी चाहिये। गोदमें लेटीहुईभी युवती स्त्रीकी परिरक्षा करनी चाहिये। अर्थात् उसकी संभाल रखनी चाहिये। क्योंकि शास्त्र, राजा, और युवती ये तीन किसीके भी वशवर्ती नहीं होसकते हैं।

अर्थानर्थान्तरे बुद्धिर्निश्चिताऽपि न शोभते।
घातयन्ति हि कार्याणि दूताः पण्डितमानिनः ॥ ४३ ॥

विभिन्न अर्थों और अनर्थोंमें निश्चित बुद्धिभी शोभा नहीं देती है। अर्थात् वह सिद्धिमें सहायक नहीं होती है। क्योंकि अपने आपको पण्डित माननेवाले दूतलोग कार्योंको नष्ट करदेते हैं। अर्थात् कार्य-सिद्धि नहीं होने देते।

यूयमेवास्य जानीत योऽयं यद्वा करिष्यति।
अहिरेवत्वहेः पादान् विजानाति न संशयः ॥ ४४ ॥

जो यह करेगा इसके इस कार्यको आपही जान सकते हैं। क्योंकि सांपही सांपके पद-चिन्होंको जानता है। इसमें सन्देह नहीं है।

असहायः पुमानेकः कार्यान्तं नैव गच्छति।
तुषेणापि विनिर्मुक्तस्तण्डुलो न प्ररोहति ॥ ४५ ॥

जिसका दूसरा कोईभी सहायक न हो ऐसा अकेला आदमी कभीभी कार्यको समाप्त नहीं करसकता है। क्योंकि तुषसे रहितभी चांवल उग नहीं सकते हैं। अर्थात् तुषभी कितना सहायक है।

विश्वासप्रतिपन्नानां, वञ्चने का विचित्रता।
अङ्कमारुह्य सुप्तं हि, हत्वा किं नाम पौरुषम् ॥ ४६ ॥

जिन लोगोंने विश्वास करलिया है उनको ठगनेमें क्या विचित्रता है क्या आश्चर्य है। क्योंकि गोदमें सोयेहुए मनुष्यको मारना कोई बहादुरी नहीं है। यह तो केवल विश्वासघातमात्र है।

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डम्
दशनविहीनं जातं तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डम्
तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ॥ ४७ ॥

अङ्ग गलगये हैं। सिर सफेद होगया है। अर्थात् सारे बाल पककर श्वेत होगये हैं। मुंहमें एकभी दांत नहीं रहा है। ऐसा बूढ़ा आदमी डण्डेके सहारे चलता है तो भी आशा-तृष्णा उसका पीछा नहीं छोड़ती। अर्थात् आशा बढ़तीही जाती है।

अङ्केषु शून्यविन्यासाद्वृद्धिः स्यात्तु दशाधिका।
तस्माज्ज्ञेया विशेषेण अङ्कानां वामतो गतिः ॥ ४८ ॥

अङ्कोंके आगे शून्य रखदेनेसे दशगुणी वृद्धि होजाती है। इसलिये खास तौरसे अङ्कोंकी बांई ओरसे गति समझनी चाहिए। अर्थात् अङ्कोंकी गति उलटी होती है जो आगे शून्य रखनेसे दशगुणे बढ़ते हैं। शून्यसे वृद्धि यह विचित्रही बात है।

त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः।
अत्युत्कटैः पुण्यपापैरिहैव फलमश्नुते ॥ ४९ ॥

अत्यन्त उग्र पापोंका या पुण्योंका तीन वर्षोंमें तीन महिनोंमें तीन पखवाड़ोंमें या तीन दिनोंमें इसी लोकमें शीघ्र फल प्राप्त करलेता है।

लेखनी सर्ववर्णेषु विधिना निर्मिता पुरा।
नवांगुलप्रमाणेन अधिकस्याधिकं फलम् ॥ ५० ॥

पूर्व कालमें विधाताने सब वर्णोंमें लेखनी नौ अंगुल प्रमाणकी बनादी है। क्योंकि अधिकका फल अधिकही होता है। अर्थात् नव संख्या सब संख्याओं में वड़ी है।

असारे खलु संसारे सुखभ्रान्तिः शरीरिणाम्।
लालापानमिवांगुष्ठे बालानां स्तन्यविभ्रमः ॥ ५१ ॥

सारहीन इस संसारमें प्राणधारियोंको जो सुख मालूम देता है यह केवल मात्र भ्रम है। जिसप्रकार बच्चे अंगूठेको चूसते हुए अपनी लालाका पान करके दूधका भ्रम करलेते हैं। वास्तवमें उसमें दूध कहां है फिरभी बच्चा उसको दूधके भ्रमसे चूसता है।

अच्युतानन्द गोविन्द नामोच्चारणभेषजात्।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥ ५२ ॥

कभी नष्ट नहीं होनेवाले आनन्दको देनेवाले भगवान्के नामोच्चारण-रूपी ओषधसे समग्र रोग नष्ट होजाते हैं। यह बात मैं सत्य बिलकुल सत्य कहता हूँ।

असङ्गसङ्गदोषेण, सत्याश्च मतिविभ्रमः।
एकरात्रप्रसङ्गेन काष्ठघण्टाविडम्बना ॥ ५३ ॥

जिसके कोईभी सङ्ग नहीं है उसके सङ्गरूपी दोषसे सतीकी वुद्धिमें भ्रान्ति पैदा होगई है। एक रात्रिके प्रसङ्गसे काठके घण्टेका उपहास है।

अत्यम्बुपानान्न विपच्यतेऽन्नं
अनम्बुपानाच्च स एव दोषः।
तस्मान्नरो वह्निविवर्धनार्थं
मुहुर्मुहुः वारि पिबेदभूरि ॥ ५४ ॥

अत्यन्त अधिक जल पी लेनेसे अन्नका परिपाक नहीं होता है। बिलकुल जल नहीं पीनेसे भी वही दोष है। अर्थात् अन्नका परिपाक नहीं होता।

इसलिये मनुष्यको अपनी औदर्य-अग्निको वढ़ानेके लिये वारम्वार थोड़ा-थोड़ा जल पीना चाहिये।

अण्डं कण्डूयमानेन यत्सुखं तव भूपते।
खर्जनानन्तरं दुःखं भूयात्तु तव वैरिणाम्॥ ५५॥

अण्डकोषोंको खुजलाते समय जो सुख प्राप्त होता है हे राजन्! तुझे वह सुख प्राप्त हो। और खुजलानेके वाद जो वेदना होती है वैसा दुःख तुम्हारे शत्रुओंको हो। यह अनुभव सिद्ध है कि अण्डकोषको खुजलानेमें अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता है। और खुजलानेके पश्चात् जलन तथा वेदना होती है।

अप्रियाण्यपि कुर्वाणो प्रिय यः प्रियःएव सः।
दग्धमन्दिरसारेऽपि कस्य वह्नावनादरः॥ ५६॥

अप्रिय कार्य करता हुआभी जो प्रिय है वह प्रियही रहता है। जिस प्रकार सम्पूर्ण घर तथा सम्पत्ति जला देने परभी अग्निका अनादर कौन करता है। अर्थात् उसका कोई तिरस्कार नहीं करता।

अन्नं नास्त्युदकं नास्ति नास्ति ताम्बूलचर्वणम्।
मन्दिरेषु महोत्साहः शुष्कचर्मस्य ताडनम्॥ ५७॥

खाने तथा भोग इत्यादिके लिये अन्नभी नहीं है। जलका भी अभाव है। खानेको पानभी नहीं है। फिरभी मन्दिरोंमें वड़ा उत्साह प्रदर्शित किया जारहा है। केवल शुष्क चमड़ेको वजाया जारहा है। पीटा जारहा है। अर्थात् मन्दिरोंमें केवल नगाड़ाही वजता है वाकी ठाट-वाट नहीं है।

विद्यारम्भे गुरुः श्रेष्ठो मध्यमौ भृगुभास्करौ।
कनिष्ठौ भौमसौरी च अविद्या बुधसोमयोः॥ ५८॥

विद्याके प्रारम्भ करनेके लिये वृहस्पतिवार सवसे उत्तम है। रविवार और भृगुवार मध्यम हैं। मंगलवार तथा सौरवार अत्यन्त कनिष्ठ हैं। अर्थात् इस दिन विद्या आरम्भ करनेसे अत्यन्त लाभ नहीं होता है। और बुधवार तथा सोमवारको विद्या प्रारम्भ करनेसे विद्या प्राप्त नहीं होती है।

अजीर्णे भेषजं वारि जीर्णे वारि बलप्रदम्।
अमृतं भोजनार्धे तु भुक्तस्योपरि तद्विषम्॥ ५९॥

अजीर्णमें जल पीना एक प्रकारकी दवा है। भोजनके पचनेपर पिया हुआ जल ताकत देता है। भोजनके बीचमें जल पीना अमृततुल्य लाभप्रद है। और भोजनके तुरन्त बाद जल पीना विषतुल्य हानिप्रद है।

सस्यानि स्वयमत्ति चेद्वसुमती मातासुतं हन्ति चेद्
बेलामम्बुनिधिर्विलङ्घ्यति चेद् भूमिं दहेत् पावकः।
आकाशं जनमस्तके पतति चेदन्नं विषं चेद्भवेत्
अन्यायं कुरुते यदा क्षितिपतिः कस्तं निरोद्धुं क्षमः॥ ६०॥

यदि पृथ्वी स्वयं अन्नको खाने लगे, माता यदि अपने पुत्रको मार डाले, समुद्र यदि अपने तटकी मर्यादाका उल्लङ्घन करने लगे, अग्नि यदि पृथ्वीको जलाने लगे, आकाश यदि मनुष्योंके मस्तक पर गिरने लगे, अन्न यदि विष होजाय, और राजा यदि अन्याय करने लगे तो इनको कौन रोक सकता है। अर्थात् कोईभी रोक नहीं सकता।

तुष्टो हि राजा यदि सेवकेभ्यो
भाग्यातपरं नैव ददाति किञ्चित्।
अहर्निशं वर्षति वारिवाह-
स्तथापि पत्रत्रितयः पलाशः॥ ६१॥

यदि राजा सेवकों पर प्रसन्नभी हो तो भी उनके तकदीरमें लिखे हुएके अतिरिक्त कुछ नहीं दे सकता है। मेघ दिन-रात वर्षा करते हैं तो भी ढ़ाकके तीन पत्तेही रहते हैं। अर्थात् अधिक पत्ते नहीं आते हैं।

अबला यत्र प्रबला बालो राजा निरक्षरो मन्त्री।
नहि नहि तत्र धनाशा जीवितआशापि दुर्लभा भवति॥ ६२॥

जहां स्त्रियां प्रवल हों अर्थात् शासन करती हैं, और वालक राजा हो, और मन्त्री बिलकुल निरक्षर मूर्ख हो। ऐसे स्थानपर धनकी उम्मीद बिलकुल नहीं है। अपितु जीवनकी आशाभी वहां दुर्लभ है। अर्थात् वहां जानके भी लाले पड़सकते हैं।

अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते।
उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति॥ ६३॥

निरन्तर नीचे देखकर काम करनेवाले किस व्यक्तिका महत्व नहीं बढ़ता है। अपितु सबकीही महिमा बढ़ती है। अर्थात् निरभिमान विनयी पुरुष अवश्य महिमाशाली होता है। और जो लोग केवल ऊपरही ऊपर देखते हैं वे सबही दरिद्र रहते हैं। अर्थात् अभिमानी कभी महिमाशाली तथा बड़ा आदमी नहीं बनसकता है।

सुलभाः पुरुषाः राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥ ६४॥

हे राजन्! निरन्तर प्रिय बोलनेवाले मनुष्य अत्यन्त आसानीसे मिलजाते हैं। परन्तु कटु और हितावह कहनेवाला तथा सुननेवाला दोनों बड़ी मुश्किलसे मिलते हैं।

अप्रियस्यापि पथ्यस्य परिणामः सुखावहः।
वक्ता श्रोता च यत्रास्ति रमन्ते तत्र सम्पदः॥ ६५॥

अप्रिय होनेपरभी जो बात हितकारक है उसका नतीजा आनन्द-देनेवाला होता है। अप्रिय तथा हितकारक बातका कहनेवाला तथा उसको सुननेवाला जहां है वहां सम्पत्तिका निवास है। अर्थात् वहां किसीभी प्रकारका अभाव नहीं है।

अजागलस्थस्तन उष्ट्रपुच्छम्
कक्षान्तरे केशमथाण्डयुग्मम्।
त्वं संसृजन् सायणमायणादौ
बह्माग्रगण्यो न बभूव पूज्यः॥ ६६॥

बकरीके गलेमें स्तन (थन) ऊंटके पूंछ, कांखके भीतर बाल और अण्डकोषोंके जोड़ेको बनाता हुआ हे ब्रह्मा! तू न तो आगे गिने जानेयोग्य हुआ और न पूज्यही हुआ।

अल्पतोयश्चलत् कुम्भो ह्यल्पदुग्धाश्च धेनवः।
अल्पविद्यो महागर्वी कुरूपी बहु चेष्टितः॥ ६७॥

जिस घड़ेमें पानी थोड़ा होता है वह छलकता है। और अत्यन्त अल्पदूध देनेवालीभी गायें धेनु कहलाती हैं। थोड़ा पढ़ालिखा बड़ा अभिमानी

होता है। और कुरूप बहुत हावभाव प्रदर्शित करता है। अर्थात् परिपूर्णताके अभावमें गाम्भीर्य भी नहीं होता है।

मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः॥ ६८॥

हे वीर! इस संसारमें जन्म लेनेवालोंके शरीरके साथही मौतभी लगी रहती है। आज या सौवर्षके बाद जीवधारियोंकी मृत्यु निश्चित है। अर्थात् इसलिये निश्चितसे डरना मूर्खता है।

दर्शनं स्पर्शनं क्रीड़ा शृङ्गारो गुह्यभाषणम्।
मृष्टान्नं प्रियमेकत्र शयनं भार्यया सह।
निर्विकारं मनः कुर्यात् असिधाराव्रतं त्विदम्॥ ६९॥

देखना, छूना, कामक्रीड़ा, शृङ्गार, और गुह्य बातें करना, स्वादुअन्न, अपनी स्त्रीके साथ एक स्थानपर सोना, तथापि मनको विकार-रहित रखना चाहिये। यह तलवारकी धारपर चलनेकी प्रतिज्ञाकी तरह कठिन है।

अन्यः करोति व्यापारं लिप्तो भवति लेखकः।
भगलिङ्गप्रसङ्गेन छिन्ना भवति नासिका॥ ७०॥

काम तो दूसराही करता है और लिखनेवालेको लिप्त होना पड़ता है। जैसे योनि और पुरुष लिङ्गके व्यापारमें नाक काटली जाती है। अर्थात् यद्यपि नाक निर्व्यापार है तथापि उसे लिप्त होना पड़ता है।

नृपतेः प्रतिषिद्धमेव तत्
कृतवान् पंक्तिरथो विलङ्घ्य यत्।
अपथे पदमर्पयन्ति हि
श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः॥ ७१॥

राजाके द्वारा जिस कार्यका निषेध कर दियागया था उस कार्यको पंक्ति-रथने राजाकी आज्ञाका उल्लंघन करके किया। क्योंकि शास्त्रज्ञभी रजोगुणसे अन्धे होकर कुमार्गमें पदार्पण करदेते हैं।

न स्वल्पमप्यध्यवसायभीरोः
करोति विज्ञाननिधिर्गुणं हि।

अन्धस्य किं हस्ततलस्थितोऽपि
प्रकाशयत्यर्थमिह प्रदीपः ॥ ७२ ॥

जो व्यक्ति गुणवान् होते हुएभी किसीभी प्रकारके उद्योगको प्रारम्भ करनेमें डरता है उसके लिये विज्ञानका भण्डार कुछभी गुण या लाभदायक नहीं है। क्योंकि अन्धेकी हथेलीपर रखा हुआभी दीपक क्या पदार्थोंके ज्ञान करानेमें समर्थ होसकता है, अर्थात् क़तई नहीं।

यावन्न तपति भानुस्तादृक् संतपति वालुकानिकरः।
अन्यस्माल्लब्धपदो नीचः प्रायेण दुःसहो भवति ॥ ७३ ॥

सूर्यभी अपने संतापसे उतना नहीं संतप्त करता जितना कि सूर्य-किरणों से संतप्त वालूका समूह संतप्त करता है। क्योंकि दूसरोंसे पालिया है पद या गौरव जिसने ऐसा नीच मनुष्य प्रायः दुःसह होता है। अर्थात् वहुत सताता है।

लोकप्रवादः सत्योऽयं पण्डितैः समुदाहृतः।
अकाले दुर्लभो मृत्युः स्त्रियो वा पुरुषस्य वा ॥ ७४ ॥

विद्वानोंके द्वारा बतलाया हुआ यह लौकिक कथन सत्यही है कि स्त्रीकी या पुरुषकी अकालमें मृत्यु होना वहुत मुश्किल है। अर्थात् अकालके समय मुँह मांगी मौतभी नहीं मिल सकती है।

शुकवद्भाषणं कुर्याद् बकवद्ध्यानमाचरेत्।
अजवच्चर्वणं कुर्यात् गजवत् स्नानमाचरेत् ॥ ७५ ॥

मनुष्यको तोतेकी तरह बोलना चाहिए। अर्थात् मित तथा मधुरभाषी होना चाहिए। वगुलेकी तरह मनुष्यको ध्यान करना चाहिए। अर्थात् एकाग्र मनसे भगवत् स्मरण करना चाहिए। वकरीकी तरह चवाना चाहिए। अर्थात् खूब चवाकर भोजन करना चाहिए। और हाथीकी तरह खूब मस्तीसे स्नान करना चाहिए।

अजवच्चर्वणं कुर्यात् गजवत् स्नानमाचरेत्।
राजवत् प्रविशेद् ग्रामं चौरवद् गमनं चरेत् ॥ ७६ ॥

वकरीकी तरह चवाना चाहिएऔर हाथीकी तरह स्नान करना चाहिए। राजाकी तरह खूब ठाट-वाटसे गाँवमें प्रवेश करना चाहिए। और जव गांवसे जाय तब चुपचाप चोरकी तरह चला जाय।

अक्षराणि समानानि वर्तुलानि घनानि च
परस्परविलग्नानि तरुणीकुचकुम्भवत् ॥ ७७ ॥

आपसमें मिले-जुले अक्षर जवान स्त्रीके कुचोंसे संलग्न घड़ेकी तरह समान गोल व घन होजाते हैं। अर्थात् पृथक्-पृथक् अक्षरोंका कोई महत्व नहीं होता है किन्तु वेही अक्षर परस्परमें संयुक्त होकर परस्पर संयुक्त तरुणीके कुच और कुम्भकी तरह वर्तुल (गोल) और घन होजाते हैं।

अर्चकस्य प्रभावेन शिला भवति शंकरः।
अभिरूप्याच्च मूर्तीनां देवः सान्निध्यमृच्छति ॥ ७८ ॥

पूजा करने वालेके प्रभावसे शिलाभी शंकर बन जाती है। मूर्तियोंकी सुन्दरताके कारण देवता समीपवर्ती होजाते हैं।

उत्तमेनोत्तमं सर्वं मनुष्याणां प्रयत्नतः।
अदृष्टमीक्ष्य सर्वेषां वक्तव्यं सुविचक्षणैः ॥ ७९ ॥

मनुष्योंकी कोशिशसे उत्तमसे सब कार्य उत्तमही होते हैं। विद्वान् मनुष्योंको सबका भाग्य देखकर कहना चाहिए। इसलिए कहा है कि 'भाग्यं फलति सर्वत्र'। भाग्यही सब जगह फलदाता होता है।

अयं पटो मे पितुराद्यभूषणः
पितामहाद्यैरपि भुक्तयौवनः।
मत्पुत्रपौत्रान् समलङ्करिष्य-
त्यतो मया कक्षपुटेन धार्यते ॥ ८० ॥

यह वस्त्र मेरे पिताका प्रारम्भिक या मुख्य भूषण है मेरे दादा परदादा आदिने भी इसको नूतनावस्थामें धारण किया था। और यह वस्त्र मेरे पुत्र तथा पौत्रोंको भी अलंकृत करेगा। इसीलिये मैं इसे कांखमें दवाये रहता हूं।

अक्षराणि परीक्ष्यन्तमम्बराडम्बरेण किम्।
शम्भुरम्बरहीनोऽपि सर्वज्ञः किं न जायते ॥ ८१ ॥

ज्ञानकी या विद्याकी परीक्षा करनी चाहिये। केवल कपड़ोंकी तड़क भड़कसे क्या सार निकल सकता है। भगवान् शिव वस्त्र-रहित यानि दिगम्बर रहते हुएभी क्या सर्वज्ञ नहीं हैं।

(आ)

आरोग्यं पुण्योदयात् श्रियमिच्छेत् पुरुषार्थात् ।
ज्ञानमिच्छेदध्ययनात् मोक्षमिच्छेत्सम्यक्त्वात् ॥८२॥ ॥

मनुष्य को पुण्योदय से आरोग्य मिलता है, पुरुषार्थ से लक्ष्मी की इच्छा की जाती है। अध्ययन से ज्ञान प्राप्ति की वाञ्छा होती है और सम्यक्त्व से मोक्ष की सिद्धि होती है।

आत्मा रक्ष्यः प्रयत्नेन युद्धसिद्धिर्हि चञ्चला ।
ते स्वामिवचनं सर्वे प्रतिगृह्य महौजसः ॥ ८३ ॥

युद्धमें सफलता बहुत चञ्चल है अर्थात् अनिश्चित है। इसलिये मनुष्यको अपने जीवनकी रक्षा करनी चाहिये। महान् तेजस्वी वे सब स्वामीके वचनोंको स्वीकार कर, 'युद्धके लिये सन्नद्ध होगये' इति शेषः।

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ ८४ ॥

यदि एक व्यक्तिके नष्ट होनेसे कुलका वचाव होता हो तो उसको छोड़ देना चाहिये। यदि कुलके नाशसे गांवकी रक्षा होती हो तो कुलका लोभ छोड़देना चाहिये। और प्रान्तकी रक्षाके लिये ग्रामको भी छोड़देना चाहिये। और अपने आपकी सुरक्षाके लिये सारे पृथ्वी-लोकको छोड़देना चाहिये।

आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ।
पुनर्दाराः पुनर्वित्तं न शरीरं पुनः पुनः ॥ ८५ ॥

स्त्री और धनके द्वाराभी अपने आपकी रक्षा हमेशा करनी चाहिये। अर्थात् स्त्री और धनके देनेसे भी यदि अपने प्राण बचते हों तो अवश्य बचाने चाहियें। क्योंकि स्त्री फिर मिल सकती है और धनभी पुनः प्राप्त होसकता है। परन्तु शरीर बार-बार नहीं मिलता है।

आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ ८६ ॥

आपत्ति कालमें काम आनेके लिये धनकी रक्षा करनी चाहिये।

और धन देकरभी स्त्रीकी रक्षा करनी चाहिये। और धन तथा स्त्री दोनोंको देकरभी अपने आपकी रक्षा करना चाहिये।

आपदर्थे धनं रक्षेत् श्रीमतामापदः कुतः।
साचेदपगता लक्ष्मीः संचितार्थोऽपि नश्यति ॥ ८७ ॥

आपत्ति कालमें काम आनेके लिये धन बचाना चाहिये। क्योंकि लक्ष्मीवानोंके आपत्ति कहां। अर्थात् धनवानोंके दुःख नहीं होता है। यदि वह लक्ष्मी चलीगई तो जिसने धन एकत्र किया वहभी मनुष्य नष्ट होजायगा।

उद्योगः कलहः कण्डूर्द्यूतं मद्यं परस्त्रियः।
आहारो मैथुनं निद्रा सेवनात्तु विवर्धते ॥ ८८ ॥

उद्योग या पुरुषार्थ, कलह व झगड़ा, खुजली, जुआ, खेलना, शराब पीना, पर-स्त्रीके साथ संभोग, भोजन, मैथुन और नींद ये जितना सेवन करेंगे उतनेही बढ़ते जायंगे। अर्थात् इनकी शान्ति या पूर्ति कभी भोगसे नहीं होसकती है। इनका तो कम प्रयोगही श्रेयस्कर है।

धनधान्यप्रयोगेषु विद्यासंग्रहणेषु च।
आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत् ॥ ८९ ॥

धन और धान्यके विषयमें एवं विद्याके ग्रहण करनेके सम्बन्धमें, खानेमें और लेनदेन रूपी व्यवहारमें जो लज्जाको त्याग देता है वह सुखी होता है। अर्थात् कभी नुकसान नहीं उठाता है।

आचारप्रभवो धर्मो नृणां श्रेयस्करो महान्।
इह लोके परा कीर्तिः परत्र परमं सुखम् ॥ ९० ॥

पवित्र आचरणसे धर्मकी उत्पत्ति होती है। और वह धर्म मनुष्योंका अत्यन्त कल्याणकारी है। इस संसारमें अत्यन्त कीर्ति मिलती है। और परलोकमें अत्यन्त सुख मिलता है।

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते।
आचारप्रभवो धर्मः धर्मस्य प्रभुरच्युतः ॥ ९१ ॥

सब शास्त्रोंमें आचरणको सर्वप्रथम स्थान दिया है। अर्थात् आचारकी मुख्यता सर्वशास्त्रसम्मत है। आचारसे धर्मकी उत्पत्ति होती है। और धर्मके स्वामी भगवान् विष्णु हैं। अर्थात् धर्मका निर्देश भगवदाज्ञानुसार है।

मातृवत् परदाराश्च परद्रव्याणि लोष्ठवत् ।
आत्मवत् सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति ॥ ६२ ॥

दूसरेकी स्त्रीको माताकी तरह, और दूसरेके धनको पत्थर या लोहेकी तरह तथा सब प्राणियोंको अपनी आत्माकी तरह जो देखता है वही सम्यग्दृष्टि है। अर्थात् उसका देखनाही वास्तविक देखना है।

अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम् ।
आयू रक्षति मर्माणि आयुरन्नं प्रयच्छति ॥ ६३ ॥

अर्जुनकी दो प्रतिज्ञाएं हैं, एक तो किसीके आगे दीनता नहीं प्रकट करना और दूसरी प्रतिज्ञा यह है कि किसीके सम्मुख पीठ दिखाकर नहीं भागना। आयु मर्मोंकी रक्षा करती है अर्थात् विपत्तिमें आयुही बचाती है। और आयुसे ही अन्न मिलता है। अर्थात् आयु जब तक है तभी तक अन्न मिलता है।

निमग्नस्य पयोराशौ पर्वतात् पतितस्य च ।
तक्षकेणापि दष्टस्य आयुर्मर्माणिरक्षति ॥ ६४ ॥

जलकी राशि अर्थात् जलाशय समुद्र आदिमें डूबे हुए मनुष्यकी और पर्वत से गिरे हुए मनुष्यकी तथा तक्षकके द्वारा डसे गये मनुष्यकी भी आयु रक्षा करती है। अर्थात् ऐसे भयङ्कर मारक कारणभी आयु रहनेपर नहीं मार सकते हैं।

अधिकारं च गर्भं च ऋणं च श्वानमैथुनम् ।
आगमे सुखमाप्नोति निर्गमे प्राणसंकटम् ॥ ६५ ॥

अधिकार, गर्भ, और ऋण और कुत्तेका मैथुन ये प्रारम्भमें आनेपर आनन्ददायक होते हैं। और वापिस निकलते समय प्राणोंको भी संकटमें डाल देते हैं। अर्थात् अधिकारभी जब मिलता है तब तो मजा आता है परन्तु जब अधिकार जाता है तब बड़ा दुःख होता है। इसीप्रकार गर्भाधानके समय अत्यन्त आनन्द तथा प्रसवके समय कष्ट होता है। इसीप्रकार ऋण तथा कुत्तेका मैथुनभी मिलनेमें सुख तथा परित्यागमें दुःख देता है।

नमस्कारसहस्रेषु शाकपत्रं न लभ्यते ।
आशीर्वादसहस्रेषु रोमवृद्धिर्न जायते ॥ ६६ ॥

केवल हजारों नमस्कारोंसे एक शाकका पत्ताभी नहीं मिलता है। और इसीप्रकार कोरे हजारों आशीर्वादोंसे एक रोमकी भी वृद्धि नहीं होती है।

अर्थात् श्रद्धाहीन हजारों नमस्कारभी बेकार हैं उसीप्रकार भावनाहीन हजारों आशीर्वादभी निरर्थक हैं।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ ९७॥

आत्माके द्वारा स्मरणादिकसे अपने आपका उद्धार करना चाहिए। अपने आपको दुर्गतिमें नहीं पहुंचाना चाहिए। अर्थात् आत्मज्ञानसे विमुख नहीं होना चाहिए। अपना आत्माही अपना मित्र है तथा आत्माही अपना शत्रु है। अतः बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिए कि वह आत्माके द्वारा ज्ञानचिन्तनादिकोंसे अपना उद्धार करे। न कि दुष्प्रवृत्तियोंमें अपनेको लगाकर नष्ट करे।

सन्नामिव महाकीर्ति श्रद्धामिव विमानिताम्।
प्रज्ञामिव परिक्षीणां आशां प्रतिहतामिव॥ ९८॥

नष्ट हुई महान् कीर्तिकी तरह, टूटी हुई श्रद्धाकी तरह, सब प्रकारसे, क्षीण हुई बुद्धिकी तरह और नष्ट हुई आशाकी तरह। अर्थात् आशा जब नष्ट होजाती है तब सब कुछ चला जाता है। अर्थात् आशासे ही मनुष्य कार्य में रत रहता है।

तां स्मृतिमिव संदिग्धां ऋद्धिं निपतितामिव।
विहतामिव च श्रद्धां आशां प्रतिहतामिव॥ ९९॥

उसे संदेहयुक्त स्मृतिकी तरह, गिरी हुई ऋद्धिकी तरह और नष्ट हुई श्रद्धाकी तरह तथा क्षीण हुई आशाकी तरह समझो।

आयतीमिव विध्वस्तामाज्ञां प्रतिहतामिव।
दीप्तामिव दिशं काले पूजामपहतामिव॥ १००॥

नष्ट हुए उत्तरकालकी तरह, नहीं मानेगये हुक्मकी तरह और दीप्यमान दिशाकी तरह तथा नष्ट हुई पूजाकी तरह समझो।

आहारनिद्राभयमैथुनानि समानमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
एको विवेको ह्यधिको मनुष्ये तेनैव हीनः पशुभिः समानः॥ १०१॥

खाना, सोना, भय और मैथुन ये चारों बातें मनुष्य और पशुओंमें एकसीही हैं। अर्थात् ये काम दोनों समान रूपसे करते हैं। मनुष्यमें पशुओंकी अपेक्षा ज्ञानकी विशेषता है। अर्थात् मनुष्य ज्ञानवान् होना चाहिये

और पशु ज्ञानशून्य। यदि वह ज्ञान मनुष्यमें नहीं है तो मनुष्यभी पशुओंके समान है।

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च।
नेत्रवक्त्र विकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः॥ १०२॥

आकृतिसे, चेष्टाओंसे, चाल-ढालसे, इसारोंसे और वोल-चालसे तथा आंख तथा मुखके विकारोंसे मनकी वात जानी जाती है।

आकारेणैव चतुरास्तर्कयन्ति परेङ्गितम्।
गर्भस्थं केतकीपुष्पमामोदेनैव षट्पदाः॥ १०३॥

चतुर मनुष्य आकृतिसे ही दूसरोंके अभिप्रायका अन्दाजा लगा लेते हैं। जिसप्रकार छिपे हुए केवड़ेके फूलको भौंरे सुगन्धसे पहिचान लेते हैं। केवड़ेका फूल उसके कांटेदार पत्तोंसे ढका रहकर विलकुल दिखाई नहीं देता है। तथापि गन्धग्राही भौंरे उसपर मंडराते रहते हैं।

वृद्धार्कः प्रेतधूमश्च वृद्धा स्त्री थिल्लरोदकम्।
आयुष्यनाशकं नित्यं रात्रौ दध्यन्नभोजनम्॥ १०४॥

छिपता हुआ सूर्य, और मुर्देकी धुंवा वूढ़ी स्त्री और पोखरका पानी ये चीजें आयुको नष्ट करने वाली हैं। और रातको दधिके साथ अन्न खानाभी आयुको नष्ट करता है।

बालार्को यज्ञधूमश्च बाला स्त्री निर्झरोदकम्।
आयुष्यवर्धकं नित्यं दिवा क्षीरान्नभोजनम्॥ १०५॥

प्रातः कालीन सूर्य और यज्ञकी धुंवा, तरुणी स्त्री और झरनेका जल नित्य उम्रको वढ़ाने वाले हैं और दिन को दूध और अन्नका खानाभी उम्र वढ़ाता है।

आचारः परमो धर्मः आचारः परमं तपः।
आचारः परमं ज्ञानमाचारात् किं न साध्यते॥ १०६॥

पवित्र आचरणही उत्कृष्ट धर्म है। आचार उत्कृष्ट तप है। और शुद्धाचरणही सर्वोपरि ज्ञान है। आचारसे क्या नहीं सिद्ध होसकता अपितु आचारसे सवकुछ सिद्ध होजाता है।

आदावायुः परीक्षेत पश्चाल्लक्षणमुत्तमम् ।
आयुर्हीननराणां च लक्षणैः किं प्रयोजनम् ॥ १०७ ॥

सर्वप्रथम आयुकी परीक्षा करनी चाहिये। बादमें अच्छे लक्षण देखने चाहियें। जिन मनुष्योंके आयुही नहीं है उनके लक्षण-ज्ञानसे क्या लाभ। अर्थात् आयुही सर्वोपरि तत्त्व है।

आपन्नाशाय विबुधैः कर्तव्याः सुहृदोऽमलाः ।
न तरत्यापदं कश्चिद्योऽत्र मित्रविवर्जितः ॥ १०८ ॥

विद्वान् मनुष्योंको विपत्तियोंके नाश करनेके लिये अर्थात् दुःखमें सहायताके लिये शुद्ध-हृदय मित्र बनाने चाहियें। जिस मनुष्यके इस संसारमें कोई मित्र नहीं है वह किसीभी विपत्तिको पार नहीं कर सकता है।

आशायाः ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य ।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः ॥ १०९ ॥

जो मनुष्य आशाके वशीभूत होकर उसके दास बने रहते हैं वे सारे संसारके ही दास हैं। और जिनने आशाको अपना गुलाम बनालिया है, उनका सारा संसार ही दास है।

उद्यमः कलहः कण्डूर्द्यूतं मद्यं वरस्त्रियः ।
आहारो मैथुनं निद्रा सेव्यमानं विवर्धते ॥ ११० ॥

उद्योग, झगड़ा, खुजली, जुआ, शराब, सुन्दर स्त्री, भोजन, मैथुन और नींद इनका जितना सेवन किया जायगा, उतनीही इनके पुनः उपभोगकी इच्छा बढ़ेगी।

इदमेव हि पाण्डित्यं चातुर्यमिदमेव हि ।
इदमेव सुबुद्धित्वमायादल्पतरो व्ययः ॥ १११ ॥

यहही पण्डिताई है और यही चतुरता है, तथा यहही बुद्धिमानी है कि आमदनीसे कम खर्च करे।

न कूपखननं युक्तं प्रदीप्ते वह्निना गृहे ।
चिन्तनीया हि विपदामादावेव प्रतिक्रिया ॥ ११२ ॥

जब घरमें आग लग जाय तब कुआ खोदनेसे कोई लाभ नहीं है। प्रारम्भमें अर्थात् विपत्ति आनेसे पहिलेही विपत्तियोंके प्रतिकारका उपाय सोच लेना चाहिए।

अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात् ।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति कथ्यते ॥ ११३ ॥

पति और पत्नीके अन्तःकरणके सारभूत स्नेहके आश्रय होनेके कारण एक आनन्दकी गांठ है जिसको कि सन्तान कहते हैं। अर्थात् पति और पत्नीके आपसी स्नेहका कारण उनकी संतान ही है।

(इ)

इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः परमेकान्तिवेषभाक् ।
न संसारसुखं तस्य नैव मुक्तिसुखं भवेत् ॥ ११४ ॥

केवलमात्र एकान्तवादीके वेपको धारण करनेवाला इधरसे भी भ्रष्ट है और उधरसे भी भ्रष्ट है अर्थात् एकान्तीके दोनों मार्ग अवरुद्ध होजाते हैं। न तो वह संसारके सुखको ही प्राप्त कर सकता है और न उसे मोक्षका सुखही मिलता है।

सत्कुले योजयेत् कन्यां पुत्रं विद्यासु योजयेत् ।
व्यसने योजयेच्छत्रुमिष्टं धर्मेण योजयेत् ॥ ११५ ॥

कन्याको अच्छे कुलमें संयुक्त करना चाहिए। अर्थात् व्याहना चाहिए। पुत्रको विद्या पढ़नेमें लगाना चाहिए। शत्रुको विपत्तिमें फंसाना चाहिये। और मित्रको धर्ममें लगाना चाहिए।

उत्तमं प्रणिपातेन शूरं भेदेन योजयेत् ।
नीचमल्पप्रदानेन इष्टं धर्मेण योजयेत् ॥ ११६ ॥

श्रेष्ठ व्यक्तिको नम्रतासे अपना वनाना चाहिए। वहादुर आदमीको फूट पटक कर वशमें करना चाहिए। नीच मनुष्यको थोड़ा वहुत कुछ देकर खुश रखना चाहिए। और मित्रको धर्म-मार्गमें लगाना चाहिए।

(ई)

सर्वज्ञः सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति सर्वत्र ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि कर्माधीनानि विचित्रतया ॥११७॥

हे भगवन् ! सकल प्राणियों के हृदय प्रदेश में सर्वज्ञ का निवास है। और समस्त प्राणी अपने अपने कर्माधीन होकर सर्वत्र नाना प्रकार की विचित्रता से चतुर्गति में परिभ्रमण कर रहे हैं।

(उ)

उद्योगः खलु कर्तव्यः फलं मार्जारवद्भवेत्।
जन्मप्रभृति गौर्नास्ति पयः पिबति नित्यशः ॥ ११८ ॥

मनुष्यको पुरुषार्थ करना चाहिए उसका परिणाम जिस प्रकार विलाव को मिलता है उसी प्रकार उसेभी मिलेगा ही। विल्ले गाय नहीं है फिरभी जन्मसे लेकर हमेशा दूध पीता है। यह उसके उद्योगका फल है।

अश्वस्य लक्षणं वेगो मदो मातङ्गलक्षणम्।
चातुर्यं लक्षणं नार्याः उद्योगः पुरुषलक्षणम् ॥ ११९ ॥

घोड़ेका लक्षण उसकी तीव्र-गामिता है। हाथीका अच्छा चिह्न उसका मद है। स्त्रीका लक्षण चतुरता है। और पुरुषका लक्षण उद्योग है। अर्थात् ये गुण नहीं होनेपर इनको हीन समझना चाहिये।

तिथ्यन्ते वाथ भान्तेवा उत्सवान्ते च पारणम्।
कुर्यात् कृष्णार्चनान्तेवा न कुर्यान्निशि पारणम् ॥ १२० ॥

तिथिके अन्तमें वा नक्षत्रके अन्तमें या उत्सवके अन्तमें पारणा (भोजन-वृत्ति) करनी चाहिए। कृष्णकी पूजाके बाद भी पारणा करनी चाहिए। रात्रिको कभी पारणा नहीं करनी चाहिए। (पारणा उसे कहते हैं जो व्रतके बाद भोजन किया जाता है)।

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ १२१ ॥

यह मेरा है यह पराया यह विचार ओछे हृदयवाले व्यक्तियोंके हैं। जिन पुरुषोंका चरित्र अत्यन्त उदार है उनके लिये सारी पृथ्वी ही अपना परिवार है।

उत्तमा आत्मना ख्याताः पित्रा ख्यातारच मध्यमाः।
मातुलेनाधमाः ख्याताः श्वसुरेणाधमाधमाः ॥ १२२ ॥

जो अपने आप प्रसिद्ध होते हैं वे उत्तम होते हैं। जो पिताके द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं वे मध्यम हैं। मामाके द्वारा प्रसिद्ध हुए पुरुष अधम हैं। और अपने ससुरके द्वारा प्रसिद्धिको प्राप्त हुए पुरुष नीचातिनीच हैं।

उत्पद्यन्ते विलीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः।
बाल्ये वैधव्यदग्धानां कुलस्त्रीणां कुचाविव ॥ १२३ ॥

कंगाल मनुष्योंके मनोरथ योंही उत्पन्न होते हैं और योंही विलीन होजाते हैं। अर्थात् उनके मनोरथोंकी सिद्धि नहीं होती है। जिसप्रकार बचपनसे वैधव्यरूपी दुःखसे जली हुई कुलीन स्त्रियोंके स्तन योंही उठकर सूख जाते हैं।

उत्तमे तु क्षणं कोपो मध्यमे घटिकाद्वयम्।
अधमेस्यादहोरात्रं चाण्डाले मरणान्तिकः॥ १२४ ॥

श्रेष्ठ या सात्विक मनुष्यको क्षणभरही क्रोध रहता है। मध्यम या रजोगुणयुक्त मनुष्यको दो घड़ीतक क्रोध रहता है। नीच या तमोगुणवाले व्यक्तिको एक दिनरात गुस्सा रहता है। और चाण्डालके मनमें मृत्युपर्यन्त गुस्सा रहता है।

जटिलो मुण्डी लुञ्चितकेशः काषायाम्बरबहुकृतवेषः।
पश्यन्नपि च न पश्यति मूढ़ उदरनिमित्तं बहुकृतवेषः॥ १२५ ॥

जटाधारी, मुण्डन कराया हुआ, केशलुञ्चन कराया हुआ, काषाय रंगमें रंगे हुए वस्त्रोंसे नानाप्रकारके वेष धारण किया हुआ जिसने कि पेट भरनेके लिये नानाप्रकारके वेष बनारक्खे हैं ऐसा मूर्ख मनुष्य देखता हुआभी नहीं देखता है। अर्थात् अपने स्वार्थमें तत्पर रहता है।

सर्वाः संपत्तयस्तस्य संतुष्टं यस्य मानसम्।
उपानद्गूढ़पादस्य ननु चर्मावृतैव भूः ॥१२६ ॥

जिसका मन संतुष्ट है उसकेलिये सब प्रकारकी संपत्तियां अपने आप उपलब्ध रहती हैं। जैसे जूते पहिने हुए व्यक्तिके लिये सारी पृथ्वीही चमड़ेसे मढ़ी हुई के तुल्य है।

कार्यार्थी भजते लोके यावत् कार्यं न सिद्धयति।
उत्तीर्णे च परे पारे, नौकायाः किं प्रयोजनम्॥ १२७ ॥

संसार में मतलबी आदमी तवतकही खुशामद करता है जबतक उसका कार्य सिद्ध नहीं होता है। जैसे नदी आदिके दूसरे पार उतर जानेपर नौकाका कोईभी मतलब नहीं रहता है।

नौकां वै भजते तावत् यावत् पारं न गच्छति।
उत्तीर्णेतु परे पारे नौकायाः किं प्रयोजनम् ॥ १२८ ॥

मनुष्य नौकाकी आवश्यकता तभीतक समझता है जबतक कि पार नहीं जाता है। नदी आदिको पार करलेनेपर नौकाकी क्या आवश्यकता है।

नाटके भवभूतिर्वा वयं वा वयमेव वा।
उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते ॥ १२९ ॥

नाटकमें भवभूति या हम या केवल हमही विशेषता रखते हैं। परन्तु उत्तर-रामचरितके मध्य भवभूति सबसे विशिष्ट है। अर्थात् सर्वोत्कृष्ट है।

दुर्जनस्य विशिष्टत्वं परोपद्रवकारणम्।
उपोषितस्य व्याघ्रस्य पारणं पशुमारणम् ॥ १३० ॥

दूसरेके लिये उपद्रव करना, अर्थात् उसे कष्ट देना यही दुर्जन मनुष्यकी विशेषता है। जैसे उपवास किये हुए भूखे व्याघ्रकी पारणा पशुओंको मारना ही है। अर्थात् हिंसासे ही उसके उपवासकी पारणा होती है।

उभौ शुक्लौ पक्षौ भुवि वियति चाविरतगतिः
सदा मीनं भुंक्ते वसति सकलस्थाणुशिरसि।
बके सर्वश्चान्द्रो विलसति गुणः किञ्चिदधिको
गुणाः स्थाने पूज्याः नरवर न तु स्थानविकलाः ॥ १३१ ॥

चन्द्रमाके तो एक पक्ष शुक्ल होता है और दूसरा कृष्ण होता है। किन्तु वगुलेके दोनों पंख सफेद होते हैं। चन्द्रमा केवल आकाशमें विहरण कर सकता है और बगुला पृथ्वी और आकाश दोनों स्थानों पर वे रोक-टोक घूमता है। और वगुला सदा मछलियोंको खाता है और सब स्थिति-शील वृक्षादिकों पर रहता है। इसप्रकार वगुलेमें चन्द्रमाके सब गुण विद्यमान हैं और कुछ न कुछ अधिक मात्रामें ही हैं। तथापि मनुष्योंमें श्रेष्ठ हे राजन्! गुणोंकी अपनी जगहही प्रतिष्ठा होती है स्थानभ्रष्ट गुणभी शोभा नहीं देते हैं। इसलिये वगुले की कोई पूजा नहीं करता है।

उद्योगे नास्ति दारिद्रयं जपतो नास्ति पातकम् ।
मौनिनः कलहो नास्ति न भयं चास्ति जाग्रतः ॥ १३२ ॥

उद्योगमें दरिद्रता नहीं है। अर्थात् जितनाभी उद्योग किया जाय उतना ही लाभ है उद्योगमें दिवाला नहीं निकलता है। जप करनेमें कोई पाप नहीं है। मौनी मनुष्यके कोई झगड़ा नहीं है अर्थात् कोई कुछभी क्यों न कहे उसे परवाह नहीं होती है। और जागते हुए मनुष्यको कोई भय नहीं है।

उच्छिष्टं शिवनिर्माल्यं वमनं शवकर्पटः ।
काकविष्ठासमुत्पन्नाः पञ्चैतेऽत्यपवित्रकाः ॥१३३॥

उच्छिष्ठ वस्तु, शिवके पूजनमें अर्पित पदार्थ, वमन और मुर्देका कफन तथा कौएकी वीट ये पांच वस्तुएं अत्यन्त पवित्र उत्पन्न हुई हैं।

उत्फुल्लगल्लैरालापाः क्रियन्ते दुर्मुखैः सुखम् ।
जानाति हि पुनः सम्यक् कविरेव कवेः श्रमम् ॥ १३४ ॥

गालोंको फुलाये हुए दुर्मुख मनुष्य आरामसे बकवाद करते रहते हैं। परन्तु फिरभी कविही कविकी मेहनतको अच्छी तरह जानता है।

(ऊ)

कार्पासं कटिनिर्मुक्तं कौशेयं भोजनावधि ।
ऊर्णवस्त्रं सदा शुद्धं ऊर्णा वातेन शुद्धयति ॥ १३५ ॥

कमरसे पृथक् रक्खा हुआ कपासका कपड़ा शुद्ध होता है। और भोजनके समय तक रेशमी वस्त्र शुद्ध होता है। ऊनका कपड़ा सदा पवित्र होता है क्योंकि ऊन वायुके स्पर्शसे शुद्ध होता है।

(ऋ)

अपात्रे पात्रताबुद्धिः पात्रे बुद्धिरपात्रता ।
ऋणानुबन्धरूपेण दातुरुत्पद्यते मतिः ॥ १३६ ॥

अपात्रको पात्र समझ लेना अर्थात् अयोग्यको योग्य समझना और योग्य को अयोग्य समझना कर्जके अनुवन्धके अनुसार दाताको यह बुद्धि उत्पन्न होती

है। अर्थात् कर्जदार न हो वह अयोग्य और जो कर्जदार है वह ही योग्य है ऐसी दाता की समझ होती है।

(ए)

एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं नाभिनन्दति।
श्वानयोनिशतं भुक्त्वा चाण्डालेष्वभिजायते॥ १३७॥

एक अक्षरका ज्ञान देनेवाले गुरुका जो आदर नहीं करता है वह मनुष्य सौ वार कुत्तेकी योनिमें उत्पन्न होकर फिर चाण्डालोंमें पैदा होता है।

एकमेवाक्षरं यस्तु गुरुः शिष्यं प्रबोधयेत्।
पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्त्वा चानृणी भवेत्॥ १३८॥

जो गुरु एकही अक्षरभी शिष्यको सिखलाता है। वह शिष्य पृथ्वीपर ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे गुरुको समर्पित कर उऋण होसके।

एकस्तपो द्विरध्यायी त्रिभिर्गानं चतुष्पथः।
पञ्चसप्त कृषिश्चैव संग्रामं बहुभिर्जनैः॥ १३९॥

तपस्या एकही कर सकता है। अध्ययन दो मनुष्य कर सकते हैं। तीन आदमी गा सकते हैं। और चार आदमी रास्ता तय कर सकते हैं। पाँच-सात व्यक्ति मिलकर खेती कर सकते हैं। और बहुतसे मनुष्य युद्ध कर सकते हैं।

एकः पथा न गन्तव्यं न सुप्तं बाह्यमन्दिरे।
जनवाक्यं तु कर्तव्यं स्त्रीणामालोचनं विना॥ १४०॥

अकेले मनुष्यको रास्ता तय नहीं करना चाहिए। बाहरी घरमें सोना नहीं चाहिए। स्त्रियोंकी आलोचनाके बिना मनुष्योंकी बात माननी चाहिए।

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
नासत्यं च प्रियं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः॥ १४१॥

सच बोलना चाहिए और प्रिय बोलना चाहिए और अप्रिय हो तो सत्य भी नहीं बोलना चाहिए। असत्य हो तो प्रिय नहीं बोलना चाहिए। यही सनातन यानि अनादि धर्म है।

स त्वां राम! हिते युक्तं प्रत्यर्चयति सागरः।
कृते च प्रतिकर्तव्यमेष धर्मः सनातनः॥ १४२॥

हे राम ! हित साधनके लिये आपकी यह समुद्र पूजा कर रहा है। जो मनुष्य अपना उपकार करे उसका प्रत्युपकार करना ही चाहिए। यही सनातन अनादि धर्म है।

एको देवः केशवो वा शिवो वा
एका नारी सुन्दरी वा दरी वा।
एकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा
एको वासः पत्तने वा वने वा ॥ १४३ ॥

एकही देव उपास्य है या तो भगवान् कृष्ण या शंकर। स्त्री एकही होनी चाहिए या तो सुन्दरी रमणी या फिर गुफा ही। मित्र इनमेंसे एकही होना चाहिए या तो राजाही या यति-सन्यासी। निवास दोनोंमें से एकही जगह करना चाहिए या तो सुन्दर शहरमें या जंगलमें। अर्थात् अधपकी खिचड़ी नहीं रखनी चाहिए।

एको वटुर्दर्भकुशाग्रपाणि-
र्वने-वने सिंचति बालचूतान्।
आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च तृप्ता
एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा ॥ १४४ ॥

एक वालक ब्रह्मचारी जिसने डाबके कोमल अग्र-भाग हाथमें ले रक्खे हैं, वन-वनमें घूमता हुआ छोटे-छोटे आमके पेड़ोंको सींचता है। इसप्रकार आमभी सींचे गये और पितरभी तुष्ट होगये। एकही कामसे दो मतलब वन गये यह प्रसिद्ध है।

व्यालाश्रिताऽपि विफलाऽपि सकण्टकापि
वक्रापि पङ्किलभवाऽपि दुरासदापि।
गन्धेन बन्धुरसि केतकि सर्वजन्तो
एको गुणः खलु निहन्ति समस्तदोषान् ॥ १४५ ॥

हे केतकि ! अर्थात् केवड़ेके फूल तुम भयङ्कर सर्पोंसे घिरे हुए होने परभी, फल रहित होने परभी, कांटोंसे युक्त होने परभी, टेढ़ी-मेढ़ीभी, कीचड़में पैदा होने परभी और अत्यन्त दुष्प्राप्य होने परभी अपनी मधुर गन्धके कारण सबके भाई हो। अर्थात् सब तुम्हें भाईकी तरह प्यार करते हैं। क्योंकि एक गुणभी समग्र दोषोंको नष्ट कर देता है। ढक लेता है।

यत्र विद्वज्जनो नास्ति श्लाघ्यस्तत्राल्पधीरपि ।
निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते ॥ १४६ ॥

जहां विद्वान् मनुष्य नहीं होता है वहां कम अक्ल वालेकी भी खूब प्रशंसा होती है। क्योंकि जिस देशमें कोईभी पेड़ नहीं है वहां एरण्डभी सुन्दर पेड़ गिना जाता है।

कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति माम् ।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि ॥ १४७ ॥

हे कल्याणी ! यह प्रचलित कहावत मुझे लौकिक प्रतीत होती है। अर्थात् इसमें पारमार्थिकता नहीं है। यह खेदकी बात है सौ वर्षसे जीते हुए मनुष्यको भी आनन्द प्राप्त होता है।

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ १४८ ॥

जो स्थान अर्थात् मोक्ष सांख्य अर्थात् ज्ञानी मनुष्यको प्राप्त होता है वह स्थान कर्म-योगी मनुष्यभी प्राप्त कर लेता है। अतः गन्तव्य स्थानके लिये दोनोंही समान साधन हैं। इसलिये जो विवेकी मनुष्य सांख्य याने ज्ञान-योग और योग याने कर्म-योगको एक समझता है अर्थात् इनको भिन्न मानता हुआ एकका आग्रही नहीं होता है वह ही वास्तविक दृष्टि है। अर्थात् सम्यग्ज्ञानी है। अतः निष्काम कर्म करते रहना चाहिए।

एकश्चन्द्रो जगच्चक्षुर्नक्षत्रैः किं प्रयोजनम् ।
एकोऽपि गुणवान् पुत्रो निर्गुणैः किं शतैरपि ॥ १४९ ॥

गुणवान् पुत्र एकभी हो तो अच्छा होता है। गुणहीन सैकड़ों पुत्रोंसे भी क्या लाभ है ? जिस प्रकार अकेला चन्द्रमा अन्धकारको नष्ट कर देता है और संसारका चक्षु:स्थानीय है। परन्तु हजारों नक्षत्रोंसे भी कोई मतलव नहीं निकलता है।

एक एव न भुञ्जीयाद् यदीच्छेच्छुभमात्मनः ।
द्वित्रिभिर्बहुभिः सार्धं भोजनं कारयेन्नरः ॥ १५० ॥

यदि मनुष्य अपना भला चाहता है तो उसे अकेलेही कभी भोजन नहीं करना चाहिए। दो तीन या वहुतसे मनुष्योंके साथ मनुष्यको भोजन करना चाहिए।

एकः स्वादु न भुञ्जीत नैकः सुप्तेषु जागृयात्
एको न गच्छेदध्वानं नैकश्चार्थान् प्रचिन्तयेत् ॥ १५१ ॥

अकेले मनुष्यको मधुर-स्वादिष्ट भोजन नहीं करना चाहिए। सोये हुए बहुतसे मनुष्योंमें अकेलेको नहीं जागना चाहिए। एकाकी मनुष्यको कभी रास्ता तय नहीं करना चाहिए। और अकेले मनुष्यको कभी किसी विषयका विचार नहीं करना चाहिए।

एकः पापानि कुरुते फलं भुंक्ते महाजनः।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते, कर्ता दोषेण लिप्यते ॥ १५२ ॥

एक मनुष्य पाप करता है और उसका फल यानि लाभ बहुतसे आदमियोंको मिलता है। फल या लाभके पाने वाले पापके दण्डसे मुक्त होजाते हैं और पाप करने वाला पापके दोषोंसे लिप्त हो जाता है।

एकादशस्थे गोविन्दे सर्वेऽप्येकादशे स्थिताः।
किं कुर्वन्ति ग्रहाः सर्वे शनिरङ्गारको गुरुः ॥ १५३ ॥

गोविन्द भगवान्के अनुकूल रहनेपर सारे प्रतिकूल दशामें स्थित शनि, गुरु, अङ्गारक आदि सारे ग्रहभी क्या कर सकते हैं। अर्थात् कुछभी नहीं कर सकते हैं।

(औ)

शरीरे जर्जरीभूते व्याधिग्रस्ते कलेवरे।
औषधी जाह्नवीतोयं वैद्यो नारायणो हरिः ॥ १५४ ॥

शरीरके जर्जर या जीर्णशीर्ण होनेपर और शरीर रोगोंसे ग्रस्त होनेपर गंगाका जलही औषध है और नारायण भगवान्ही वैद्य हैं। अर्थात् ऐसे समय सिवा इनके कोई सहारा नहीं है।

(क)

तर्कभाषा मुखे यस्य करस्था यस्य मञ्जरी।
कण्ठे मुक्तावली यस्य तस्य वश्या मनोरमा ॥ १५५ ॥

जिसके मुखमें तर्कयुक्त भाषणकी शैली है और हाथमें गन्धयुक्त मञ्जरी है। गलेमें मोतियोंकी माला है। उसके वशमें मनोरमा स्त्री है।

दूसरा अर्थ—जिसे तर्कशास्त्र कण्ठस्थ है, अलङ्कारमञ्जरी जिसके हस्तामलकवत् है और न्यायसिद्धान्तमुक्तावली या वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली जिसके गलेमें याने कण्ठस्थ है उस विद्वान् मनुष्यके आधीन प्रौढ़मनोरमा (व्याकरण-ग्रन्थ) है।

हीनसेवा न कर्तव्या कर्तव्यो महदाश्रयः।
पयोऽपि शौण्डिनीहस्ते वारुणीत्यभिधीयते ॥ १५६ ॥

हीन (निकृष्ट) मनुष्यकी सेवा नहीं करनी चाहिए। किसी महापुरुषका ही सहारा लेना चाहिए। क्योंकि शराब बेचनेवाली स्त्रीके हाथमें यदि दूधभी होगा तो भी उसे शराबही कहेंगे। इसलिये सज्जन व महापुरुषका संग करना चाहिए।

शिरसा धार्यमाणोऽपि सोमः सोमेन शम्भुना।
तथापि कृशतां धत्ते, कष्टः खलु पराश्रयः ॥ १५७ ॥

श्वेत शिवजीके द्वारा शिरपर धारण किया गयाभी चन्द्रमा कृष्णपक्षमें क्षीण होताही है और शिवजीके ललाटमें भी हमेशाही कृषताको धारण किये रहता है। क्योंकि दूसरोंकी आधीनता बड़ी दुखः-दायिनी है।

कष्टं खलु मूर्खत्वं कष्टं खलु यौवनेषु दारिद्र्यम्।
कष्टात् कष्टतरं किं परगृहवासः परान्नं च ॥ १५८ ॥

मूर्खता कष्टदायिनी है और जवानीमें दरिद्रताभी कष्ट देनेवाली है। परन्तु कष्टसे भी अत्यन्त कष्ट-प्रद क्या है? दूसरेके घरमें रहना और दूसरेका अन्न खाना।

कर्मणोह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १५९ ॥

कर्मका तत्त्वभी जानने लायक है अर्थात् कर्म क्या वस्तु है यहभी जानना चाहिए। और विरुद्ध या निषिद्ध कर्मको भी जानना चाहिए। अकर्म यानि कर्माभाव किसे कहते हैं यहभी ज्ञातव्य है। क्योंकि कर्मकी गति बड़ी गहन है। दुरूह है।

विपत्तौ किं विषादेन संपत्तौ हर्षणेन किम्।
भवितव्यं भवत्येव कर्मणो गहना गतिः ॥ १६० ॥

दुःखमें दुःख करनेसे कुछ लाभ नहीं है। तथा सुखमें प्रसन्नतासे भी कोई फायदा नहीं है। क्योंकि जो होनहार है वह होकरही रहता है। कर्मकी गति बड़ी अज्ञेय तथा गहन है।

कलहान्तानि हर्म्याणि कुवाक्यान्तञ्च सौहृदम्।
कुराजान्तानि राष्ट्राणि कुकर्मान्तं यशो नृणाम्॥ १६१॥

बड़े-बड़े महल अन्तमें भगड़ेकी जड़ सावित होते हैं। और मित्रताभी अन्तमें गाली-गलोजसे समाप्त होती है। और बड़े राष्ट्रोंके राजाभी अन्तमें खराव होते हैं। और कीर्तिमान् मनुष्यभी अन्तमें कुकर्म करता है।

कस्य दोषः कुले नास्ति व्याधिना को न पीडितः।
व्यसनं केन न प्राप्तं कस्य सौख्यं निरन्तरम्॥ १६२॥

किसके वंशमें दोष नहीं है अर्थात् सभीके में है। और कौन रोगसे ग्रस्त नहीं हुआ है अर्थात् सभी हुए हैं। विपत्तिमें कौन नहीं फंसा अर्थात् सभी फंसे हैं। और आराम किसको निरन्तर मिला अर्थात् किसीको भी नहीं।

कोहि भारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम्।
को विदेशः सुविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम्॥ १६३॥

समर्थ या सबल मनुष्योंके लिये कुछभी भार नहीं हो सकता है। उद्योगी मनुष्योंके लिये क्या दूर है। अर्थात् कुछभी अशक्य नहीं है। अच्छे विद्वान् मनुष्योंके लिये कोई विदेश नहीं है। और प्रियवादियोंके लिये कोई पराया नहीं है। वे सबको मीठी बोलीसे अपना बनालेते हैं।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि॥ १६४॥

निष्काम-कर्मके द्वाराही जनक आदि राजर्षि सिद्धिको प्राप्त होगये हैं। इसलिये संसारकी निष्काम-कर्ममें प्रवृत्ति करानेके लियेभी हे अर्जुन तुझे निष्काम-कर्म करना चाहिए।

कस्त्वं कोऽहं कुत आयातः का मे जननी को मे तातः।
इति परिभावय सर्वमसारं सर्वं त्यक्त्वा स्वप्नविचारम्॥ १६५॥

तू कौन है, मैं कौन हूं, कहांसे आया है, कौन मेरी माता है, कौन मेरा पिता है अर्थात् यहां किसीका कोई नहीं है। इसप्रकार सबको स्वप्न समझकर

तथा छोड़कर सबको असार समझ ले। अर्थात् सब कुछ स्वप्न है, असार है, मिथ्या है।

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं संनिहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः॥ १६६॥

ये शरीर अनित्य हैं। यह सम्पत्ति तथा वैभव नित्य नहीं है। मौत हमेशा नजदीक खड़ी है। इसलिये धर्मका संग्रह करना चाहिए।

लावकश्च वराहश्च महिषी कुञ्जरस्तथा।
कर्ता कारयिता चैव षडेते समभागिनः॥ १६७॥

लावा पक्षी, सूवर, भैंस तथा हाथी, करने वाला और कराने वाला ये छहों समान रूपसे हिस्सेदार होते हैं।

कर्ता कारयिता चैव प्रेषको ह्यनुमोदकः।
सुकृतं दुष्कृतं चैव चत्वारः समभागिनः॥ १६८॥

शुभ करनेवाला तथा करानेवाला, दुष्कर्म करनेवाला और करानेवाला, शुभ कर्मके लिये भेजने वाला तथा उसका अनुमोदन करने वाला, दुष्कर्मके लिये भेजने वाला तथा उसका अनुमोदन करने वाला ये चारों समानरूप फलके भागी होते हैं।

कृते च रेणुका कृत्या त्रेतायां जानकी तथा।
द्वापरे द्रौपदी कृत्या कलौ कृत्या गृहे गृहे॥ १६९॥

सतयुगमें रेणुका कृत्या थी अर्थात् उसके कारण युद्ध हुआ। त्रेता युगमें सीता कृत्या हुई जिसकी वजहसे राम-रावण युद्ध हुआ। द्वापर युगमें द्रौपदी कृत्या थी जिसके कारण महाभारत हुआ। और कलियुगमें घर-घरमें कृत्याएँ हैं।

कर्तुमकर्तुं शक्तः सकलं जगदेतदन्यथाकर्तुम्।
यस्तं विहाय रामं कामं मा धेहि मानसान्यस्मिन्॥ १७०॥

इस सारे संसारको करनेमें नहीं करनेमें या उल्टा सीधा करनेमें समर्थ जो राम है, उस रामको छोड़कर इस (संसारमें) अपनी मनोवृत्तिको मत लगा।

कृते तु मानवा धर्मास्त्रेतायां गौतमाः स्मृताः।
द्वापरे शंखलिखितौ कलौ पाराशरस्मृतिः॥ १७१॥

सत्ययुगमें मनु द्वारा निर्मित धर्म माने गये। त्रेतायुगमें गौतम ऋषि के द्वारा निर्दिष्ट धर्म सम्मत हुए। द्वापरमें शंख और लिखित प्रामाणिक हुए। और कलियुगमें पाराशर निर्मित स्मृति प्रामाणिक मानी गई।

कविः करोति काव्यानि रसं जानन्ति पण्डिताः।
कन्यासुरतचातुर्यं जामाता वेत्ति नो पिता॥ १७२॥

कवि काव्योंको बनाता है और पण्डित लोग उनके रसको जानते हैं। जिस प्रकार कन्याके कामक्रीड़ा-चातुर्यको जंवाई जानता है पिता नहीं जानता।

वागुच्चारोत्सवं मात्रं तत् क्रियां कर्तुमक्षमाः।
कलौ वेदान्तिनो भान्ति फाल्गुने बालका इव॥ १७३॥

कलियुगमें वेदान्ती ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे फाल्गुनके महिनेमें होलिकोत्सव में नाचने-गाने वाले बच्चे प्रतीत होते हैं। क्योंकि वेदान्ती कलियुगमें केवल वाणीके उच्चारणमें वेदान्तोत्सव मनाते हैं और तदनुसार आचरण करनेमें असमर्थ रहते हैं। अर्थात् आजकल केवल वाचिक वेदान्तोही उपलब्ध होते हैं।

सुरतं तदेव सुरतं यत्नाल्लब्धं यदन्यनारीषु।
सन्तत्यै दाररतिः कण्डूशमनाय चेटिकागमनम्॥ १७४॥

जो कामक्रीड़ा विभिन्न प्रकारकी अन्य नारियोंमें बड़े प्रयत्नसे उपलब्ध होती है वही वास्तविक कामक्रीड़ा है। सन्तानके लिये स्वकीय स्त्रीके साथ मैथुन तो केवल खुजली मिटानेके लिये चेटिका (दासी) गमनके समान है। अर्थात् वह सुरत नहीं है।

आदौ नम्रः पुनर्वक्रः कार्यकाले च निष्ठुरः।
कार्यान्ते च पुनर्नम्रः शिश्नतुल्यो वणिग्जनः॥ १७५॥

प्रारम्भमें नम्र तथा झुका हुआ फिर टेढ़ा और कामक्रियाके समय अत्यन्त कठोर और मैथुन-समाप्ति पर फिर नत हुए मूत्रेंद्रियके समान वणिया मनुष्य होता है। अर्थात् वणियाभी पहिले नम्र रहता है फिर परिचयके बाद कुछ टेढ़ा होता है काम पड़ने पर अत्यन्त निष्ठुर होजाता है और काम समाप्त होनेपर फिर नम्र होजाता है।

अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।
यथा विदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः॥ १७६॥

सत्वगुणके समूह भगवान्के अवतार संख्यातीत हैं। जिसप्रकार बड़े भारी तालावसे हजारों छोटी-छोटी नालियाँ निकलती हैं।

ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः।
कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा ॥ १७७ ॥

ऋषि, मनु, देवता, मानव जो कि सभी महान् ओजस्वी हैं ये सब प्रजापति सहित भगवान्के ही अंशभूत हैं।

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे ॥ १७८ ॥

ये सब पुरुष ईश्वरके आंशिक कलाधारी हैं। और कृष्ण तो स्वयं भगवान् है। इन्द्रके शत्रु वृत्रासुर आदिसे व्याकुल संसारको प्रत्येक युगमें

वनजौ वनजौ खर्वो रामौ कृष्णः कृपोऽकृपः।
अवताराः दशैते स्युः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ॥ १७९ ॥

वामन, राम, बलराम, कृष्ण, कृपाचार्य और अकृपाचार्य ये दश अवतार हैं। कृष्ण तो स्वयं भगवान् है।

अभुक्त्वामलकं पथ्यं भुक्त्वा तु बदरीफलम्।
कपित्थं सर्वदा पथ्यं कदली न कदाचन ॥ १८० ॥

भोजन करनेसे पूर्व आँवला खाना पथ्य है। भोजनके पश्चात् बेर पथ्य है। कैथ सब समय पथ्य है। और केला कभीभी पथ्य नहीं है।

क्वचिद्दन्तालको मूर्खः क्वचिद्गानवती सती।
क्वचित् काणो भवेत् साधुः खल्वाटो निर्धनः क्वचित् ॥ १८१ ॥

जिसके दांत बड़े होते हैं वह मनुष्य कदाचित्ही मूर्ख होता है। अर्थात् दन्तुर मूर्ख नहीं होता है। और गानेवाली स्त्री कोई सी ही सती होती है। अर्थात् अच्छा गानेवाली प्रायः सती नहीं होती है। काणा मनुष्य कदाचित्ही सज्जन होता है। और खल्वाट (गंजा) कहींही निर्धन होता है। अर्थात् खल्वाट धनवान् होता है।

तमालं त्रिविधं प्रोक्तं कलौ भागीरथी यथा।
क्वचिद्धुक्का क्वचित् थुक्का क्वचिन्नासाग्रगामिनी ॥ १८२ ॥

तमाल तीन प्रकारका होता है जिस प्रकार कलियुगमें भागीरथी गंगा है। कहीं तो हुक्का है, कहीं थुक्का है और कहीं नाकके अग्रभागपर गमन करनेवाली होती है।

द्रव्याणि भूमौ पशवश्च गोष्ठे
भार्या गृहद्वारि जनः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे
कर्मानुगो गच्छति जीव एकः ॥ १८३ ॥

धन-दौलत तो जमीनमें गड़े रहजाते हैं। पशु गौशाला या पशुशालामें वंधे रहजाते हैं। अपनी धर्मपत्नी घरके दरवाजे तक सीमित रहजाती है। स्वजन श्मशान तक जाते हैं। शरीर चितामें जल जाता है। केवल अकेला जीव कर्मोंका अनुगमन करता हुआ परलोकके रास्तेसे जाता है।

क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थञ्च साधयेत्।
क्षणत्यागे कुतो विद्या कणत्यागे कुतो धनम् ॥ १८४ ॥

एक-एक क्षणमें भी विद्याकी साधना करनी चाहिए। और एक-एक कणभी इकट्ठा करके धनकी सिद्धि करनी चाहिए। क्योंकि यदि एक क्षणभी खो दिया तो फिर विद्या कहां है। और यदि कणभी व्यर्थ खोदिया तो धन कहाँ है। अर्थात् विद्यार्थीको एक-एक क्षणभी विद्याध्ययनके काममें लगाना चाहिए। और धनार्थीको एक-एक कणकाभी संचय करना चाहिए।

पथि च्युतं तिष्ठति दिष्ट रक्षितम्
गृहे स्थितं दैवहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः
कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति ॥ १८५ ॥

रास्तेमें भटका हुआभी भाग्यके रक्षक होनेपर सुरक्षित रहता है। और घरमें सुरक्षित वैठा हुआभी भाग्य यदि प्रतिकूल हो तो नष्ट होजाता है। जंगल में परित्यक्त अनाथभी जीवित रहता है। और लाख कोशिश करनेपरभी घरमें नहीं जीवित रहता है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥ १८६ ॥

हे पापरहित अर्जुन ! यह अत्यन्त छिपा हुआ रहस्यमय शास्त्र मैंने तुझे बतादिया है। इसको जानकर हे अर्जुन ! बुद्धिमान् मनुष्य कृतार्थ होसकता है।

त्यजेद्देशं कृतयुगे त्रेतायां ग्राममुत्सृजेत् ।
द्वापरे कुलमेकं तु कर्तारं च कलौ युगे ॥ १८७ ॥

सतयुगमें देशको छोड़ देना चाहिए। त्रेतामें ग्रामको छोड़ दे। द्वापरमें अपने वंशको छोड़ देना चाहिए। और कलियुगमें माता या पिताको छोड़ देना चाहिए। अर्थात् उतरोत्तर युगोंमें परित्याग कम करना चाहिए।

कंसंजघान कृष्णः काशीतलवाहिनी गङ्गा ।
के दारपोषणरताः कं बलवन्तं न बाधते शीतम् ॥ १८८ ॥

श्रीकृष्णने किसको मारा था। यह प्रश्नवाचक अर्थ हुआ है। श्री कृष्णने कंसको मार डाला। यह उन्हीं पदोंका उत्तरवाचक अर्थ होगया। शीतल-जलको बहन करनेवाली कौन है यह प्रश्न हुआ। गङ्गा यह उसका प्रत्युत्तर हुआ। अथवा काशी नगरीके तलप्रदेशमें बहनेवाली गङ्गा है। यह द्वितीय अर्थभी होता है। स्त्रीके पोषणमें कौन संलग्न हैं। यह प्रश्न हुआ। खेतके पोषणमें जो तत्पर हैं यह प्रत्युत्तर हुआ। और किस बलवान् व्यक्तिको शीत पीड़ा नहीं पहुँचाता यह प्रश्न हुआ। कंबलवाले मनुष्यको शीत नहीं पीड़ित करता है। यह इसका उत्तर होगया।

कवयः किं न पश्यन्ति किं न कुर्वन्ति योषितः ।
मद्यपाः किं न जल्पन्ति किं न भक्षन्ति वायसाः ॥ १८९ ॥

कवि लोग क्या नहीं देखते हैं। अर्थात् सब कुछ देख सकते हैं। स्त्रियां क्या काम नहीं करती हैं। अर्थात् अच्छा या बुरेसे बुरा सब कुछ कर सकती हैं। शराबी क्या नहीं बकते हैं। और कौए क्या नहीं खाते। अर्थात् अभक्ष्यको भी खालेते हैं।

चक्षुरोगी कर्णरोगी रोगी चैव कफादिभिः ।
कण्ठस्नानं प्रकुर्वीत शिरः स्नानसमं हि तत् ॥ १९० ॥

आँखके रोगीको, कानके रोगके रोगी और कफ आदिके रोग-युक्त मनुष्यको गलेतकही स्नान करना चाहिए। वही शिरके स्नानके बराबर है।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।
कृतकर्मक्षयो नास्ति कल्पकोटिशतैरपि ॥ १९१ ॥

अच्छा या बुरा जो कर्म किया है उसका फल अवश्य भोगना पड़ता है। किये हुए कर्मोंका नाश सैकड़ों करोड़ वर्षोंमें भी नहीं होता है। अर्थात् कर्मोंका नाश उनके फलोंके भोगसे ही होता है।

आश्विने कृष्णपक्षे च षष्ठ्यां भौमोऽथ रोहिणी।
व्यतीपातस्तदा षष्ठी कपिलानन्तपुण्यदा॥ १६२॥

आसोज मासके कृष्णपक्षकी षष्ठीको मंगलवार और रोहिणी नक्षत्रके होने पर व्यतीपात यदि हो तो वह कपिला षष्ठी है वह अनन्त (अपार) पुण्यदायी होती है।

मणिं वहन्ति पादाग्रे काचः शिरसि धार्यते।
क्रयविक्रयवेलायां काचः काचो मणिर्मणिः॥ १६३॥

पैरके अग्रभागमें मणिको धारण करते हैं। और काचको शिरपर धारण करते हैं। परन्तु खरीदने और बेचनेके समय काच-काचही रहता है और मणि-मणिही होती है। अर्थात् क्रयविक्रय कालमें मणिका महत्व काचकी अपेक्षा अत्यधिक या वर्णनातीत होता है।

काकः कृष्णः पिकः कृष्णः को भेदः पिककाकयोः।
वसन्तसमये प्राप्ते काकः काकः पिकः पिकः॥ १६४॥

कौवाभी काला होता है और कोयलभी काली होती है। इसप्रकार कौवे और कोयलमें क्या भेद है? अर्थात् रङ्गरूपसे दोनों समान हैं। परन्तु वसन्त ऋतुका समय आतेही कौआ-कौआही रहजाता है और कोयल-कोयलही रहती है। अर्थात् अपनी मधुर वाणीसे सबके मनको मुग्ध कर अपने और कौवेके भेदको स्पष्ट करदेती है।

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ १६५॥

मनीषी लोग फलकी अभिलाषासे किये गये वाले कार्योंके त्यागको संन्यास कहते हैं। और विद्वान् लोग काम्य, नित्य तथा नैमित्तिक सब प्रकारके कर्मोंके फल-त्यागको त्याग कहते हैं।

काकतालीयवत् प्राप्तं दृष्ट्वाऽपि निधिमग्रतः।
न स्वयं दैवमादत्ते पुरुषार्थमपेक्षते॥ १६६॥

काकतालीय-न्यायसे मिली हुई तथा स्वयं सामने उपलब्ध हुई निधि (खजाना) को भी भाग्य स्वयं ग्रहण नहीं करता है। अपितु उसमेंभी पुरुषार्थकी जरूरत रहती है। विशेष—अचानक कौआ तालके पेड़पर आया और तालका फल गिरगया इसमें (तालफल पतनमें) कौवेका आगमन कारण नहीं है। इसको काकतालीय-न्याय कहते हैं। अचानक अनायास किसी कार्यके होनेपर इसका प्रयोग किया जाता है।

मान्या गुरु विनीतस्य लक्ष्मणस्य गुरुप्रिया।
यदि सीता हि दुःखार्ता कालो हि दुरतिक्रमः॥ १९७॥

बड़ोंके सम्मुख नम्र रहनेवाले लक्ष्मणकी पूज्य और बड़े भाई श्रीरामचन्द्रजीकी प्यारी सीता यदि दुःखोंसे पीड़ित है तो स्पष्ट है कि समय बड़ा वलवान् होता है। उसका अतिक्रमण नहीं किया जासकता है।

कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः॥ १९८॥

समय सब प्राणियोंको पकाता है। अर्थात् मृत्युके नजदीक पहुंचाता है। और कालही सारी प्रजाको संहृत करता है। सव प्राणियोंके सोजानेपरभी कालही जागता रहता है। क्योंकि कालका अतिक्रमण नहीं किया जासकता है।

अपस्तरन्ति पाषाणा ह्यनुघ्नन्ति हि राक्षसान्।
कपयः कर्म कुर्वन्ति कालस्य कुटिला गतिः॥ १९९॥

पत्थर पानीपर तैरते हैं। बन्दर राक्षसोंको मारते हैं और अन्य कार्य करते हैं। क्योंकि कालकी चाल बहुत टेढ़ी है।

मातुलो यस्य कृष्णश्च पिता यस्य धनञ्जयः।
अभिमन्योर्गताः प्राणाः कालस्य कुटिला गतिः॥ २००॥

जिसका मामा भगवान् कृष्ण और पिता जिसका अर्जुन है उस अभिमन्युके प्राण चले गये। इससे स्पष्ट है कि कालकी गति वड़ी कुटिल है।

प्रातर्द्यूतप्रसङ्गेन मध्याह्ने स्त्रीप्रसङ्गतः।
रात्रौ चोरप्रसङ्गेन कालो गच्छति धीमताम्॥ २०१॥

प्रातःकाल जुएके प्रसङ्गमें अर्थात् महाभारतके अध्ययनसे दोपहरके समय

स्त्रीके प्रसङ्गमें अर्थात् रामायणके अध्ययनसे और रात्रिको चोरके प्रसङ्गमें अर्थात् श्रीमद्भागवतके अध्ययनसे वुद्धिमान् मनुष्योंका समय व्यतीत होता है। यद्यपि इस श्लोकका अर्थ स्थूल रूपसे अटपटा तथा असङ्गत मालूम देता है तथापि सूक्ष्मरूपसे विचारनेपर उपर्युक्त ढङ्गसे सङ्गति वैठ जाती है।

आयुर्नश्यति पश्यतां प्रतिदिनं याति क्षयं यौवनम्।
प्रत्यायान्ति गताः पुनर्नदिवसाः कालो जगद्भक्षकः॥
लक्ष्मीस्तोयतरङ्गभङ्गचपला विद्युच्चलं जीवितम्।
तस्मान्मां शरणागतं शरणद त्वं रक्ष रक्षाधुना॥ २०२॥

हमारी देखते-देखते प्रतिदिन आयु नष्ट होरही है, जवानी नाशको प्राप्त होरही है, गये हुए दिन फिर लौटकर नहीं आते हैं और काल संसारको खा रहा है, लक्ष्मी (धन) पानीके तरङ्गोंकी गतिकी तरह चञ्चल और अस्थायी है, और जिन्दगी विजलीको तरह चञ्चल अर्थात् क्षण-भंगुर है। इसलिए शरण देनेवाले हे भगवन्! अव शरणमें आये हुए मेरी तुम रक्षा करो रक्षा करो!!।

देवताराधनैः शास्त्रैः कालो गच्छति धीमताम्।
मूर्खाणां तु दिवारात्रं द्यूतेन कलहेन वा॥ २०३॥

वुद्धिमान् मनुष्योंका समय देवताओंकी पूजा करनेमें और शास्त्रोंको पढ़नेमें जाता है। मूर्खोंका समय तो दिनरात जुआ खेलने और लड़ाई-झगड़ेमें व्यतीत होता है।

कान्यकुब्जाः द्विजाः सर्वे मागधं माथुरं विना।
गौड़द्रविड़विख्याताः कान्यकुब्जाः सहोद्भवाः॥ २०४॥

मागध और माथुरको छोड़कर कान्यकुब्ज सवही द्विज अर्थात् ब्राह्मण हैं। साथ उत्पन्न हुए कान्यकुब्ज, गौड़, द्रविड़ इत्यादि प्रसिद्ध हैं।

काश्यां तु मरणान्मुक्तिर्जननात् कमलालये।
दर्शनादभ्रसरसः स्मरणादरुणाचले॥ २०५॥

काशीमें मरनेसे मुक्ति होती है और कमलालयमें उत्पन्न होनेसे मुक्ति होती है। अभ्रसरके देखनेसे मोक्ष होता है। अरुणाचलमें स्मरणसे मोक्ष होता है।

कालः समविषमकरः परिभवसंमानकारकः कालः ।
कालः करोति पुरुषं दातारं याचितारं च ॥ २०६ ॥

समयही समता और विषमता करनेवाला है। समयही अपमान सम्मान करानेवाला है। और कालही मनुष्यको दाता बनाता है और कालही भिखमंगा बनाता है।

पुष्पेषु चम्पा नगरीषु लङ्का
नदीषु गङ्गा च नृपेषु रामः ।
योषित्सु रम्भा पुरुषेषु विष्णुः
काव्येषु माघः कविकालिदासः ॥ २०७ ॥

फूलोंमें श्रेष्ठ चम्पा है और नगरियोंमे श्रेष्ठ लङ्का है। नदियोंमें सर्वोत्कृष्ट गङ्गानदी है। और राजाओंमें श्रेष्ठ रामचन्द्रजी हैं। स्त्रियोंमें रम्भा सर्वोत्तम है। और पुरुषोंमें सर्वोत्तम विष्णु हैं। काव्योंमें सर्वोत्तम माघ (शिशुपालवध) है। और कवियोंमें श्रेष्ठ कालिदास है।

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्रापि च शकुन्तला ।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम् ॥ २०८ ॥

काव्योंमें सुन्दर नाटक होता है। और नाटकोंमें सबसे सुन्दर शाकुन्तल नाटक है। और शाकुन्तल नाटकमें भी चौथा अङ्क श्रेष्ठ है। और चतुर्थ अङ्कमें भी चार श्लोक अत्यन्त सुन्दर हैं। अर्थात् अत्यन्त काव्यगुणसम्पन्न हैं।

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया ।
पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या ॥

अस्मान्साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मनः ।
शुश्रूषस्व गुरुन् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने ॥ २०९ ॥

आज शकुन्तला जायेगी इसलिये मेरा हृदय उत्कण्ठासे आकुलसा होरहा है। जो शकुन्तला हमारे जल पीये विना स्वयं जलभी नहीं पीती थी। (अब शकुन्तलाको उपदेश कररहे हैं) हे शकुन्तले ! संयमही धन जिनका ऐसे हम लोगोंका अच्छी प्रकार ध्यान रखकर और अपने उच्चकुलके अनुसार गुरुओं की सेवा करना और अपनी सौतोंके साथ प्रिय सखियों जैसा व्यवहार करना। अर्थात् सौतियाडाह मत करना।

कालें वाप्यथवाऽकाले सन्ध्यावन्दनतत्परः ।
अविद्यो वा सविद्यो वा ब्राह्मणो मामकी तनुः ॥ २१० ॥

समय पर अथवा विना समयके जो ब्राह्मण सन्ध्यावन्दनमें लगा रहता है चाहे वह ब्राह्मण पढ़ालिखा हो चाहे विद्याहीन हो वह मेराही अंशभूत है ।

आदौ नम्राः पुनर्वक्राः स्वीयकार्येषु तत्पराः ।
कार्यान्ते च पुनर्वक्राः काण्वास्तु प्राणघातकाः ॥ २११ ॥

प्रारम्भमें नम्र फिर टेढ़े और अपना काम वनानेमें लगे हुए और कार्यकी समाप्ति पर फिर टेढ़े इसप्रकार काण्व तो प्राणघातक हैं ।

कालरात्रिर्महारात्रिर्मोहरात्रिश्च दारुणा ।
त्वं श्रीस्त्वमीश्वरी त्वं ह्रीस्त्वं बुद्धिर्बोधलक्षणा ॥ २१२ ॥

कालरात्रि (दीपावली) महारात्रि (शिवरात्रि) और मोहरात्रि (गोकुलाष्टमी) और दारुणा अर्थात् (होलिका पूर्णिमा) तुम लक्ष्मीरूप तुमही ईश्वरीयरूप और तुमही लज्जारूप और तुमही ज्ञानस्वरूप बुद्धि हो ।

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा ॥ २१३ ॥

काव्य और शास्त्रोंके मननमें बुद्धिमान् मनुष्योंका समय व्यतीत होता है । और मूर्खोंका समय नानाप्रकारके व्यसनोंमें, नींदमें या झगड़ेमें व्यतीत होता है ।

न भिक्षा दुर्भिक्षे मिलति दुरवस्थाः कथमृणं
लभन्ते कर्माणि द्विजपरिवृढान् कारयतु कः ।
अदत्त्वैव ग्रासं ग्रहपतिरसावस्तमयते
क्व यामः किं कुर्मो गृहिणि गहना जीवनविधिः ॥ २१४ ॥

अकालके समय भीखभी नहीं मिलती है । खराव हालतमें ऋणभी कैसे प्राप्त होसकता है । विद्वान् तथा कर्मकाण्डी ब्राह्मणोंसे यज्ञ-यागादि कर्म कौन करायेगा । ग्रहोंके राजा सूर्य ग्रास अर्थात् भोजन दिये विनाही अस्त होजाते हैं । हे गृहस्वामिनि ! कहां जायं ? क्या करें ? यह जिन्दगी वड़ी कठिन है ।

विजेतव्या लङ्का चरणतरणीयो जलनिधि-
विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः ।
तथाप्येको रामः सकलमजयद्राक्षसकुलं
क्रियासिद्धिः सत्वे वसति महतां नोपकरणे ॥ २१५ ॥

लङ्काको जीतना है, समुद्रको चरणोंसे तैरना है और प्रतिपक्षी रावण है और सहायक संग्राम भूमिमें केवलमात्र बन्दर हैं । तो भी अकेले रामचन्द्र-जीने समग्र राक्षसके समूहको अर्थात् वंशको जीत लिया । कार्यसिद्धि महान् व्यक्तियोंके मानसिकवल तथा सत्त्वगुणके अधीन है । केवल साधनोंके अधीन नहीं है ।

रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्ततुरगा
निरालम्बो मार्गश्चरणविकलः सारथिरपि ।
रविर्यात्येवान्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसः
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥ २१६ ॥

रथके एकही चक्का है, सात घोड़ेभी सर्पसे नियन्त्रित हैं, बिना सहारे का रास्ता है, और सारथिभी चरणोंसे रहित है । तो भी सूर्य प्रतिदिन अपार आकाशके पार पहुंच जाता है । इससे सिद्ध है कि महान् व्यक्तियोंके कार्यकी सिद्धि सत्वगुण या मानसिक बलके अधीन है । केवल साधनोंके अधीन नहीं है ।

घटो जन्मस्थानं मृगपरिजनो भूर्जवसनम्
वने वासः कन्दैरशनमपि दुस्थं वपुरिदम् ।
अगस्त्यः पाथोधिं यदकृत कराम्भोजकुहरे
क्रियासिद्धिः सत्वे वसति महतां नोपकरणे ॥ २१७ ॥

घड़ेसे जिनकी उत्पत्ति हुई है, हरिण आदि जंगली जानवरही जिनके सम्बन्धी हैं, भोजपत्रही जिनके वस्त्र हैं, जंगलमें जिनका निवास है और कन्द-मूल आदि जिनका भोजन है, तथा यह शरीर जिनका बहुत दुरवस्थामें है । ऐसे अगस्त्य महर्षिने हाथरूपी कमलके सम्पुटमें अर्थात् एक चुल्लूमें समुद्र को आत्मसात् करलिया । अर्थात् एक चुल्लूमें पी लिया । महान् व्यक्तियोंके कार्योंकी सिद्धि मनोवल व सत्वगुणके आधीन है साधनोंके आधीन नहीं ।

धनुः पौष्पं मौर्वी मधुकरमयी चञ्चलदृशां
दृशां कोणो वाणः सुहृदपि जड़ात्मा हिमकरः।
स्वयं चैकोऽनङ्गः सकलभुवनं व्याकुलयति
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥ २१८ ॥

जिसका धनुष पुष्पोंका है और भंवरोंकी प्रत्यञ्चा जिसके हैं और जिसका चञ्चल नेत्रोंवाली स्त्रियोंके नेत्रोंका कोणही वाण है और जिसका मित्र अचेतनस्वरूपवाला चन्द्रमा है, और वह कामदेव खुद अकेला और अङ्गविहीन है तो भी समग्र संसारको त्रस्त किये हुए है। महापुरुषोंकी कार्यसिद्धि सत्वगुण व मनोवलके आधीन रहती है। साधनोंके आधीन नहीं।

विपक्षः श्रीकण्ठो जडतनुरमात्यः शशधरो
वसन्तः सामन्तः कुसुममिषवः सैन्यमबलाः।
तथापि त्रैलोक्यं जयति मदनो देहरहितः
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥ २१९ ॥

जिसके विरोधी स्वयं भगवान् श्रीकण्ठ हैं, अचेतन शरीरधारी चन्द्रमा जिसका मन्त्री है, वसन्तऋतु जिसका सामन्त अर्थात् जागीरदार है, फूलही जिसके वाण-स्थानीय हैं और स्त्रियांही जिसकी सेना है। तो भी देहरहित कामदेवने त्रिलोकीको जीत रक्खा है। महापुरुषोंके कार्यकी सिद्धि मनोवल तथा सत्वगुणके आश्रित रहती है। साधनों पर निर्भर नहीं है।

किं तया सुमहत्यापि श्रिया देशान्तरस्थया।
रिपवो यां न पश्यन्ति सुहृद्भिर्या न मुच्यते ॥ २२० ॥

दूसरे देशमें अवस्थित अत्यन्त महान् उस लक्ष्मीसे क्या लाभहै? जिसे शत्रु देख नहीं सकते हैं और मित्र जिसे छोड़ते नहीं हैं। अर्थात् उस सम्पत्तिका न तो स्वयं उपभोग कर सकते हैं और न दुश्मनही उसे देखकर जल सकते हैं।

क्रियायास्तु गुणालाभे क्रियामन्यां प्रयोजयेत्।
पूर्वस्यां शान्तवेगायां न क्रियासङ्करो हितः ॥ २२१ ॥

नोटः—यह श्लोक वैद्यकशास्त्रका है और यहाँ क्रिया-पदसे चिकित्सा अर्थ लिया गया है।

एक चिकित्सा करनेसे जव फायदा नहीं मालूम दे तव दूसरा उपचार

प्रयोगमें लाना चाहिए। परन्तु पूर्व चिकित्साके वेगको शान्त होजाने देना चाहिए। दो या तीन चिकित्साओंका साङ्कर्य (संयोग) हितकारी नहीं होता हे।

को निर्दग्धस्त्रिपुररिपुणा कश्च कर्णस्य हन्ता
नद्याः कूलं विघटयति कः कः परस्त्रीरतश्च।
कः संनद्धो भवति समरे भूषणं किं कुचानाम्
किं दुःसङ्गाद्भवति महतां मानपूजाऽपहारः ॥ २२२ ॥

त्रिपुरासुरके शत्रु महादेवजीने किसको जलाया था ? अर्थात् कामको जलाया था, कर्णका मारनेवाला कौन था अर्थात् अर्जुनने कर्णको मारा था, नदीके तटको कौन तोड़ता है ? अर्थात् पानीका प्रवाह तोड़ता है और दूसरेकी स्त्रियोंमें संलग्न कौन है ? अर्थात् कामी मनुष्य। संग्राममें लड़नेको तत्पर कौन होता है ? अर्थात् शूरवीर मनुष्य और स्तनोंका आभूषण क्या है ? काठिन्य, महापुरुषोंकी इज्जत तथा प्रतिष्ठा खराब सङ्गतिसे नष्ट होजाती है। इसलिये कहा है—बड़े आदमियोंको दुःसङ्गसे क्या होता है ? उनकी पूजा तथा प्रतिष्ठाका नाश।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २२३ ॥

वे मनुष्य उस विशाल स्वर्गलोकके सुखोंका उपभोगकर पुण्योंके क्षीण होजानेपर मनुष्यलोकमें पुनः लौट आते हैं। इसप्रकार वेदत्रयीके धर्मको पालन करते हुए फलभोगेच्छु जीवन-मरणसे मुक्त नहीं होते हैं।

क्षीणपुण्यां चिताभूमौ तारां निपतितामिव।
चारित्रव्यपदेशाढ्यां भर्तृदर्शनदुर्गताम् ॥ २२४ ॥

श्मशान-भूमिमें गिरी हुई, क्षीण होगये पुण्य जिसके ऐसी ताराकी तरह चारित्रके नामसे सम्पन्न और पतिको देखनेसे दुर्गतिको प्राप्त हुई सी वह थी।

क्षीरेण दग्धजिह्वस्तक्रं फूत्कृत्य पामरः पिबति।
दम्भिनमवलोक्य जनस्तद्वन्मां शङ्कते त्वया त्यक्तम् ॥ २२५ ॥

दूधसे जीभ जला हुआ मूर्ख मनुष्य छाछको फूंक-फूंक कर पीता है। उसी प्रकार मनुष्य तेरे द्वारा छोड़े गये मुझ अभिमानीको देखकर शङ्कित होते हैं।

लक्ष्मीर्लक्षणहीनेषु कुलहीने सरस्वती।
कुपात्रे रमते नारी गिरौ वर्षति माधवः ॥ २२६ ॥

लक्षणहीन मनुष्योंके यहां लक्ष्मीका निवास रहता है, और कुलहीन अर्थात् अकुलीन मनुष्यमें सरस्वतीका वास है, कुपात्र अर्थात् दुर्जन-मनुष्यसे स्त्री सन्तुष्ट रहती है और इन्द्रभी पहाड़पर वर्षा करता है। अर्थात् ये सब बातें अनुपादेय हैं। इनसे कोईभी लाभ नहीं होता है।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ २२७ ॥

कुन्तीके पुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय नामक शंखको बजाया, नकुल और सहदेवने सुघोष और मणिपुष्पक नामक शंखोंको बजाया।

यत्रात्मीयो जनो नास्ति भेदस्तत्र न विद्यते।
कुठारैर्दण्डनिर्मुक्तैर्भिद्यन्ते तरवः कथम् ॥ २२८ ॥

जहां अपना निजी आदमी नहीं है वहां भेद नहीं होसकता है। दण्ड-रहित कुल्हाड़ोंसे वृक्षोंका भेदन कैसे होसकता है? अर्थात् कदापि नहीं।

जगन्मातर्मातस्तव चरणसेवा न रचिता
न वा दत्तं देवि द्रविणमपि भूयस्तव मया।
तथापि त्वं स्नेहं मयि निरुपमं यत् प्रकुरुषे
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ॥ २२९ ॥

हे संसारकी माता मेरी माता! तेरे चरणोंकी सेवाभी मुझसे नहीं होसकी, हे देवि! तेरा धनभी मैंने नहीं दिया। तो भी तुम मुझपर अत्यन्त अनुपम स्नेह रखती हो। पुत्र कपूत हो सकता है तो भी माता कभी कुमाता नहीं होती है।

कुग्रामवासः कुलहीनसेवा, कुभोजनं क्रोधमुखी च भार्या।
मूर्खश्च पुत्रो विधवा च कन्या, विनाग्निना संदहते शरीरम् ॥ २३० ॥

खराब गांवमें रहना, अकुलीन मनुष्यकी नौकरी करना, खराब भोजन

करना और गुस्सेल स्त्री तथा मूर्ख पुत्र और विधवा कन्या ये सब बिना अग्निके ही शरीरको जला देते हैं।

अप्यग्रणीमन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते।
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः॥ २३१॥

डाबके अग्रभागकी तरह पैनी है बुद्धि जिसकी ऐसे हे कौत्स! जिस प्रकार सूर्यसे समग्र संसार चैतन्य प्राप्त करता है उसी प्रकार जिन गुरु महाराजसे तुमने सारा ज्ञान प्राप्त किया है और जो मंत्ररचयिता ऋषियोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं वे तुम्हारे गुरुवरतन्तुऋषि कुशल पूर्वक तो हैं।

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चोरे भग्नव्रते शवे।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः॥ २३२॥

ब्रह्म हत्या करनेवालेका, शराब पीनेवालेका चोरका, भग्न होगया है व्रत जिसका और मुर्देका प्रायश्चित्तसे सज्जन मनुष्योंने छुटकारा बतलाया है। परन्तु कृतघ्नका छुटकारा कभी नहीं होता। अर्थात् कृतघ्नता सबसे भयङ्कर पाप है।

कृतापचारोऽपि परैरनाविष्कृतविक्रियः।
असाध्यं कुरुते कोपं प्राप्ते काले गदो यथा॥ २३३॥

किया गया है अपकार जिसका तथा जिसने बाहिर किसी प्रकारके विकारको प्रकट नहीं किया है ऐसा शत्रु समय पाकर असाध्य क्रोध करता है। अर्थात् फिर उसके क्रोधका प्रतिकार नहीं किया जा सकता। जैसे अपथ्य आदिके द्वारा बढ़ा हुआ जिसने बाहर स्पष्ट किसी प्रकारके विकृत लक्षण प्रकट नहीं किये हैं ऐसा रोग समय पाकर कालान्तरमें असाध्यरूपसे कुपित होता है वैसे ही उस शत्रुको समझना चाहिए।

कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा।
एते त्वंशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्॥ २३४॥

प्रजापति सहित सब भगवान्के ही कलारूप अंश हैं। ये सब पुरुष आंशिक कलारूप हैं। और कृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं। भग अर्थात् ऐश्वर्यादि छै वस्तुओंको भग कहते हैं।

कहा है—ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणाः॥

न हि ज्येष्ठस्य ज्येष्ठत्वं गुणैर्ज्येष्ठत्वमुच्यते ।
केतकी गुरुपत्रेभ्यो लघुपत्रस्य गौरवम् ॥ २३५ ॥

केवल वड़े होनेसे ही वड़ेका वड़प्पन नहीं होता है। गुणोंसे ही वड़प्पन होता है। जैसे केतकीके वड़े पत्तोंकी अपेक्षा छोटे पत्तोंका जिनमें कि गन्ध रहती है ज्यादा महत्व रहता है।

श्रेष्ठता जन्मनानैव गुणैः श्रेष्ठत्वमुच्यते ।
केतकीवरपत्रेभ्यो लघूनामेव गौरवम् ॥ २३६ ॥

केवल जन्मसे श्रेष्ठता नहीं होती है। गुणोंसे ही श्रेष्ठता मानी जाती है। केतकीके वड़े पत्तोंकी अपेक्षा छोटे सुगन्धित पत्तोंका ही ज्यादा महत्व होता है।

रे रे वानर को भवानहमरे त्वत्सूनुहन्ता ह वै
दूतोऽहं खरखण्डनस्य जगतां कोदण्डदीक्षागुरोः ।
मद्दोर्दण्डकठोरताड़नविधौ को वा त्रिकूटाचलः
को मेरुः क्व च रावणस्य गणना कोटिस्तु कीटायते ॥ २३७ ॥

अरे वानर! आप कौन हैं? हे शत्रु! मैं संग्राममें तेरे पुत्रको मारने वाला हूं। खरको नष्ट करनेवाले संसारको धनुर्विद्या सिखानेवाले रामका मैं दूत हूं। मेरे कठोर भुजदण्डोंसे टकरानेमें त्रिकूट पर्वतभी समर्थ नहीं है। मेरुपर्वतभी कुछ चीज नहीं है। रावणकी तो गिनतीही क्या है। करोड़ों रावणभी कीड़े-मकोड़ेके समान हैं।

को नरकः परवशता किं सौख्यं सर्वसङ्गविरतिर्या ।
किं सत्यं भूतहितं किं प्रेयः प्राणिनामसवः ॥ २३८ ॥

नरक क्या है? परतन्त्रताही नरक है। आनन्द क्या है? सब प्रकारके संगका त्याग। सत्य क्या है? जो प्राणिमात्रके लिये हितकारक हो। और प्रिय क्या है? प्राणिमात्रके प्राणही सर्वप्रिय हैं। 'अहिंसा परमो धर्मः, इस उक्तिके अनुसार प्राणिमात्रके प्राणरक्षामें तत्पर रहना चाहिए।

को धर्मो भूतदया किं सौख्यमरोगिता जगति जन्तोः ।
कः स्नेहः सद्भावः किं पाण्डित्यं परिच्छेदः ॥ २३९ ॥

धर्म क्या है? प्राणियोंपर दया करनाही धर्म है। सुख क्या है?

संसारमें मनुष्यका नीरोग रहनाही सर्वोपरि सुख है। स्नेह क्या है ? अच्छे भाव या विचारही स्नेह है। पण्डिताई क्या है ? सब प्रकारके झंझटोंसे मुक्तिही पाण्डित्यहै।

वेदान्तवाक्येषु सदा रमन्तो भिक्षान्नमात्रेण च तुष्टिमन्तः।
विशोकमन्तःकरणे रमन्तः कौपीनवन्तः खलुभाग्यवन्तः॥ २४०॥

जो वेदान्तके वाक्योंमें सदा रमण करते रहते हैं और भिक्षाके अन्न मात्रसे ही जो संतोष रखते हैं सब प्रकारके शोकादिका परित्यागकर जो अन्तः करणमें ही प्रसन्न रहते हैं और जो कौपीन धारण किये रहते हैं ऐसे महापुरुष भाग्यशाली हैं।

(ख)

निर्विषेणापि सर्पेण कर्तव्या महती फणा।
विषं भवतुमाभवतु फटाटोपो भयङ्करः॥ २४१॥

निर्विष सर्पको बड़ा भारी फण तो डरानेके लिये रखनाही चाहिए। विष हो चाहे न हो किन्तु फणका आरोप तो भयङ्करही होसकता है।

खलसख्यं प्राङमधुरं वयोऽन्तराले निदाघदिनमन्ते।
एकादिमध्यपरिणतिरमणीया साधुजनमैत्री॥ २४२॥

दुष्टकी मित्रता प्रारम्भहीमें मीठी या आनन्द देनेवाली होती है। उम्र मध्यमें हो आनन्द देती है अर्थात् युवावस्थामें आनन्द प्राप्त होता है। और गर्मीके दिन अन्तमें अर्थात् सांयकालके समयही आनन्ददायक होते हैं। किन्तु केवल मात्र सज्जन पुरुषोंके साथ कीगई मित्रता प्रारम्भ, मध्य और अन्तमें भी सुन्दर होती है। अर्थात् एकसी रहती है और आराम देती है।

(ग)

अधः पश्यसि किं बाले तव किं पतितं भुवि।
रे रे मूढ़ न जानासि गतं तारुण्यमौक्तिकम्॥ २४३॥

हे बाले ! नीचेकी ओर क्या देख रही है तेरा पृथ्वीपर क्या गिर गया है ? अरे मूर्ख ! तू नहीं जानता है। मेरा जवानी रूपी मोती खोगया है।

भवितव्यं भवत्येव नारिकेलफलाम्बुवत् ।
गन्तव्यं गतमित्याहुर्गजभुक्तकपित्थवत् ॥ २४४ ॥

जैसे नारियलके फलमें पानी होताही है उसी प्रकार जो होना होता है वह होताही है। और जानेवाली वस्तु गई हुईही है जैसे हाथीके द्वारा खाया गया कैथका फल।

समायाति यदा लक्ष्मीर्नारिकेलफलाम्बुवत् ।
विनिर्याति यदा लक्ष्मीर्गजभुक्तकपित्थवत् ॥ २४५ ॥

जब लक्ष्मी आती है तब नारियलके फलमें पानीकी तरह आती है। जैसे नारियलका फल कितनाभी कठोर क्यों न हो उसमें पानी रहता है। उसी प्रकार लक्ष्मी यदि आनी होती है तो आती है। और जब लक्ष्मी जाती है तब हाथीके द्वारा खाये गये कैथकी तरह अचानकही जाती है। अर्थात् उपाय सहस्रभी उसे नहीं बचा सकते हैं।

तासां मध्ये महाबाहुः शुशुभे राक्षसेश्वरः ।
गोष्ठे महति मुख्यानां गवां मध्ये यथा वृषः ॥ २४६ ॥

उन स्त्रियोंके बीचमें दीर्घ भुजाओंवाला राक्षसोंका राजा रावण सुशोभित हुआ। जिसप्रकार बड़ी भारी गोशालामें बड़ी तथा प्रधान गायोंके बीच बैल (सांड) सुशोभित होता है।

गतानुगतिको लोकः कुट्टिनीमुपदेशिनीम् ।
प्रमाणयति नो धर्मे यथा गोघ्नमिति द्विजम् ॥ २४७ ॥

संसार गतानुगतिक है। अर्थात् भेड़ाचालकी तरह अनुकरणशील है। जिसप्रकार गौको मारनेवाले ब्राह्मणको धर्मके विषयमें प्रामाणिक नहीं मानता है। उसी प्रकार उपदेश देनेवाली कुट्टिनीको भी धर्ममें प्रामाणिक नहीं मानता है।

एकस्य कर्म संवीक्ष्य करोत्यन्योऽपि गर्हितम् ।
गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः ॥ २४८ ॥

एक मनुष्यके कार्यको देखकर दूसराभी वैसाही कुत्सित काम करता है। क्योंकि संसार गतानुगतिक है अर्थात् देखा-देखी काम करनेवाला है। संसार वास्तविक नहीं है। अर्थात् वास्तविकताकी तरफसे उदासीन रहता है।

गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः ।
वालुकालिङ्गमात्रेण गतं मे ताम्रभाजनम् ॥ २४९ ॥

संसार देखादेखी पीछे चलने वाला होता है; वास्तविक नहीं है अर्थात् सचाईसे दूर है । वालू-मिट्टीके आलिङ्गनमात्रसे ही मेरे तांबेका वर्तन चला गया ।

गतश्रीर्गणिकां द्वेष्टि गतायुश्च चिकित्सकान् ।
गतश्रीश्च-गतायुश्च ब्राह्मणान् द्वेष्टि भारत ॥ २५० ॥

धनहीन व्यक्ति वेश्याओंसे द्वेष करता है और आयुरहित अर्थात् मरणासन्न रोगी चिकित्सा करनेवालोंसे अर्थात् वैद्य-हकीम आदिसे द्वेष करता है और धनहीन और आयुहीन व्यक्ति हे भारत ! ब्राह्मणोंसे द्वेष करता है । अर्थात् उन्हें शक्तिहीन कहकर बुराभला कहता है ।

अशनं वसनं वासो यस्य काश्याममार्गतः ।
कीकटेन समा काशी गङ्गाऽप्यङ्गारवाहिनी ॥ २५१ ॥

भोजन, वस्त्र और निवास-स्थान ये तीनों चीजें जिसे काशीमें उपलब्ध नहीं हैं; उसके लिये काशी कीकटके समान हेय है । और गङ्गाभी अङ्गारों को वहन करनेवाली है ।

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च ।
पञ्चैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥ २५२ ॥

उम्र, कर्म और धन, विद्या और मौत ये पांच चीजें गर्भमें स्थित मनुष्य के ही विधाता बना देता है । अर्थात् आयु आदि पांच बातें पुरुषार्थके द्वारा घटाई-वढ़ाई नहीं जा सकतीं ।

गलच्चक्षुर्मिलज्जानुः प्रस्खलंश्च पदे पदे ।
मक्षिकालक्षसंयुक्तो महतद्दुर्विराजते ॥ २५३ ॥

गले हुए अर्थात् गीड़से भरे हुए हैं नेत्र जिसके, मिले हुए हैं घुटने जिसके और पग-पग पर गिरता पड़ता लाखों मक्खियोंसे घिरा हुआ यह महत दुःशोभा दे रहा है ।

सन्त एव सतां नित्यमापदुद्धरणक्षमाः ।
गजानां पङ्कमग्नानां गजा एव धुरन्धराः ॥ २५४ ॥

सज्जन पुरुषोंका सज्जनही आपत्तिसे उद्धार करनेमें समर्थ होसकते हैं। जैसे कीचड़में गड़े हुए हाथियोंको भारवाही हाथीही कीचड़से निकाल सकते हैं।

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणीगृहमुच्यते ।
गृहं तु गृहिणी हीनं कान्तारमिति मन्यते ॥ २५५ ॥

विद्वान् लोग केवल भवनमात्रको ही घर नहीं कहते हैं। गृहस्वामिनी ही वस्तुतः घर है। गृहस्वामिनीसे रहित घर भयानक जंगल समझते हैं।

खादन्न गच्छामि हसन्न जल्पे गतं न शोचामि कृतं न मन्ये ।
द्वाभ्यां तृतीयो न भवामि राजन् किं कारणं भोज भवामि मूर्खः ॥ २५६ ॥

खाते हुए चलता नहीं हूं, हंसता हुआ बोलता नहीं हूं, गई हुई बातको विचारता नहीं हूं अर्थात् उसके विषयमें चिन्ता नहीं करता हूं और किये हुए कार्यके लिये अभिमान नहीं करता हूं और जहां दो मनुष्य एकान्तमें बैठेहों वहां जाकर तीसरा नहीं होता हूं अर्थात् वहां नहीं जाता हूं। फिर हे राजा भोज ! मेरे मूर्ख होनेका क्या कारण है ? अर्थात् ये काम करनेवाला मूर्ख होता है।

गतशोको न कर्तव्यो भविष्यं नैव चिन्तयेत् ।
वर्तमानेषु कार्येषु वर्तयन्ति विचक्षणाः ॥ २५७ ॥

गये हुए विषयपर दुःख नहीं करना चाहिए, भविष्यकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए, विद्वान् मनुष्य वर्तमानकालमें होनेवाले कामोंमें ही दिलचस्पी लेते हैं।

गृहासक्तस्य नो विद्या नो दया मांसभोजिनः ।
द्रव्यलुब्धस्य नो सत्यं स्त्रैणस्य न पवित्रता ॥ २५८ ॥

जिस मनुष्यकी घरमें आसक्ति होती है वह विद्या नहीं प्राप्त कर सकता है, मांस खानेवालेके हृदयमें दया नहीं होती है, धनका लोभी सच नहीं बोलता है और स्त्रीमें रत मनुष्यमें पवित्रता नहीं होती है।

गतास्ते दिवसा राजन् देवाः सेवानुवर्तिनः ।
दशाननदशां पश्य तरन्ति दृषदोऽम्भसि ॥ २५९ ॥

जब देवताभी सेवामें लगे रहते थे हे राजन् ! वे दिन चले गये हैं। रावणकी हालत देखो। पानीमें शिलाएंभी तैरती हैं अर्थात् रावणकी मौत

आनेपर रामचन्द्रजीके द्वारा समुद्रपर पुल बांधते समय पत्थरभी पानी पर तैरने लगे थे ।

गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते पितृवंशो निरर्थकः ।
वसुदेवं परित्यज्य वासुदेवमुपासते ॥ २६० ॥

गुणोंकी सब जगह पूजा होती है, पिताके वंशका कोई महत्व नहीं जैसे वसुदेवको छोड़कर गुणोंके कारण भगवान् कृष्णकी सब उपासना करते हैं ।

गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते दूरेऽपि वसतां सताम् ।
केतकीगन्धमाघ्रातुं स्वयं गच्छन्ति षट्पदाः ॥ २६१ ॥

दूर रहनेवालेभी सज्जन पुरुषोंके गुण सब जगह पूजे जाते हैं । जैसे भौंरे केतकीकी सुगन्धको सूंघनेके लिये स्वयं जाते हैं ।

गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते न महत्योऽपि सम्पदः ।
पूर्णेन्दुः किं तथा वन्द्यो निष्कलङ्को यथा कृशः ॥ ३६२ ॥

गुणोंकी सब जगह पूजा होती है वड़ी-वड़ी सम्पदाओंकी भी नहीं होतीं है । क्या पूर्णिमाके चन्द्रमाको कोई उस प्रकार नमस्कार करता है ? जिस प्रकार कलङ्कहीन दुबले प्रतिपच्चन्द्रको नमस्कार करता है । अर्थात् कोई नहीं ।

गुणिनि गुणज्ञो रमते नागुणशीलस्य गुणिनि परितोषः ।
अलिरेति वनात् कमलं न दर्दुरस्त्वेकवासोऽपि ॥ २६३ ॥

गुणवान्से गुणवान्ही प्रसन्न रहता है और उसके साथ रहता है । गुणहीनको गुणवान्से संतोष या प्रसन्नता नहीं होती है । भौंरा जंगलसे कमलके पास आता है और मेंढक कमलके साथ इकठ्ठा रहता हुआ भी उससे सन्तुष्ट नहीं होता है ।

गुरवो वहवः संति शिष्यवित्तापहारकाः ।
दुर्लभः स गुरुर्लोके शिष्यचित्तापहारकः ॥ २६४ ॥

शिष्यके धनको हरण करनेवाले गुरु वहुत हैं परन्तु शिष्यके चित्तको वशमें करनेवाला गुरु संसारमें वहुत मुश्किल है ।

गुणवानपि नोपयाति पूजाम्
पुरुषः सत्पुरुषैरकथ्यमानः ।

नहि सौरमणिः स्वभावकान्ति
रविपादैरनधिष्ठितः करोति ॥ २६५ ॥

सज्जन पुरुषोंके द्वारा नहीं कहा गया अर्थात् अप्रशंसित गुणवान् व्यक्ति भी पूजा प्रतिष्ठाको प्राप्त नहीं कर सकता है। जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंसे असंयुक्त सूर्यकान्त-मणि अपनी स्वाभाविक कान्तिको नहीं प्रकट करसकती हैं।

गुणिनोऽपि सन्ति बहवो गुणवेत्तारः सुदुर्लभा जगति।
हिमकरकररसरसने रसनाचतुराश्चकोरका एव ॥ २६६ ॥

गुणवान्भी बहुत हैं परन्तु गुणोंको जाननेवाले अत्यन्त दुर्लभ हैं। जैसे चन्द्रमाकी किरणोंके रसको चखनेमें चतुर सुन्दर जिह्वावाले चकोर ही हैं।

गुणैरुत्तुङ्गतां याति नोच्चैरासनसंस्थितः।
प्रासादशिखरस्थोऽपि काकः किं गरुड़ायते ॥ २६७ ॥

गुणोंसे ही मनुष्य बड़ा या ऊंचा होता है, केवल ऊंचे आसनपर बैठनेसे नहीं होता है। जैसे बड़े भारी महलकी चोटीपर बैठा हुआ कौआ क्या कभी गरुड़ बन सकता है ?

गुणवानपि चिरजीवी सधनो विनतः सती विदग्धास्त्री।
हरिभक्तोऽपि धनाढ्यः क्ष्मातले न श्रुतं न वा दृष्टम् ॥ २६८ ॥

गुणवान् मनुष्य चिरायु, धनवान् व्यक्ति नम्र, चतुर स्त्री पतिव्रता और भगवद्भक्त धनवान् पृथ्वीपर न कभी देखा गया और न सुनाही गया है। अर्थात् इन युगलोंका आपसमें प्राकृतिक विरोध है।

शिशुर्वा शिष्या वा यदसि मम तत्तिष्ठतु तथा
विशुद्धेरुत्कर्षस्त्वयि तु मम भक्तिं दृढ़यति।
शिशुत्वं स्त्रैणं वा भवतु ननु वन्द्यासि जगतिः
गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः ॥ २६९ ॥

बच्चा या बच्ची अथवा शिष्या अर्थात् चेली जो कुछभी तुम मेरी हो वह सब ठीक है। परन्तु तुम्हारेमें शुद्धिकी जो पराकाष्ठा है वह तुममें मेरी भक्तिको दृढ़ कर रही है। चाहे तुम्हारेमें बचपन हो चाहे स्त्रीत्व हो तुम संसारमें नमस्करणीय हो। गुणियोंके गुणोंकी ही पूजा कीजाती है लिङ्ग और उम्रकी पूजा नहीं कीजाती।

गोत्रस्य त्वपरिज्ञाने काश्यपं गोत्रमुच्यते ॥ २७० ॥

जहां गोत्रका ज्ञान नहीं हो वहां काश्यप गोत्र होता है। क्योंकि वेदमें सृष्टिकी उत्पत्ति कश्यपसे बताई गई है।

(घ)

संचारिणी काञ्चनवल्लरीव विद्युल्लता वा पतिता नभस्तः।
घृतस्य धारा पतिता न जाने दिवं गता वाथ भुवं गता वा ॥ २७१ ॥

संचरशील सुवर्णकी बेलकी तरह अथवा आकाशसे गिरी हुई बिजलीकी लताकी तरह घीकी धारा गिरी। अब वह आकाशमें गई या पृथ्वीमें गई यह मालूम नहीं।

घृतं न श्रूयते कर्णे दधि स्वप्ने न दृश्यते।
मुग्धे दुग्धस्य का वार्ता तक्रं शक्रस्य दुर्लभम् ॥ २७२ ॥

घी तो कानमें सुनाई ही नहीं पड़ता है, दही स्वप्नमें भी नहीं दिखाई देता है। हे मूर्ख ! दूधकी तो बातही मुश्किल है और तक्र तो इन्द्रको भी दुर्लभ है।

(च)

चक्रः सेव्यो नृपः सेव्यो न सेव्यः केवलो नृपः।
चक्रवक्त्र प्रभावेण भैरवो भूतनायकः ॥ २७३ ॥

चक्रकी सेवा करनी चाहिये और राजाकी सेवा करनी चाहिये। केवल राजाकी सेवा नहीं करनी चाहिये। चक्ररूप मुखके प्रभावसे भैरव भूतोंके राजा हैं।

शंभुः श्वेतार्कपुष्पेण चन्द्रमा वस्त्रतन्तुना।
अच्युतः स्मृतिमात्रेण साधवः करसंपुटैः ॥ २७४ ॥

महादेवजी सफेद आकके फूलसे प्रसन्न होते हैं और चन्द्रमा वस्त्रके धागेसे खुश होता है और विष्णु भगवान् स्मरणमात्रसे संतुष्ट रहते हैं। और सज्जन-पुरुष हाथ जोड़कर नमस्कार करनेसे संतुष्ट होते हैं।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ २७५ ॥

हे भगवन् कृष्ण ! यह मन वड़ा चंचल और शरीरको प्रमथन करनेवाला तथा अत्यन्त वलवान् है । उस मनका निग्रह वायुके निग्रहसे भी अत्यन्त दुष्कर है ऐसा मैं मानता हूं ।

जानन्ति पशवो गन्धाद्वेदाज्जानन्ति पण्डिताः ।
चाराज्जानन्ति राजानश्चक्षुभ्यामितरे जनाः ॥ २७६ ॥

पशु गन्धसे ज्ञान करते हैं और पण्डितलोग वेदशास्त्रसे जानते हैं और राजा लोग गुप्तचरोंसे सब वातोंका ज्ञान करते हैं । और वाकी मनुष्य चक्षुओंसे देखते हैं ।

मात्रा समं नास्ति शरीरपोषणं विद्यासमं नास्ति शरीरभूषणम् ।
भार्यासमं नास्ति शरीरतोषणं चिन्तासमं नास्ति शरीरशोषणम् ॥२७७॥

माताके समान शरीरको पुष्ट करनेवाली कोई वस्तु नहीं है, चिन्ता और फिक्रके समान शरीरको सुखानेवाली कोई चीज नहीं है, भार्याके समान शरीरको तुष्ट करनेवाली कोई वस्तु नहीं है और विद्याके समान शरीरका आभूषण नहीं है ।

अर्थातुराणां न गुरुर्न बन्धुः कामातुराणां न भयं न लज्जा ।
क्षुधातुराणां न रुचिर्न पक्वं चिन्तातुराणां न सुखं न निद्रा ॥ २७८ ॥

धनके लिये आतुर मनुष्योंका न कोई गुरु है और न कोई भाई है, कामाधीन व्यक्तियोंको न भय है और न शर्म है, भूखसे पीड़ित व्यक्तियोंके लिये न भोजनकी रुचिका प्रश्न उठता है और न पके अधपकेका और चिन्तातुर मनुष्यों को न तो आराम मिलता है और न नींद आती है ।

चोरोऽस्ति नवनीतानां जारोऽस्ति व्रजयोषिताम् ।
ध्येयोऽसि योगिनां कृष्ण चोरजारशिखामणे ॥ २७९ ॥

चोर और जारोंके मुकुटमणि श्रीकृष्ण ! तुम मक्खनके चोर हो और व्रजवनिताओंके उपपति हो और योगियोंके ध्यानके विषय हो ।

लुब्धानां याचकः शत्रुर्मूर्खाणां बोधको रिपुः ।
जारिणीनां पतिः शत्रुश्चोराणां चन्द्रमा रिपुः ॥ २८० ॥

लोभी मनुष्योंका तो माँगनेवाला शत्रु है, मूर्खोंका ज्ञानी शत्रु है, व्यभिचारिणी-स्त्रियोंका पति शत्रु-तुल्य है और चोरोंका चन्द्रमा वैरी है।

भार्यास्तिस्रः कफल्लस्य दाहिनी मोहिनी सती।
तासां स्मरणमात्रेण चोरो गच्छति निष्फलः॥ २८१॥

कफल्लकी तीन औरतें हैं दाहिनी, मोहनी और सती। उनके स्मरण करनेमात्रसे ही चोर निष्फलही चला जाता है।

(ज)

पठतो नास्ति मूर्खत्वं जपतो नास्ति पातकम्।
मौनिनः कलहो नास्ति न भयं चास्ति जाग्रतः॥ २८२॥

पढ़नेवाला कभी मूर्ख नहीं रह सकता है और जाप करनेवाला पापका भागी नहीं होता है। मौनीके झगड़ा नहीं होता है और जागते हुए मनुष्यको किसी प्रकारका भय नहीं है।

जनावनायोद्यमिनं जनार्दनो
लये सदोद्युक्ततरं सदाशिवम्।
वदन्ति लोकाः स्वमनोऽनुरागा-
ज्जनानने कः करमर्पयिष्यति॥ २८३॥

मनुष्योंके रक्षा करनेके लिये सदा प्रयत्नशील भगवान् विष्णुको जन-समुदाय अपने मनके अनुरागसे जनार्दन कहता है और प्रलयके लिये हमेशा प्रयत्नशील शिवको लोग अपने मनकी इच्छासे सदाशिव कहते हैं। मनुष्योंके मुंहमें कौन हाथ डालेगा अर्थात् उनका मुंह कौन बन्द करसकता है।

ज्वरादौ लंघनं प्रोक्तं ज्वरमध्ये च पाचनम्।
ज्वरान्ते भेषजं दद्यात् सर्वज्वरविनाशनम्॥ २८४॥

ज्वरके आदिमें लंघनका विधान बताया गया है, ज्वरकी मध्यावस्थामें दोषोंको पकानेवाली औषधादिका विधान है, ज्वरके अन्तमें औषध देनी चाहिए जो सब ज्वरोंको नष्ट करनेवाली हो।

ज्वरादौ लंघनं प्रोक्तं ज्वरमध्ये तु पाचनम् ।
ज्वरान्ते भेषजं दद्याज्ज्वरमोक्षे विरेचनम् ।। २८५ ।।

ज्वरके आदिमें लंघन करना चाहिए ज्वरके बीचमें पाचन औषध देनी चाहिए। ज्वरके अन्तमें ज्वरघ्न औषध देनी चाहिए और ज्वर-मुक्ति होनेपर विरेचन देना चाहिए।

जामाता कृष्णसर्पश्च पावको दुर्जनस्तथा ।
विश्वासो नैव कर्तव्यः पञ्चमो भगिनीसुतः ।। २८६ ।।

जवांई, काला सांप, अग्नि और दुष्ट मनुष्य तथा पांचवां बहिनका पुत्र अर्थात् भानजा इनका विश्वास नहीं करना चाहिए। ये पांचोंही खतरनाक हैं।

सदा वक्रः सदा रुष्टः सदा पूजामपेक्षते ।
कन्याराशिस्थितो नित्यं जामाता दशमो ग्रहः ।। २८७ ।।

सदा टेढ़ा रहनेवाला, सदा नाराज और हमेशा पूजाकी इच्छा करनेवाला और कन्याराशिमें अवस्थित जंवाई दशवां गृह है। अर्थात् नवगृह तो हैं ही कन्यारूपीराशिमें स्थित जामाता दशवां ग्रह जो कभीभी अनुकूल नहीं होता है।

आदित्याद्या ग्रहाः सर्वे यथा तुष्यन्ति दानतः ।
सर्वस्वेऽपि न तुष्येत जामाता दशमो ग्रहः ।। २८८ ।।

सूर्य इत्यादि सारे नवग्रह जिस प्रकार दानसे संतुष्ट होते हैं, उसी प्रकार दशवांग्रह जवांई सर्वस्व देनेपर तुष्ट नहीं होसकता है। अर्थात् और ग्रह तो तुष्ट हो भी जाते हैं परन्तु जामातारूपीग्रह कभी तुष्ट नहीं होता है।

भार्या ज्येष्ठा शिशुः श्यालः श्वश्रूः स्वातन्त्र्यमर्हति ।
श्वसुरस्तु प्रवासी च जामातुर्भाग्यधोरणी ।। २८९ ।।

स्त्री तो बड़ी है और साला बच्चा है और सास स्वतन्त्रता चाहती है और श्वसुर परदेशमें गये हैं, जवांईके अच्छे भाग्यकी बात है। अर्थात् ऐसी स्थितिमें जवांईका शासन होना स्वाभाविक है।

प्रातर्निद्राति यथा यथात्मजालुलितनिःसहैरङ्गैः ।
जामातरि मुदितमनास्तथा तथा सादरं श्वश्रूः ।। २९०

जैसे-जैसे अपनी पुत्रीके इधर-उधर फेंके हाथ पैर आदि अङ्गप्रत्यङ्गोंके

अभावमें प्रातःकाल सास नींद लेती है। वैसे-वैसेही सास आदरसहित जवांईसे खूब प्रसन्न होती है।

भारतं पञ्चमो वेदः सुपुत्रः सप्तमो रसः।
दाता पञ्चदशं रत्नं जामाता दशमो ग्रहः॥ २६१॥

महाभारत पांचवां वेद है अर्थात् वेद चार हैं तो भी महाभारतको पांचवां वेद मानते हैं अच्छी सन्तान (पुत्र) सातवां रस है अर्थात् यद्यपि रस मधुरादि भेदसे छः ही हैं तथापि सुपुत्र सातवां रस है। दान देनेवाला पन्द्रहवां रत्न है। यद्यपि रत्न चौदहही हैं तथापि दाता पन्द्रहवां रत्न है और वस्तुतः नवग्रह होनेपर जवांई दशवां गृह है।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ २६२॥

उत्पन्न होनेवालेकी मृत्यु निश्चित है और मरे हुएकी उत्पत्ति निश्चित है। इसलिये हे अर्जुन! इस अपरिहार्य-विपयमें तुझे शोक नहीं करना चाहिये। अर्थात् जीवन और मृत्यु तो रात और दिनकी तरह क्रमशः होतेही रहते हैं।

जाते पुत्रे पितुः स्नानं सचैलं तु विधीयते।
माता शुध्येद्दशाहेन स्नानात्तु स्पर्शनं पितुः॥ २६३॥

पुत्र उत्पन्न होनेपर पिताके लिये वस्त्रसहित स्नानका विधान बताया है। माता तो दश दिनके पश्चात् स्नान करने पर शुद्ध होती है। फिर पिताका स्पर्श करना चाहिये।

जिह्वे प्रमाणं जानीहि भोजने भाषणेऽपि च।
अतिभुक्तिरतीवोक्तिः सद्यः प्राणापहारिणी॥ २६४॥

हे जीभ! भोजनमें और वोलनेमें प्रमाणका ज्ञान रखना चाहिए। अर्थात् प्रमाणित भोजन और प्रमाणित वचनही ठीक रहते हैं। अधिक खाना और अधिक वोलना दोनोंही तत्काल प्राणनाशक हैं।

जिता धनवता दारा जिता वस्त्रवता सभा।
जितो ह्यभ्यागतो गोभिर्दारिद्रंच कृषिभिर्जितम्॥ २६५॥

धनवान् मनुष्यके द्वारा स्त्री जीती हुई है और सुन्दर वस्त्रधारी व्यक्ति

सभाको जीत लेता है, अर्थात् वस्त्रोंका प्रभाव सभापर अवश्य पड़ता है और वाणीके सत्कार-द्वारा मेहमान जीता हुआ है और खेतीसे दरिद्रता जीती हुई ही है।

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम् ॥ २९६ ॥

समझदार ज्ञानी मनुष्य तो मात्सर्यसे पीड़ित हैं और स्वामीलोग आश्चर्य से दूषित हैं और अन्य व्यक्ति अज्ञानसे पीड़ित हैं। इसलिये सुभाषित जीर्ण-शीर्ण होगया है, अर्थात् उसका कोई कद्रदान नहीं है।

विनाशे बहवो दोषा जीवन् प्राप्नोति भद्रकम्।
तस्मात् प्राणान् धरिष्यामि ध्रुवो जीवति संगमः ॥ २९७ ॥

विनाश अर्थात् मृत्युमें बहुतसे दोष हैं और जीवित-व्यक्ति कभी न कभी अच्छी वस्तु प्राप्त करही लेता है अर्थात् कभी न कभी अच्छे दिन आही जाते हैं। इसलिये मैं प्राणोंको धारण करूंगा अर्थात् जीवित रहूंगा। संगम निश्चित जीवित है।

जीर्णमन्नं प्रशंसन्ति भार्यां च गतयौवनाम्।
शूरं विजितसंग्रामं पारंगततपस्विनम् ॥ २९८ ॥

बुद्धिमान् व्यक्ति जीर्ण अन्नकी प्रशंसा करते हैं और जिसकी जवानी ढल चुकी है ऐसी औरतकी प्रशंसा करते हैं, जिसने संग्रामको जीतलिया है ऐसे शूरवीरको प्रशंसा करते हैं और पार पहुंचे हुए तपस्वीकी प्रशंसा करते हैं।

अहस्तानि सहस्तानामपदानि चतुष्पदाम्।
फल्गूनि तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनम् ॥ २९९ ॥

हाथवालोंके विना हाथवाले, चौपाये पशुओंके विनापैरवाले और बड़ोंके छोटे भोज्य होते हैं। क्योंकि प्राणियोंका प्राणीही भोजन होता है।

न मृतो जयते शत्रून् जीवन् भद्राणि पश्यति।
मृतस्य भद्राणि कुतः कौरवाय कुतो जयः ॥ ३०० ॥

मरा हुआ मनुष्य शत्रुओंको नहीं जीतता है, जीवित रहता हुआ शुभ अवसरोंको देखता है अर्थात् प्राप्त करता है, मुर्देके लिये क्या अच्छा अर्थात् कल्याणकारी होसकता है। कौरवके लिये जीत कहां है।

धिक्करोषि तथापि त्वं ज्येष्ठो भ्राता पितुः समः ।
कालो राघवरूपेण जातो दशरथालये ॥ ३०१ ॥

तुम मुझे धिक्कार देतेहो तो भी तुम मेरे बड़े भाई हो और मेरे पितृतुल्य हो। तुम्हारा काल (अर्थात् मृत्यु) दशरथके घरमें रामचन्द्रजीके रूपमें उत्पन्न होगया है।

श्वश्रूश्च मातृतुल्या स्यात्तथा ज्येष्ठा स्वसाऽपि च ।
तथा मातुः सपत्नी च ज्येष्ठो भ्राता पितुः समः ॥ ३०२ ॥

सास तथा बड़ी बहिनभी माताके तुल्य होती है तथा माताकी सौतको भी माताके तुल्य माननी चाहिए और बड़ा भाई पिताके समान है।

फलन्ति वेदाः कालेषु पुराणं त्वेकमासके ।
सद्यः फलति गान्धर्वो ज्योतिर्वैद्यं निरन्तरम् ॥ ३०३ ॥

वेदविहित कर्मकाण्डका फल समय पाकर मिलता है, पुराणोंका फल एक महिनेमें मिलता है गन्धर्वविद्या अर्थात् गायनविद्या तत्काल फल देती है और ज्योतिषशास्त्र तथा वैद्यकशास्त्र निरन्तर फल देता रहता है।

ज्योतिषं जलदे मिथ्या मिथ्या श्वासिनि वैद्यकम् ।
योगो बह्वशने मिथ्या मिथ्या ज्ञानं च मद्यपे ॥ ३०४ ॥

मेघ अर्थात् वर्षाके विषयमें ज्योतिषशास्त्र झूंठा है, श्वास-रोगके रोगीके विषमें वैद्यकशास्त्र झूंठा है, बहुत खानेवालेके बारेमें योग झूंठा है अर्थात् अधिक खानेवाला योगसिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता है और शराबीके लिये ज्ञान फिजूल है अर्थात् वह ज्ञानकी बात नहीं सुनता है।

(त)

भोजनान्ते च किं पेयं जयन्तः कस्य वै सुतः ।
कथं विष्णुपदं प्रोक्तं तक्रं शक्रस्य दुर्लभम् ॥ ३०५ ॥

भोजनके अन्तमें क्या पीना चाहिए ? तक्र अर्थात् छाछ, जयन्त किसका पुत्र है ? शक्रका अर्थात् इन्द्रका पुत्र है, विष्णुपद अर्थात् स्वर्गलोक या मोक्ष किसप्रकारका बताया गया है ? दुर्लभ अर्थात् दुष्प्राप्य। इस श्लोकमें तीन चरणोंमें प्रश्न हैं और चतुर्थ पदमें क्रमशः सबके उत्तर हैं। चतुर्थ पादका पृथक् यह अर्थ है कि छाछ इन्द्रके लियेभी दुर्लभ है।

अमृतं दुर्लभं नृणां देवानामुदकं तथा।
पितृणां दुर्लभः पुत्रः तक्रं शक्रस्य दुर्लभम् ॥ ३०६ ॥

मनुष्योंके लिये अमृत दुष्प्राप्य है, देवताओंके लिये पानी दुर्लभ है, माता-पिताओंको पुत्र बड़ी मुश्किलसे मिलता है और इन्द्रको छाछ दुर्लभ है।

अक्रत्वर्थमिति ज्ञात्वा शक्रो न हुतवान् पुरा।
नादत्तमिति शास्त्रार्थात् तक्रं शक्रस्य दुर्लभम् ॥ ३०७ ॥

पूर्व समयमें यज्ञके काममें नहीं आनेवाली समझकर इन्द्रने तक्रकी हवि नहीं दी और 'मनुष्य जो वस्तु नहीं' देता है वह उसेभी आगे नहीं प्राप्त होती है' इस शास्त्रके नियमानुसार छाछ इन्द्रके लिये दुष्प्राप्य है।

स्त्री विनश्यति गर्वेण तपः क्रोधेन नश्यति।
गावो दूरप्रसारेण हरिणी लोभलिप्सया ॥ ३०८ ॥

औरत अभिमानके कारण नाशको प्राप्त होती है, तपश्चर्या क्रोधसे नष्ट होजाती है, गायें दूरतक फैलादेनेसे खोजाती हैं अर्थात् इधर-उधर भटक जाती हैं और हरिणी लोभकी इच्छासे मारी जाती है अर्थात् गानेके लोभके वशीभूत होकर मारी जाती है।

लालनाद् बहवो दोषाः ताड़नाद् बहवो गुणाः।
तस्मात् पुत्रं च शिष्यं च ताड़येन्न तु लालयेत् ॥ ३०९ ॥

लाडप्यारसे बहुतसे दोष होते हैं और मारने-पीटनेसे बहुतसे गुण होते हैं। इसलिये पुत्र और शिष्यकोऽराये धमकाये रखना चाहिये। लाडप्यार नहीं करना चाहिये।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ ३१० ॥

इस कारणसे हे अर्जुन ? तेरे कार्य और अकार्यके निर्णयमें शास्त्रही प्रमाण है। इस विषयमें शास्त्रके द्वारा विधिविहित कर्मको जानकर उसे करना चाहिये।

मूर्खोऽपि शोभते तावत् सभायां वस्त्रवेष्टितः।
तावच्च शोभते मूर्खो यावत् किंचिन्न भाषते ॥ ३११ ॥

सभामें वस्त्रोंसे ढका (अर्थात् अच्छे कपड़े पहिने) हुआ मूर्ख मनुष्य तभीतक शोभित होता है। जबतक कुछ वोलता नहीं है। वोलनेपर मूर्खकी पोल खुल जाती है।

तावन्महतां महतो यावत् किमपि हि न याचते लोकम्।
बलिमनुयाचनसमये श्रीपतिरपि वामनो जातः॥ ३१२॥

बड़े आदमियोंका तभी तक वडप्पन रहता है जव तक दुनियांसे वे कुछ याचना नहीं करते हैं। लक्ष्मीपति भगवान्भी वलिराजासे भीख मांगते समय वामन होगये थे।

मुखं पद्मदलाकारं वाणी चन्दनशीतला।
हृदयं कर्तरीतुल्यं त्रिविधं धूर्तलक्षणम्॥ ३१३॥

मुख तो कमलके पत्तेके सदृश सुन्दर हो और वाणी चन्दनकी तरह ठंड़क पहुंचानेवाली हो और हृदय कैंचोकी तरह हो अर्थात् हृदयसे दूसरोंका वुरा सोचता हो यह तीन प्रकारके धूर्तके लक्षण होते हैं।

गुरुषु मिलितेषु शिरसा प्रणमसि
लघुषूउन्नता समेषु समा।
उचितज्ञाऽसि तुले किं
तुलयसि गुञ्जाफलैः कनकम्॥ ३१४॥

हे तराजू! तूं गुरुओंके मिलनेपर शिरसे नमस्कार करती है। अर्थात् भारी चीज रखनेपर तू झुक जाती है और हलकी वस्तु रखनेपर ऊँची उठ जाती है और वरावर वस्तु रखनेपर वरावर वालोंमें वरावर रहती है। हे तुले तू वाजिव वातको समझनेवाली है। क्या? गुञ्जाफलोंसे अर्थात् चिरमीसे सोना तोलती है।

मनसैव कृतं पापं न शरीरकृतं कृतम्।
येनैवालिङ्गिता कान्ता तेनैवालिङ्गिता सुता॥ ३१५॥

मनसे किया हुआ ही पाप वास्तविक पाप है, शरीरसे किया हुआ पापही पाप नहीं है। जिसने स्त्रीका आलिङ्गन किया है उसीने पुत्रीका भी आलिङ्गन करलिया।

तेजीयसां न दोषाय अग्नेः सर्वभुजो यथा।
ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित् ॥ ३१६ ॥

तेजस्वी आदमियोंको कुछभी दोष नहीं लगता है। जैसे सब कुछ भस्म करनेवाली अग्निको कोई दोषी नहीं कहता है। शक्तिशालियोंका वचन सच्चा होता है और उसी प्रकार कहीं कहीं आचरणभी सच्चा होता है।

किमद्य मम संपन्नं प्रातर्वा भविता पुनः।
इति चिन्ताज्वरो नास्ति तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३१७ ॥

आज मेरा क्या हुआ, फिर सुबह क्या होगा इसप्रकारका चिन्तारूपी बुखार मेरे नहीं है इसलिये नीरोगी होकर जी रहा हूं। अर्थात् जो मनुष्य इस चिन्तामें लगे रहते हैं और सोचते रहते हैं कि क्या हुआ क्या नहीं हुआ कल क्या होगा क्या नहीं होगा वे सदा दुःखी और रोगी रहते हैं।

जरामरणदुःखेषु राज्यलाभसुखेषु च।
न विभेमि न हृष्यामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३१८ ॥

बुढ़ापा, मृत्यु आदि दुःखोंमें और राज्यकी प्राप्ति आदि सुखोंमें मैं न डरता हूं और प्रसन्न होता हूं अर्थात् सुख दुःखसे रागद्वेष नहीं करता हूं इसलिये निर्द्वन्द्व नीरोग होकर जीता हूं अर्थात् किसी प्रकारकी व्यथा नहीं है।

यथाकालमुपायातावर्थानर्थौ समौ मम।
हस्ताविव शरीरस्थौ तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३१९ ॥

मेरे लिये समयानुसार उपस्थित हुए अर्थ और अनर्थ बराबर हैं अर्थात् अर्थ और अनर्थ मुझे दुःखी नहीं करते हैं। जैसे शरीरसे सम्बन्धित दोनों हाथ शरीरके लिये समान हैं वैसेही अर्थ और अनर्थभी समान है इसलिए निर्व्याधि जीता हूं।

यदा यदा मुने किञ्चिद् विजानामि तदा तदा।
मतिरायाति नौद्धत्यं तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३२० ॥

हे मुने ! जब जबमैं कुछ जानता हूं अर्थात् ज्ञान प्राप्त करता हूं तब तब मुझे कुछ बुद्धि आती है और उद्धतता नहीं आती है इसलिये नीरोग होकर जी रहा हूं।

करोमीशोऽपि ना क्रान्ति परितापेन खेदवान् ।
दरिद्रोऽपि न वाञ्छामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३२१ ॥

समर्थ होता हुआभी आक्रमण नहीं करता हूं क्योंकि संतापसे अर्थात् पश्चात्तापसे मुझे खेद होता है और दरिद्र होकरभी कुछ चाहता नहीं हूं इसलिये नीरोग होकर जी रहा हूं।

सुखितोऽस्मि सुखापन्ने दुःखितो दुःखितो जने ।
गर्वस्य च प्रियमित्रं च तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३२२ ॥

सुखी मनुष्यसे मिलकर सुखी होता हूं और दुःखीसे मिलकर दुःखी होता हूं और अभिमानीका प्यारा मित्र हूं अर्थात् अभिमानीसे जिद नहीं करता हूं इसलिए सुखी होकर जीवित हूं।

अयं बन्धुः परश्चायं ममायमयमन्यतः ।
इति ब्रह्मन्न जानामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३२३ ॥

यह मेरा भाई है और यह पराया है यह मेरा है और यह पराया है हे ब्रह्मन् ! यह मैं नहीं जानता हूं अर्थात् नहीं सोचता हूं इसलिये सुखपूर्वक जीवतयापन कररहा हूं।

अपरिचलया सक्त्या सुदृशा स्निग्धमुग्धया ।
ऋजु पश्यामि सर्वत्र तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३२४ ॥

कभी विचलित नहीं होनेवाले स्नेह और मोहसे युक्त अच्छी नजरसे सबको प्रेमसे सरलतासे देखता हूं इसलिये सुखी होकर जी रहा हूं।

यस्तु संचरते देशान् यस्तु सेवेत पण्डितान् ।
तस्य विस्तारिता बुद्धिस्तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३२५ ॥

जो मनुष्य देशोंमें विचरता है और पण्डित मनुष्योंकी सेवा करता है अर्थात् उनका सत्सङ्ग करता है उसकी बुद्धि विशाल व विस्तृत होती है जैसे पानीमें तेलकी बूंद फैलती है।

(द)

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति ।
भुंक्ते भोजयते नित्यं षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥ ३२६ ॥

देता है लेता है, छिपाने लायक बातको कहता है और मित्रसे गुह्यबात अर्थात् रहस्य पूछता है, खाता है और खिलाता है यह छः प्रीति या स्नेहके लक्षण होते हैं।

ददाति प्रतिगृह्णाति नान्यथैषा प्रसिद्ध्यति।
इत्थंरूपेण कीलेन महादेवेन कीलितम् ॥ ३२७ ॥

देता है और लेता है अन्यथा यह बात प्रसिद्ध नहीं होती है। अर्थात् अकेली बात केवल देना या केवल लेना निभता नहीं है। इसप्रकार मन्त्रसे महादेवजीने यह कील दिया है। अर्थात् देना लेना साथही चल सकते हैं, अकेले पृथक् पृथक् नहीं चलते हैं।

दुर्जनदूषितमनसां पुंसां सुजनेऽप्यविश्वासः।
बालः पायसदग्धो दध्यपि फूत्कृत्य पिबति ॥ ३२८ ॥

दुष्ट मनुष्योंके द्वारा जिन मनुष्योंका मन दूषित हो चुका है वे सज्जन पुरुषोंका भी विश्वास नहीं करते हैं। जैसे बच्चा या नासमझ व्यक्ति दूधसे जलनेपर दहीको फूंक देकर पीता है।

जड़बुद्धिर्जड़ो मूर्खः कथं जानामि निर्गुणम्।
दण्ड एव हि मूर्खाणां सन्मार्गप्रापकः प्रभो ॥ ३२९ ॥

जड़बुद्धिवालामैं मूर्ख लण्ठ निर्गुणको कैसे जान सकता हूं। हे स्वामिन् मूर्खोंको दण्डही अच्छे रास्तेपर पहुंचानेवाला होता है।

निर्द्रव्यं पुरुषं सदैवविकलं सर्वत्र मन्दादरम्
तातभ्रातृसुहृज्जनादि कुपितं दृष्ट्वा न संभाषितम्।
भार्या रूपवतीकुरङ्गनयना स्नेहेन नालिङ्गते
तस्माद् द्रव्यमुपार्जयाशु सुमते द्रव्येण सर्वे वशाः ॥ ३३० ॥

धनहीन मनुष्य हमेशाही व्याकुल रहता है। सब जगह उसका आदर कम होता है। पिता, भाई तथा मित्र सब उसपर क्रोध करते रहते हैं। देखकर उससे कोई बातभी नहीं करता है। हरिणके समान सुन्दर नेत्रवाली और रूपवती स्त्रीभी उसका स्नेहसे आलिङ्गन नहीं करती है। इसलिये हे बुद्धिमान् पुरुष शीघ्र द्रव्यका उपार्जन कर क्योंकि धनके सब वशीभूत हैं।

माता निन्दति नाभिनन्दति पिता भ्राता न संभाषते ।
भृत्यः कुप्यति नानुगच्छति सुतः कान्ता च नालिङ्गते ॥
अर्थप्रार्थनशङ्कया न कुरुतेऽप्यालापमात्रं सुहृत् ।
तस्माद्द्रव्यमुपार्जयाशु सुमते द्रव्येण सर्वे वशाः ॥ ३३१ ॥

माता निर्द्रव्य पुत्रकी निन्दा करती है, पिताभी उसपर प्रसन्न नहीं रहता है, भाई उससे संभाषणभी नहीं करता है, नौकर गुस्सेमें रहता है, पुत्र उसकी आज्ञा नहीं मानता है और धर्मपत्नी उसका कभी आलिङ्गन नहीं करती है, मित्र धन मांगनेकी आशङ्कासे वातचीतभी नहीं करता है इसलिए हे अच्छी वुद्धिवाले मनुष्य ! शीघ्र धनार्जन करो क्योंकि धनके सव वशीभूत हैं ।

इन्द्रं द्व्यक्षिधरं त्वमन्थमुदधिं पञ्चाननं पद्मजं
चाब्धिं स्वादुजलं शिवं सितगलं कामं च सद्विग्रहम् ।
शैलान् पक्षधरांस्तथैव च हयांल्लक्ष्मीपतिं पिङ्गटं
दृष्टं सर्वमिदं क्वचिन्न रघुराड्दत्तं स्वयं हारितम् ॥ ३३२ ॥

इन्द्रको दो आंखवाला, समुद्रको मन्थनरहित, कमलसे उत्पन्न ब्रह्माको पांच मुखवाला और समुद्रको मधुरजल युक्त, महादेवजी सफेद गलेवाला और कामदेव शरीर सहित, पहाड़ोंको पंखवाला और उसी प्रकार घोड़ोंको भी पंखवाला और विष्णु पीलेवर्णवाला देखा जा सकता है अर्थात् ये सव असम्भव वातेंभी सम्भव होसकती हैं परन्तु रघुवंशके राजा रामके द्वारा जो चीज दी जा चुकी है स्वयं छीनते कभी नहीं देखी गई है ।

यस्य नास्ति विवेकस्तु केवलं यो वहुश्रुतः ।
स न जानाति शास्त्रार्थान् दर्वी पाकरसानिव ॥ ३३३ ॥

जिसको ज्ञान नहीं है और केवल वहुश्रुत है अर्थात् इधर-उधर सुन सुनाकर कुछ हासिल किया है वह व्यक्ति शास्त्रोंके गम्भीर अर्थोंको नहीं जानता है जैसे कड़छी अर्थात् चाटू पक्वान्नके रसोंको नहीं जानती है ।

अधीत्य चतुरो वेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः ।
परं तत्त्वं न जानाति दर्वी पाकरसानिव ॥ ३३४ ॥

चारों वेदोंको और धर्मशास्त्रोंको अनेक दफा पढकरभी जो व्यक्ति परमतत्त्व अर्थात् रहस्यको नहीं जानता है वह चाटूकी तरह है । जैसे चाटू पाक-

रसको नहीं जानता है अर्थात् केवल ऊपरही तैरता है। रहस्यको नहीं समझता है।

लग्ने शुक्रो बुधो यस्य यस्य केन्द्रे बृहस्पतिः।
दशमोऽङ्गारको यस्य स जातः कुलदीपकः॥ ३३५॥

लग्नमें जिसके शुक्र और बुध हैं और केन्द्रमें जिसके बृहस्पति है और दशममें जिसके अङ्गारक है वह कुलका दीपक रूपही बच्चा पैदा हुआ है।

धष्टपुष्टो भवेद्दादा सुन्दरी वहिनी तथा।
दन्तभग्नो भवेद्बाबा आवा च गतभर्तृका॥ ३३६॥

दादा धष्ट-पुष्टही होना चाहिए तथा वहिनी सुन्दर होनी चाहिए, जिसके दांत टूट गये हों वह बावा होना चाहिए और जिसका पति मर चुका हो वह आया होनी चाहिए।

दानं प्रियवाक् सहितं ज्ञानमगर्वं क्षमान्वितं शौर्यम्।
वित्तं त्यागसमेतं दुर्लभमेतच्चतुर्विधं भद्रम्॥ ३३७॥

प्रियवाणी सहित दान देना, अभिमान रहित होकर ज्ञानी होना, पराक्रम करसकनेपरभी क्षमायुक्त होना और धनवान् होकरभी त्यागी होना यह चारों वातें अच्छी हैं तथापि अत्यन्त दुर्लभ हैं।

शक्ति करोति संचारे शीतोष्णे मर्षयत्यपि।
दीपयत्युदरे वह्नि दारिद्र्यं परमौषधम्॥ ३३८॥

संचरण अर्थात् घूमने-फिरनेमें शक्ति पैदा करता है अर्थात् दरिद्र इधर उधर खूब भटकता है, सर्दी और गर्मीको बर्दाश्त करता है, पेटकी अग्निको दीप्त करता है इसलिए दरिद्रता अत्यन्त उत्कृष्ट औषध है।

ऐश्वर्यतिमिरं चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति।
तस्य निर्मलतायां तु दारिद्र्यं परमौषधम्॥ ३३९॥

ऐश्वर्यरूपी तिमिररोगसे आक्रान्त नेत्र; देखते हुएभी नहीं देखते हैं अर्थात् ऐश्वर्यसे मस्त आदमी सब कुछ देखता हुआभी नहीं देखता है, उस तिमिररोगको मिटानेके लिये दरिद्रता सबसे सुन्दर तथा उत्कृष्ट औषध है अर्थात् दारिद्र्य ऐश्वर्याभिमानको खत्म कर देता है।

वयोवृद्धास्तपोवृद्धा ज्ञानवृद्धा बहुश्रुताः ।
इत्येते धनवृद्धस्य द्वारे तिष्ठन्ति किंकराः ॥ ३४० ॥

उम्रमें बड़े, तपश्चर्याने बड़े, ज्ञानमें बड़े और बहुत शास्त्रोंको पढ़े हुए मनुष्य ये सब धनसे वृद्ध अर्थात् धनवान् मनुष्यके दरवाजेपर नौकर होकर रहते हैं अर्थात् धनवान्की सब खुशामद करते हैं। धनके बिना कुछ काम नहीं चलता है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥ ३४१ ॥

जैसे प्रदीप्त अग्नि काष्ठोंको भस्मीभूत करदेती है उसी प्रकार हे अर्जुन ! ज्ञानरूपी अग्नि सब कायिक, वाचिक, मानसिक कर्मोंको नष्ट करदेती है। अर्थात् ज्ञानी मनुष्य कर्मके बन्धनोंसे छुटकारा पाजाता है।

एकेन तिष्ठताधस्तादन्येनोपरि तिष्ठता ।
दातृयाचकयोर्भेदः कराभ्यामेव सूचितः ॥ ३४२ ॥

एक हाथके नीचे रहते हुए और दूसरे हाथके ऊपर रहते हुए इसप्रकार दोनों हाथोंने ही दाता और याचकका भेद बतादिया है। अर्थात् देनेवालेका हाथ ऊपर रहता है और लेनेवालेका नीचे, इसप्रकार हाथोंकी तरह दाताभी ऊपर रहता है बड़ा गिना जाता है और याचक नीचा गिना जाता है।

दिवा निरीक्ष्य वक्तव्यं रात्रौ नैव च नैव च ।
संचरन्ति महाधूर्ता वटे वररुचिर्यथा ॥ ३४३ ॥

दिनमें चारोंतरफ देखकर बोलना चाहिये और रात्रिको कभी भी नहीं बोलना चाहिये। क्योंकि महान् धूर्त इधर-उधर घूमते रहते हैं। जैसे वटके वृक्षमें वररुचि था।

दीनो वा राज्यहीनो वा यो मे भर्ता स मे गुरुः ।
सं नित्यमनुरक्तास्मि यथा सूर्यं सुवर्चला ॥ ३४४ ॥

चाहे दीन हो चाहे राज्यसे हीन हो जो मेरा पति है वही मेरा गुरु है। उसीमें हमेशा मैं अनुरक्त हूं। जैसे सूर्यमें सुवर्चला अनुरक्त रहती है।

दुर्जनं प्रथमं वन्दे सज्जनं तदनन्तरम् ।
मुखप्रक्षालनात् पूर्वं गुदप्रक्षालनं यथा ॥ ३४५ ॥

दुर्जनको पहिले नमस्कार करता हूं और सज्जनको बादमें नमस्कार करता हूं। जैसे मुख धोनेसे पहिले गुदाका धोना अनिवार्य है।

कृते प्रतिकृतिं कुर्यात् हिंसने प्रतिहिंसनम्।
तत्र दोषो न पतति दुष्टे दुष्टं समाचरेत्॥ ३४६॥

किये हुएका प्रतिकार करना चाहिये और हिंसाका जवाब प्रतिहिंसासे देना चाहिये। वहां दोष नहीं लगता है, दुष्टके साथ दुष्टताका वर्ताव करना चाहिये।

दूरस्थाः पर्वता रम्या वेश्या च मुखमण्डने।
युद्धस्य वार्ता रम्या च त्रीणि रम्याणि दूरतः॥ ३४७॥

दूरके डूंगर सुहावने लगते हैं और वेश्या मुखको अलंकृत करके दूर वैठी हुई वड़ी सुन्दर प्रतित होती है और लड़ाईकी कथा वड़ी अच्छी लगती है। ये तीनों चीजें दूरसे अच्छी लगती हैं. अर्थात् नजदीक जानेपर सव जगह निराश होना पड़ता है।

यस्य भार्या विरूपाक्षी परमन्दिरकाङक्षिणी।
कुलक्षणा कुशीला च दूरतः परिवर्जयेत्॥ ३४८॥

जिसकी भार्या विकृत आंखोंवाली हो, दूसरेके घरमें जानेकी आकांक्षा रखती हो, खराव लक्षणोंवाली हो, खराब आचरणवाली हो उसे दूरही छोड़देना चाहिए अर्थात् ऐसी स्त्रीके साथ कभी नहीं रहना चाहिए।

विद्यते कलहो यत्र गृहे नित्यमकारणः।
तद्गृहं जीवितं वाञ्छन् दूरतः परिवर्जयेत्॥ ३४९॥

जिस घरमें विना कारणही रोज झगड़ा होता हो उस घरको जिन्दगी चाहनेवाले मनुष्यको दूरसे ही छोड़देना चाहिए।

गजं मत्तं द्विजं भ्रष्टं वृषभं काममोहितम्।
नृपमन्तःपुरगतं दूरतः परिवर्जयेत्॥ ३५०॥

मस्त हाथीको, भ्रष्ट हुए ब्राह्मणको और कामातुर वैलको तथा रणवास में गये हुए राजाको दूरसे छोड़देना चाहिए।

खरं श्वानं गजं मत्तं रण्डा च बहुभाषिणीम्।
राजपुत्रं कुमित्रं च दूरतः परिवर्जयेत्॥ ३५१॥

गधेको, कुत्तेको, मस्त हाथीको और बहुत बकवाद करनेवाली स्त्रीको राजकुमारको और खराब मित्रको दूरसे ही छोड़देना चाहिए अर्थात् इनका सङ्ग नहीं करना चाहिए।

परमात्मप्रकाशग्रन्थे प्रतिपादितम्—

अथ यः समभावं करोति तस्यैव निश्चयेन सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि नान्यस्येति दर्शयति—

आगे जो जीव समभावको करता है, उसीके निश्चयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र होता है, अन्यके नहीं।

दर्शनं ज्ञानं चारित्रं तस्य यः समभावं करोति।
इतरस्य एकमपि अस्ति नैव जिनवरः एवं भणति ॥ ४० ॥

तथाहि—निश्चयनयेन निजशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं तस्यैव निजशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नवीतरागपरमानन्दमधुररसास्वादोऽयमात्मा निरन्तराकुलत्वोत्पादकत्वात् कटुकरसास्वादाः कामक्रोधादय इति भेदज्ञानं तस्यैव भवति स्वरूपे चरणं चारित्रमिति वीतरागचारित्रं तस्यैव भवति। तस्य कस्य। वीतरागनिर्विकल्पपरमसामायिकभावनानुकूलं निर्दोषिपरमात्मसम्यक् श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपं यः समभावं करोतीति भावार्थः ॥ ४० ॥

भावार्थ—निश्चयनयसे स्वशुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचिरूप सम्यग्दर्शन इस समभावीके होता है, तथा स्वशुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो वीतराग परमानंद मधुर रसका आस्वाद उस स्वरूप आत्मा है, तथा [illegible] कामक्रोधादिक भिन्न हैं। ऐसा भेदज्ञान [illegible] वीतरागचारित्र [illegible] ही होता है। [illegible] निर्विकल्प [illegible] (सहायक) [illegible] ॥ ४० ॥

अथ यदा ज्ञानी जीव उपशाम्यति तदा संयतो भवति कामक्रोधादिकषायसंगतः पुनरसंयतो भवतीति निश्चिनोति–

आगे ऐसा कहते हैं कि जिससमय ज्ञानी जीव शान्त भावको धारण करता है, उसीसमय संयमी होता है, तथा जब क्रोधादिकषायके वश होता है, तब असंयमी होता है—

यावत् ज्ञानी उपशाम्यति तावत् संयतो भवति ।
भवति कषायानां वशे गतो जीवः असंयतः स एव ॥ ४१ ॥

अयमत्र भावार्थः । अनाकुलत्वलक्षणस्थस्वशुद्धात्मभावनोत्थपारमार्थिकसुखस्यानुकूलपरमोपशमे यदा ज्ञानी तिष्ठति तदा संयतो भवति तद्विपरीतं परमात्माकुलत्वोत्पादककामक्रोधादौ परिणतः पुनरसंयतो भवतीति ।

भावार्थः–आकुलतारहित स्वशुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न हुए निर्विकल्प (असली) सुखका कारण जो परम शान्तभाव उसमें जिससमय ज्ञानी ठहरता है, उसीसमय संयमी कहलाता है । तथा आत्मभावनामें परम आकुलताके उपजानेवाले कामक्रोधादिक अशुद्धभावोंमें परिणमता हुआ जीव असंयमी होता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ४१ ॥

अथ येन कषाया भवन्ति मनसि तं मोहं त्यजेति प्रतिपादयति–

आगे जिस मोहसे मनमें कषायें होतीं हैं, उस मोहको तू छोड़, ऐसा वर्णन करते हैं—

तथाहि–निर्मोहनिजशुद्धात्मध्यानेन निर्मोहस्वशुद्धात्मतत्त्वविपरीतं हे जीव मोहं मुञ्च, येन मोहेन मोहनिमित्तवस्तुना वा निष्कषायपरमात्मतत्त्वविनाशकाः क्रोधादिकषाया भवन्ति पश्चान्मोहकषायाभावे सति रागरहितं विशुद्धज्ञानं लभसे त्वमित्यभिप्रायः ।

भावार्थः–निर्मोह स्वशुद्धात्माके ध्यानसे निर्मोह स्वशुद्धात्मतत्त्वसे विपरीतमोहको हे जीव ! छोड़ । जिस मोहसे अथवा मोह करनेवाले पदार्थसे कषायरहित परमात्मतत्वरूप ज्ञानानन्दस्वभावके विनाशक क्रोधादि कषाय होते हैं, इन्हींसे संसार है, इसलिये मोहकषायके अभाव होनेपरही रागादिरहित निर्मल ज्ञानको तू पा सकेगा ॥ ४२ ॥

अथ हेयोपादेयतत्त्वं ज्ञात्वा परमोपशमे स्थित्वा येषां ज्ञानिनां स्वशुद्धात्मनिरतिस्त एव सुखिन इति कथयति—

आगे हेयोपादेय तत्त्वको जानकर परमशान्तभावमें स्थित होकर जिनके निःकषायभाव हुआ और स्वशुद्धात्मामें जिनकी लीनता हुई, वेही ज्ञानी परम सुखी हैं, ऐसा कथन करते हैं—

तत्त्वातत्त्वं मत्वा मनसि ये स्थिताः समभावे।
ते परं सुखिनः अत्र जगति येषां रतिः आत्मस्वभावे ॥ ४३ ॥

तथाहि—यद्यपि व्यवहारेणानादिबन्धनबद्धस्तिष्ठति तथापि शुद्धनिश्चयेन प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धरहितं, यद्यप्यशुद्धनिश्चयेन प्रकृतशुभाशुभकर्मफलभोक्ता तथापि शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन निजशुद्धात्मतत्त्वभावनोत्थवीतरागपरमानन्दैकसुखामृतभोक्ता, यद्यपि व्यवहारेण कर्मक्षयानन्तरं मोक्षभाजनं भवति तथापि शुद्धपरिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन सदा मुक्तमेव। यद्यपि व्यवहारेणेन्द्रियजनितज्ञानदर्शनसहितं तथापि निश्चयेन सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वभावं, यद्यपि व्यवहारेण स्वोपात्तदेहमात्रं तथापि निश्चयेन लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशं, यद्यपि व्यवहारेणोपसंहारविस्तारसहितं तथापि मुक्तावस्थायामुपसंहारविस्ताररहितं चरमशरीरप्रमाणप्रदेशं, यद्यपि पर्यायार्थिकनयेनोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं तथापि द्रव्यार्थिकनयेन निजटङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावं निजशुद्धात्मद्रव्यं पूर्वं ज्ञात्वा तद्विलक्षणं परद्रव्यं च निश्चित्य समस्तमिथ्यात्वरागादिविकल्पत्यागेन वीतरागचिदानन्दैकस्वभावे स्वशुद्धात्मतत्त्वे ये रतास्त एव धन्या इति भावार्थः। तथा चोक्तं परमात्मतत्त्वलक्षणं श्री पूज्यपादस्वामिभिः—"अस्त्यात्मानादिबद्धः स्वकृतजफलभुक् तत्क्षयान्मोक्षभागी। ज्ञाता दृष्टा स्वदेहप्रमितिरुपसमाहारविस्तारधर्मा ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मा स्वगुणयुत इतो नान्यथा साध्यसिद्धिः" ॥ ४३ ॥

[illegible]

चार तरहके वन्धनोंसे रहित है, यद्यपि अशुद्धनिश्चयनयसे अपने उपार्जन किये शुभ अशुभ कर्मोंके फलका भोक्ता है, तो भी शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे निज शुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न हुए वीतराग परमानन्द सुखरूप अमृतका ही भोगने वाला है। यद्यपि व्यवहारनयसे कर्मोंके क्षय होनेके वाद मोक्षका पात्र है, तोभी शुद्ध पारिणामिक परमभावग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे सदा मुक्तही है। यद्यपि व्यवहारनयकर इन्द्रियजनित मति आदि क्षयोपशमिकज्ञान तथा चक्षु आदि दर्शन सहित है, तो भी निश्चयनयसे सकल विमल केवलज्ञान तथा केवलदर्शन स्वभाववाला है। यद्यपि व्यहारनयकर यह जीव नामकर्मसे प्राप्त देहप्रमाण है, तो भी निश्चयनयसे लोकाकाशप्रमाण असंख्यातप्रदेशी है। यद्यपि व्यहारनयसे प्रदेशोंके संकोच-विस्तार सहित है, तो भी सिद्धावस्थामें संकोच-विस्तारसे चरम शरीरप्रमाण प्रदेशवाला है। यद्यपि पर्यायार्थिकनयसे उत्पाद व्यय ध्रौव्यकर सहित है, तो भी द्रव्यार्थिकनयकर टंकोत्कीर्ण ज्ञानके अखंड स्वभावसे ध्रुवही है। इस तरह पहले निज शुद्धात्मद्रव्यको अच्छी तरह जानकर और आत्मस्वरूपसे विपरीत पुद्‌गलादि पर द्रव्योंको भी अच्छी तरह निश्चयकरके अर्थात् आपपरका निश्चय करके वादमें समस्त मिथ्यात्व रागादि विकल्पोंको छोड़कर वीतराग चिदानन्द स्वभाव शुद्धात्मतत्त्वमें जो लीन हुए हैं, वेही धन्य हैं। ऐसा ही कथन परमात्मतत्त्वके लक्षणमें श्री पूज्यपादस्वामीने कहा है, "नाभाव" इत्यादि। अर्थात् यह आत्मा व्यवहारनयकर अनादिका वन्धा हुआ है, तथा अपने किये हुए कर्मोंके फलका भोक्ता है, उन कर्मोंके क्षयसे मोक्षपदका भोक्ता है, ज्ञाता है, देखनेवाला है, अपनी देहके प्रमाण है, संसारावस्थामें प्रदेशोंके संकोच विस्तारको धारण करता है, उत्पादव्यय ध्रौव्य सहित है, और अपने गुण पर्याय युक्त है। इसप्रकार आत्माके जाननेसे ही साध्यकी सिद्धि है, दूसरी तरह नहीं है ॥ ४३ ॥

अथ योऽसावेवोपशमभावं करोति तस्य निन्दाद्वारेण स्तुतिं त्रिकलेन कथयति—

आगे जो संयमी परम शान्त भावका ही कर्ता है, उसकी निन्दा द्वारा स्तुति तीन गाथाओंमें करते हैं—

द्वौ अपि दोषौ भवतः तस्य यः समभावं करोति।
बन्धं एव निहन्ति आत्मीयं अन्यत् जगद् ग्रहिलं करोति ॥ ४४ ॥

अयमत्र भावार्थः–समशब्देनात्राभेदनयेन रागादिरहित आत्मा भण्यते, तेन कारणेन योऽसौ समं करोति वीतरागचिदानन्दैकस्वभावं निजात्मानं परिणमति तस्य दोषद्वयं भवति। कथमिति चेत्। प्राकृतभाषया बन्धुशब्देन ज्ञानावरणादिबन्धा भण्यन्ते गोत्रं च येन कारणेनोपशमस्वभावेन परमात्मस्वरूपेण परिणतः सन् ज्ञानावरणादिकर्मबन्धं निहन्ति तेन कारणेन स्तवनं भवति, अथवा येन कारणेन बन्धुशब्देन गोत्रमपि भण्यते तेन कारणेन बन्धुघाती लोकव्यवहारभाषया निन्दापि भवतीति। तथा चोक्तम्–लोकव्यवहारे ज्ञानिनां लोकः। पिशाचो भवति लोकस्याज्ञानिजनस्य ज्ञानी पिशाच इति ॥ ४४ ॥

भावार्थः—यह निन्दा द्वारा स्तुति है। प्राकृत भाषामें बन्धु शब्दसे ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध लियाजाता है, तथा भाईको भी कहते हैं। यहांपर बन्धु-हत्या निन्द्य है, इससे एक तो बन्धु-हत्याका दोष आया तथा दूसरा दोष यह है, कि जो कोई इनका उपदेश सुनता है, वह वस्त्र आभूषणका त्यागकर नग्न दिगम्बर होजाता है। कपड़े उतारकर नंगा होजाना उसे लोग गहला-पागल कहते हैं। ये दोनों लोक-व्यवहारमें दोष हैं, इन शब्दोंके ऐसे अर्थ ऊपरसे निकाले हैं। परन्तु दूसरे अर्थमें कोई दोष नहीं है, स्तुतिही है। क्योंकि कर्मबन्ध नाश करनेही योग्य है, तथा जो समभावका धारक है,वह आप नग्न दिगम्बर होजाता है, और अन्यको दिगम्बर करदेता है, सो मूढ़ लोग निन्दा करते हैं। यह दोष नहीं है गुणही है। मूढ़ लोगोंके जाननेमें ज्ञानीजन बावले हैं, तथा ज्ञानियोंके जाननेमें जगतके जन बावले हैं। क्योंकि ज्ञानी जगतसे विमुख हैं, तथा जगत् ज्ञानियोंसे विमुख है ॥ ४४ ॥

अथ–आगे समभावके धारक मुनिकी फिरभी निन्दा-स्तुति करते हैं–

अन्य अपि दोषो भवति तस्य यः समभावं करोति।
शत्रुमपि मुक्त्वा आत्मीयं परस्य निलीनो भवति ॥ ४५ ॥

अयमत्र भावार्थः। यो रागादिरहितस्य निज परमात्मनो भावनां करोति स पुरुषः शत्रुशब्दवाच्यं ज्ञानावरणादिकर्मरूपं निश्चयशत्रुं मुञ्चति परशब्दवाच्यं परमात्मानमाश्रयति च तेन कारणेन

तस्य स्तुतिर्भवति । अथवा यथा लोकव्यवहारेण बन्धनबद्धं निजशत्रुं मुक्त्वा कोऽपि केनापि कारणेन तस्यैव परशब्दवाच्यस्य शत्रोरधीनो भवति तेन कारणेन न निन्दां लभते तथा शब्दच्छलेन तपोधनोऽपीति ॥ ४५ ॥

भावार्थः—जो तपोधन धन-धान्यादिका राग त्यागकर परमशान्त-भावको आदरता है, राजा-रंकको समान जानता है, उसके दोष कभी नहीं होसकता। सदा स्तुतिके योग्य है, तो भी शव्दकी योजनासे निन्दा द्वारा स्तुति की गई है। वह इस तरहसे है कि शत्रुशव्दसे कहे गये जो ज्ञानावरणादि कर्म-शत्रु उनको छोड़कर परशव्दसे कहेगये परमात्माका आश्रय करता है। इसमें निन्दा क्या हुई, वल्कि स्तुति ही हुई। परंतु लोक व्यवहारमें अपने आधीन शत्रुको छोड़कर किसी कारणसे पर शव्दसे कहेगये शत्रुके आधीन आप होता है, इसलिये लौकिक निन्दा हुई, यह शव्दके छलसे निन्दा-स्तुति कीगई। वह शव्दके श्लेप होनेसे रूपालंकार कहा गया है ॥ ४५ ॥

अथ—आगे समदृष्टिकी फिरभी निन्दा-स्तुति करते हैं—

अन्यः अपि दोषः भवति तस्य यः समभावं करोति ।
विकलो भूत्वा एकाकी उपरि जगतः आरोहति ॥ ४६ ॥

अयमत्राभिप्रायः । यः तपस्वी रागादिविकल्परहितस्य परमोपशमरूपस्य निजशुद्धात्मनो भावनां करोति स कलशब्दवाच्यं शरीरं मुक्त्वा लोकस्योपरि तिष्ठति तेन कारणेन स्तुतिं लभते अथवा यथा कोऽपि लोकमध्ये वित्तविकलो भूतः सन् निन्दां लभते तथा शब्दच्छलेन तपोधनोऽपीति ॥ ४६ ॥

भावार्थः—जो तपस्वी रागादि रहित परम उपशमभाव रूप निजशुद्धात्माकी भावना करता है, उसकी शव्दके छलसे तो निन्दा है, कि विकल अर्थात् बुद्धि वगैरहसे भ्रष्ट होकर लोक अर्थात् लोकोंके ऊपर चढ़ता है। यह लोकनिन्दा हुई। लेकिन असलमें ऐसा अर्थ है, कि विकल अर्थात् शरीरसे रहित होकर तीन लोकके शिखर (मोक्ष) पर विराजमान होजाता है। यह स्तुति ही है। क्योंकि जो अनन्त सिद्ध हुए, तथा होंगे, वे शरीर रहित निराकार होके जगत्के शिखरपर विराजे हैं ॥ ४६ ॥

अथ स्थलसंख्यावाह्यं प्रक्षेपकं कथयति—

आगे स्थल संख्याके सिवाय क्षेपक दोहा कहते हैं—

या निशा सकलानां देहिनां योगी तस्यां जार्गात।
यत्र पुनः जार्गात सकलं जगत् तां निशां मत्वा स्वपिति ॥ ४६ ॥

या वीतरागपरमानन्दैकसहजशुद्धात्मावस्था मिथ्यात्वरागाद्यन्धकारावगुण्ठितासती रात्रिः प्रतिभाति। केषाम्। सकलानां स्वशुद्धात्मसंवित्तिरहितानां देहिनाम्। परमयोगी वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानरत्नप्रदीपप्रकाशेन मिथ्यात्वरागादिविकल्पजालान्धकारमपसार्य स तस्यां तु शुद्धात्मना जार्गात। यत्र पुनः शुभाशुभमनोवाक्कायपरिणामव्यापारे परमात्मतत्त्वभावनापराङ्मुखः सन् जगज्जार्गात स्वशुद्धात्मपरिज्ञानरहितः सकलो ज्ञानीजनः रात्रिं मत्वा त्रिगुप्तिगुप्तः सन् वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधियोगनिद्रायां स्वपिति इति निद्रां करोतीति। अत्र बहिर्विषये शयनमेवोपशमो भण्यत इति तात्पर्यार्थः ॥ ४६ ॥

भावार्थः—जो जीव वीतराग परमानन्दरूप सहज शुद्धात्माकी अवस्थासे रहितहैं, मिथ्यात्वरागादि अन्धकारसे मण्डित हैं, इसलिये उन सबोंको वहपरमानन्द अवस्था रात्रिके समान मालूम होती है। कैसे ये जगतके जीव हैं, कि आत्मज्ञानसे रहित हैं, अज्ञानी हैं और अपने स्वरूपसे विमुख हैं, जिनके जाग्रत-दशा नहीं है, अचेत सो रहे हैं, ऐसी रात्रिमें वह परमयोगी वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानरूपी रत्नदीपके प्रकाशसे मिथ्यात्वरागादि विकल्प-जालरूप अंधकारको दूरकर अपने स्वरूपमें सावधान होनेसे सदा जागता है। तथा शुद्धात्माके ज्ञानसे रहित शुभ अशुभ मन वचन कायके परिणमनरूप व्यापारवाले स्थावर जंगम सकल अज्ञानीजीव परमात्मतत्त्वकी भावनासे पराङ्मुख हुए विषय-कषाय रूप अविद्यामें सदा सावधान हैं, जाग रहे हैं, उस अवस्थामें विभावपरिणतिके स्मरण करनेवाले महामुनि सावधान (जागते) नहीं रहते। इसलिए संसारकी दशासे सोतेहुएसे मालूम पड़ते हैं। जिनको आत्मस्वभावके सिवाय विषय-कषायरूप प्रपंच मालूमभी नहीं है। इस प्रपंचको रात्रिके समान जानकर उसमें याद नहीं रखते, मन, वचन, कायकी तीन गुप्तिसे रक्षित हुए वीतराग निर्विकल्प परमसमाधिरूप योगनिद्रामें मग्न होरहे हैं। सारांश यह है,

कि ध्यानी मुनियोंको आत्मस्वरूपही गम्य है, प्रपंच गम्य नहीं है और जगतके प्रपंची मिथ्यादृष्टी जीव उनको आत्मस्वरूपकी गम्य नहीं है, अनेक प्रपंचोंमें (झगड़ोंमें) लगे हुए हैं। प्रपंचकी सावधानी रखनेको भूलजाना वही परमार्थ है तथा वाह्यविषयोंमें जाग्रत होनाही भूल है ॥ ४६ ॥

ज्ञानी मुक्त्वा भावं शमं क्वापि याति न रागम् ।
येन लभिष्यति ज्ञानमयं तेन एव आत्मस्वभावम् ॥ ४७ ॥

तं पूर्वोक्तं समभावं मुक्त्वा क्वापि बहिर्विषये रागं न याति न गच्छति । कस्मादिति चेत् । येन कारणेन लभिष्यति भावि काले प्राप्स्यति । कम् । ज्ञानमयं केवलज्ञाननिर्वृत्तं केवलज्ञानानन्तर्भूतानन्तगुणं । तेनैव समभावेन निर्दोषिपरमात्मस्वभावमिति । इदमत्र तात्पर्यम् । ज्ञानी पुरुषः शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं समभावं विहाय बहिर्भावे रागं न गच्छति येन कारणेन समभावेन बिना शुद्धात्मलाभो न भवतीति ॥४७॥

अथ ज्ञानी पुरुषः परमवीतरागरूपं समभावं मुक्त्वा बहिर्विषये रागं न गच्छतीति दर्शयति—

आगे जो ज्ञानीपुरुष हैं, वे परमवीतरागरूप समभावको छोड़कर शरीरादिपरद्रव्यमें राग नहीं करते, ऐसा दिखलाते हैं—

भावार्थः—जो अनन्तसिद्ध हुए वे समभावके प्रसादसे हुए हैं और जो होवेंगे, इसी भावसे होंगे। इसलिये ज्ञानी समभावके सिवाय अन्य भावोंमें राग नहीं करते। इस समभावके विना अन्य उपायसे शुद्धात्माको लाभ नहीं है। एक समभावही भवसागरसे पार होनेका उपाय है। समभाव उसे कहते हैं, जो पंचेन्द्रीके विषयोंकी अभिलाषासे रहित वीतराग परमानन्द सहित निर्विकल्प निजभाव हो ॥ ४७ ॥

अथ ज्ञानी कमप्यन्यं न भणति न प्रेरयति न स्तौति न निन्दतीति प्रतिपादयति—

आगे कहते हैं, कि ज्ञानीजन समभावका स्वरूप जानता हुआ न किसीसे पढ़ता है, न किसीको पढ़ाता है, न किसीको प्रेरणा करता है, न किसीकी स्तुति करता है, न किसीकी निन्दा करता है—

भणति भाणयति नैव स्तौति निन्दति ज्ञानी न कमपि ।
सिद्धेः कारणं भावं समं जानन् परं तमेव ॥ ४८ ॥

परं भावं परिणामम् । कथं भूतम् । समं रागद्वेषरहितम् । कारणम् । कस्याः । सिद्धेः परं नियमेन तमेव सिद्धिकारणं परिणाममिति । इदमत्रतात्पर्यम् । परमोपेक्षासंयमभावनारूपं विशुद्धज्ञानदर्शननिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिलक्षणं साक्षात्सिद्धिकारणं कारणसमयसारं जानन् त्रिगुप्तावस्थायां अनुभवन् सन् भेदज्ञानीपुरुषः परं प्राणिनं न भणति न प्रेरयति न स्तौति न च निन्दतीति--

भावार्थः--परमोपेक्षासंयम अर्थात् तीन गुप्तिमें स्थिर परम समाधि उसमें आरूढ़ जो परमसंयम उसकी भावनारूप निर्मल यथार्थ सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र वही जिसका लक्षण है, ऐसा मोक्षका कारण जो समयसार उसे जानता हुआ, अनुभवता हुआ, अनुभवी पुरुष न किसी प्राणीको सिखाता है, न किसीसे सीखता है, न स्तुति करता है, न निन्दा करता है । जिसके शत्रु-मित्र सुख-दुःख सब एक समान हैं ॥ ४८ ॥

अथ देवशास्त्रगुरुभक्त्या मुख्यवृत्त्या पुण्यं भवति न च मोक्ष इति प्रतिपादयति--

आगे देव-गुरु शास्त्रकी भक्तिसे मुख्यतासे तो पुण्य-बन्ध होता है, उससे परम्पराय मोक्ष होता है, साक्षात् मोक्ष नहीं, ऐसा कहते हैं--

देवानां शास्त्राणां मुनिवराणां भक्त्या पुण्यं भवति ।
कर्मक्षयः पुनः भवति नैव आर्यः शान्तिः भणति ॥ ६१ ॥

तथाहि--सम्यक्त्वपूर्वकदेवशास्त्रगुरुभक्त्या मुख्यवृत्त्या पुण्यमेव भवति न च मोक्षः । अत्राह प्रभाकरभट्टः । यदि पुण्यं मुख्यवृत्त्या मोक्षकारणं न भवत्युपादेयं च न भवति तर्हि भरतसगररामपाण्डवादयोऽपि निरन्तरं, पञ्चपरमेष्ठिगुणस्मरणदानपूजादिना निर्भरभक्ताः सन्तः किमर्थं पुण्योपार्जनं कुर्युरिति । भगवानाह । यथा कोऽपि रामदेवादिपुरुषविशेषो देशान्तरस्थितसीतादिस्त्रीसमीपागतानां पुरुषाणां तदर्थं संभाषणदानसन्मानादिकं करोति तथा तेऽपि महापुरुषाः वीतरागपरमानन्दैकरूपमोक्षलक्ष्मीसुखसुधारसपिपासिताः

सन्तः संसारस्थितिविच्छेदकारणं विषयकषायोत्पन्नदुर्ध्यानविनाशहेतुभूतं च परमेष्ठिसम्बन्धिगुणस्मरणदानपूजादिकं कुर्युरिति। अयमत्र भावार्थः। तेषां पञ्चपरमेष्ठिभक्त्यादि परिणतानां कुटुम्बिनां पलालवदनीहितं पुण्यमास्त्रवतीति ॥ ६१ ॥

भावार्थः–सम्यक्त्वपूर्वक जो देव, गुरु, शास्त्रकी भक्ति करता है, उसके मुख्य तो पुण्यही होता है और परम्परासे मोक्ष होता है। जो सम्यक्त्व रहित मिथ्यादृष्टी हैं, उनके भाव भक्ति तो नहीं है, लौकिक वाहिरी भक्ति होती है, उससे पुण्यका ही वन्ध है, कर्मका क्षय नहीं है। ऐसा कथन सुनकर श्रीयोगीन्द्रदेवसे प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया हे प्रभो ! जो पुण्य मुख्यतासे मोक्षका कारण नहीं है, तो त्यागने योग्यही है, ग्रहण योग्य नहीं है। जो ग्रहण योग्य नहीं है, तो भरत, सगर, राम पांडवादिक महान् पुरुषोंने निरन्तर पंचपरमेष्ठीके गुण स्मरण क्यों किये ? और दानपूजादि शुभ क्रियाओंसे पूर्ण होकर क्यों पुण्यका उपार्जन किया ? तव श्रीगुरुने उत्तर दिया–कि जैसे परदेशमें स्थित कोई रामादिक पुरुष अपनी प्यारी सीता आदि स्त्रीके पाससे आये हुए किसी मनुष्यसे वातें करता है–उसका सन्मान करता है और दान करता है, ये सव कारण अपनी प्रियाके हैं, कुछ उसके प्रसादके कारण नहीं हैं। उसी तरह वे भरत, सगर, राम, पांडवादि महान् पुरुष वीतराग परमानन्द रूप मोक्षके लक्ष्मीके सुख अमृत-रसके प्यासे हुए संसारकी स्थितिके छेदनेके लिये विषयकषायकर उत्पन्न हुए आर्त रौद्र खोटे ध्यानोंके नाशका कारण श्रीपंचपरमेष्ठीके गुणोंका स्मरण करते हैं, तथा दान पूजादिक करते हैं, परंतु उनकी दृष्टि केवल निजपरिणतिपर है पर वस्तुपर नहीं है। पंचपरमेष्ठीकी भक्ति आदि शुभ क्रियाको परिणत हुए जो भरत आदिक हैं, उनके विना चाहे पुण्यप्रकृतिका आश्रव होता है। जैसे किसानकी दृष्टि अन्नपर है, तृण भूसादिपर नहीं है। विना चाहा पुण्यका वंध सहजमें ही होजाता है। वह उनको संसारमें नहीं भटका सकता है। वे तो शिवपुरीके ही पात्र हैं ॥ ६१ ॥

अथ देवशास्त्रमुनीनां योऽसौ निन्दां करोति तस्य पापबन्धो भवतीति कथयति–

आगे देव, शास्त्र, गुरुकी जो निन्दा करता है, उसके महान् पापका वंध होता है, वह पापी पापके प्रभावसे नरक निगोदादि खोटी गतिमें अनन्तकालतक भटकता है–

देवानां शास्त्राणां मुनिवराणां यो विद्वेषं करोति ।
नियमेन पापं भवति तस्य येन संसारं भ्रमति ॥ ६२ ॥

देवशास्त्रमुनीनां साक्षात्पुण्यबन्धहेतुभूतानां परम्परया मुक्ति कारण भूतानां च योऽसौ विद्वेषं करोति । तस्य नियमेन पापं भवति । येन पापेन संसारं भ्रमतीति । तद्यथा—निजपरमात्मपदार्थो लम्भ-रुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वकारणस्य तत्त्वार्थश्रद्धानरूपव्यवहारसम्य-क्त्वस्य विषयभूतानां देवशास्त्रयतीनां योऽसौ निन्दां करोति स मिथ्या-दृष्टिर्भवति । मिथ्यात्वेन पापं बध्नाति, पापेन चतुर्गतिसंसारं भ्रम-तीति भावार्थः ।

अर्थात् परम्पराय मोक्षके कारण और साक्षात् पुण्यवंधके कारण जो देव शास्त्र गुरू हैं, इनकी जो निन्दा करता है, उसके नियमसे पाप होता है, पापसे दुर्गतिमें भटकता है । भावार्थ—निजपरमात्मद्रव्यकी प्राप्तिकी रुचि वही निश्चय सम्यक्त्व, उसका कारण तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप व्यवहारसम्यक्त्व, उसके मूल अरहंत-देव, निर्ग्रन्थगुरु और दयामयी धर्म, इन तीनोंकी जो निन्दा करता है, वह मिथ्यादृष्टी होता है । वह मिथ्यात्वका महान् पाप वांधता है । उस पापसे चतुर्गति संसारमें भ्रमता है ॥ ६२ ॥

अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरहितानां तीर्थभ्रमणेन मोक्षो न भवतीति कथयति—

आगे वीतराग स्वसंवेदनज्ञानसे रहित जीवोंको तीर्थ-भ्रमण करनेसे भी मोक्ष नहीं है, ऐसा कहते हैं—

तीर्थं तीर्थं भ्रमतां मूढानां मोक्षो न भवति ।
ज्ञानविवर्जितो येन जीव मुनिवरो भवति न स एव ॥ ८५ ॥

तीर्थं तीर्थं प्रतिभ्रमतां मूढात्मनां मोक्षो न भवति । कस्मा-दिति चेत् । ज्ञानविवर्जितो येन कारणेन हे जीव मुनिवरो न भवति स एवेति । तथाहि-निर्दोषिपरमात्मभावनोत्पन्नवीतरागपरमाह्ला-दस्यन्दिसुन्दरानन्दरूपनिर्मलनीरपूरप्रवाहनिर्भरज्ञानदर्शनादि गुण-समूहचन्दनादिद्रुमवनराजितं देवेन्द्रचक्रवर्तिगणधरादिभव्यजीवतीर्थ-यात्रिकसमूहश्रवणसुखकरदिव्यध्वनिरूप राजहंसप्रभृति विविधपक्षि-

कोलाहलमनोहरं यदर्हद्वीतरागसर्वज्ञस्वरूपं तदेव निश्चयेन गङ्गादि तीर्थं न लोकव्यवहारप्रसिद्धं गङ्गादिकम्। परमनिश्चयेन तु जिनेश्वरपरमतीर्थसदृशं संसारतरणोपायकारणभूतत्वाद्वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधिरतानां निजशुद्धात्मतत्त्वस्मरणमेव तीर्थं, व्यवहारेण तु तीर्थंकरपरमदेवादिगुणस्मरणहेतुभूतं मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धकारणं तन्निर्वाणस्थानादिकं च तीर्थमिति। अयमत्र भावार्थः। पूर्वोक्तं निश्चयतीर्थं श्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानरहितानामज्ञानिनां शेषतीर्थं मुक्तिकारणं न भवतीति ॥ ८५ ॥

भावार्थः—निर्दोष परमात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो वीतराग परम आनन्दरूप निर्मलजल उसके धारण करनेवाले और ज्ञानदर्शनादि गुणोंके समूहरूपी चन्दनादिवृक्षोंके वनोंसे शोभित तथा देवेन्द्र चक्रवर्ती गणधरादि भव्य जीवरूपी तीर्थयात्रियोंके कानोंको सुखकारी ऐसी दिव्यध्वनिसे शोभायमान तथा अनेक मुनिजनरूपी राजहंसोंको आदि लेकर नानातरहके पक्षियोंके शब्दोंसे महामनोहर जो अरहंत वीतराग सर्वज्ञ वेही निश्चयसे महातीर्थ हैं, उनके समान अन्यतीर्थ नहीं हैं। वेही संसारके तरनेके कारण परमतीर्थ हैं। जो परमसमाधिमें लीन महामुनि हैं, उनके वेही तीर्थ हैं, निश्चयनयसे निज शुद्धात्मतत्त्वके ध्यानके समान दूसरा कोई तीर्थ नहीं है और व्यवहारनयसे तीर्थंकर परमदेवादिके गुणस्मरणके कारण मुख्यतासे शुभबंधके कारण ऐसे जो कैलास सम्मेदशिखर आदि निर्वाणस्थान हैं, वेभी व्यवहारमात्र तीर्थ कहे हैं। जो तीर्थं तीर्थ प्रति भ्रमण करे, और निज तीर्थका जिसके श्रद्धान परिज्ञान आचरण नहीं हो, वह अज्ञानी है। उसके तीर्थ भ्रमनेसे मोक्ष नहीं होसकता ॥ ८५ ॥

अथ केवलज्ञानादिलक्षणेन शुद्धसंग्रहनयेन सर्वे जीवाः समाना इति कथयति--

आगे केवलज्ञानादि लक्षणसे शुद्धसंग्रहनयकर सब जीव एक हैं ऐसा कहते हैं—

जीवाः सकला अपि ज्ञानमया जन्म-मरणविमुक्ताः।
जीवप्रदेशैः सकलाः समाः सकला अपि स्वगुणैरेके ॥ ९७ ॥

व्यवहारेण लोकालोकप्रकाशकं निश्चयेन स्वशुद्धात्मग्राहकं

यत्केवलज्ञानं तज्ज्ञानं यद्यपि व्यवहारेण केवलज्ञानावरणेन झंपितं तिष्ठति तथापि शुद्धनिश्चयेन तदावरणाभावात् पूर्वोक्तलक्षणकेवलज्ञानेन निर्वृत्तत्वात्सर्वेऽपि जीवा ज्ञानमयाः। व्यवहारनयेन यद्यपि जन्ममरणसहितास्तथापि निश्चयेन वीतरागनिजानन्दैकरूपसुखामृतमयत्वादनाद्यनिधनत्वाच्च शुद्धात्मस्वरूपाद्विलक्षणस्य जन्ममरणनिर्वर्तकस्य कर्मण उदयाभावाज्जन्ममरणविमुक्ताः। यद्यपि संसारावस्थायां व्यवहारेणोपसंहारविस्तारयुक्तत्वाद्देहमात्रा मुक्तावस्थायां तु किञ्चिदूनचरमशरीरप्रमाणास्तथापि निश्चयनयेन लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशत्वहानिवृद्ध्यभावात् स्वकीयस्वकीयजीवप्रदेशैः सर्वे समानाः। यद्यपि व्यवहारेणाव्याबाधानन्तसुखादिगुणाः संसारावस्थायां कर्मझंपितास्तिष्ठन्ति, तथापि निश्चयेन कर्माभावात् सर्वेऽपि स्वगुणैरेकप्रमाणा इति। अत्र यदुक्तं शुद्धात्मनः स्वरूपं तदेवोपादेयमिति तात्पर्यम् ॥ ९७ ॥

भावार्थः—व्यवहारसे लोक अलोकका प्रकाशक और निश्चयनयसे निज-शुद्धात्मद्रव्यको ग्रहण करनेवाला जो केवलज्ञान वह यद्यपि व्यवहारनयसे केवलज्ञानावरणकर्मसे ढका हुआ है, तो भी शुद्धनिश्चयनयसे केवलज्ञानावरणका अभाव होनेसे केवलज्ञानस्वभावसे सभी जीव केवलज्ञानमयी हैं। यद्यपि व्यवहारनयकर सब संसारीजीव जन्म-मरण सहित हैं, तोभी निश्चयनयकर वीतराग निजानन्दरूप अतीन्द्रियसुखमयी हैं। जिनकी आदिभी नहीं और अन्तभी नहीं ऐसे हैं, शुद्धात्मस्वरूपसे विपरीत जन्ममरणके उत्पन्न करनेवाले जो कर्म उनके उदयके अभावसे जन्ममरण रहित हैं। यद्यपि संसारावस्थामें व्यवहारनयकर प्रदेशोंका संकोच विस्तारको धारण करते हुए देहप्रमाण हैं और मुक्त-अवस्थामें चरम (अंतिम) शरीरसे कुछ कम देहप्रमाण हैं, तोभी निश्चयनयकर लोकाकाशप्रमाण असंख्यातप्रदेशी हैं, हानि-वृद्धि न होनेसे अपने प्रदेशोंकर सब समान हैं। यद्यपि व्यवहारनयसे संसार-अवस्थामें इन जीवोंके अव्याबाध अनन्तसुखादिगुण कर्मोंसे ढके हुए हैं, तोभी निश्चयनयकर कर्मके अभावसे सभी जीव गुणोंकर समान हैं। ऐसा जो शुद्ध आत्माका स्वरूप है, वही ध्यान करने योग्य है ॥ ९७ ॥

अथ सर्वजीवविषये समदर्शित्वं मुक्तिकारणमिति प्रकटयति—

आगे ऐसा कहते हैं, कि सबही जीव द्रव्यसे तो जुदे-जुदे हैं, परंतु जातिसे एक हैं और गुणोंकर समान हैं, ऐसी धारणा करना मुक्तिका कारण है—

रागद्वेषौ द्वौ परिहृत्य ये समान् जीवान् पश्यन्ति ।
ते समभावे प्रतिष्ठिताः लघु निर्वाणं लभन्ते ॥ १०० ॥

वीतरागनिजानन्दैकस्वरूपस्वशुद्धात्मद्रव्यभावनाविलक्षणौ रागद्वेषौ परिहृत्य ये केचन सर्वसाधारणकेवलज्ञानदर्शनलक्षणेन समानान् सदृशान् जीवान् निर्गच्छन्ति जानन्ति ते पुरुषाः । कथं भूताः । जीवितमरणलाभालाभसुख-दुःखादिसमताभावनारूपे समभावे प्रतिष्ठिताः सन्तः शीघ्रं आत्यन्तिकस्वभावैकाचिन्त्याद्भुतकेवलज्ञानादिगुणास्पदं निर्वाणं लभन्त इति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा रागद्वेषौ त्यक्त्वा च शुद्धात्मानुभूतिरूपा समभावना कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥ १०० ॥

भावार्थः—वीतराग निजानन्दस्वरूप जो निज आत्मद्रव्य उसकी भावनासे विमुख जो रागद्वेष उनको छोड़कर जो महान् पुरुष केवलज्ञानदर्शनलक्षणकर सवही जीवोंको समान गिनते हैं, वे पुरुष समभावमें स्थित शीघ्रही शिवपुरको पाते हैं। समभावका लक्षण ऐसा है, कि जीवित, मरण, लाभ, अलाभ, सुख, दुःखादि सबको समान जानें। जो अनन्तसिद्ध और होवेंगे, यह सब समभावका प्रभाव है। समभावसे मोक्ष मिलता है। कैसा है वह मोक्षस्थान ? जो अत्यन्त अद्भुत अचिन्त्य केवलज्ञानादि अनन्तगुणोंका स्थान है। यहाँ यह व्याख्यान जानकर रागद्वेषको छोड़के शुद्धात्माके अनुभवरूप जो समभाव उसका सेवन सदा करना चाहिए। यही इस ग्रन्थका अभिप्राय है ॥ १०० ॥

अथ जीववधेन नरकगतिस्तद्रक्षणे स्वर्गो भवतीति निश्चिनोति—

आगे जीवहिंसाका फल नरकगति है और रक्षा करनेसे स्वर्ग होता है, ऐसा निश्चय करते हैं—

जीवं घ्नतां नरकगतिः अभयप्रदानेन स्वर्गः ।
द्वौ पन्थानौ समीपौ दर्शितौ यत्र रोचते तत्र लग ॥ १२७ ॥

निश्चयेन मिथ्यात्वविषयकषायपरिणामरूपं वधं स्वकीयजीवस्य व्यवहारेणेन्द्रियबलायुः प्राणापानविनाशरूपमन्यजीवानां च वधं कुर्वतां नरकगतिर्भवति निश्चयेन वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनपरिणामरूपमभयप्रदानं स्वकीयजीवस्य व्यवहारेण प्राणरक्षारूपमभयप्रदानं पर-

जीवानां च कुर्वतां स्वस्याभयप्रदानेन मोक्षो भवत्यन्यजीवानामभयप्रदानेन स्वर्गश्चेति । एवं द्वौ पन्थानौ समीपे दर्शितौ हे जीव यत्र रोचते तत्र लग्नो भव त्वमिति । कश्चिदज्ञानी प्राह । प्राणा जीवादभिन्ना भिन्ना वा, यद्यभिन्नाः तर्हि जीववत्प्राणानां विनाशो नास्ति, अथ भिन्नास्तर्हि प्राणवधेऽपि जीवस्य वधो नास्त्यनेन प्रकारेण जीवहिंसैव नास्ति कथं जीववधे-पापबन्धो भविष्यतीति । परिहारमाह । कथंचिद्भेदाभेदः । तथाहि—स्वकीयप्राणे हते सति दुःखोत्पत्तिदर्शनाद्व्यवहारेणाभेदः सैव दुःखोत्पत्तिस्तु हिंसा भण्यते ततश्च पापबन्धः । यदि पुनरेकान्तेन देहात्मनोर्भेद एव तर्हि परकीयदेहघाते दुःखं न स्यान्न च तथा । निश्चयेन पुनर्जीवे गतेऽपि देहो न गच्छतीति हेतोर्भेद एव । ननु तथापि व्यवहारेण हिंसा जाता पापबंधोऽपि न च निश्चयेन इति । सत्यमुक्तं त्वया, व्यवहारेण पापं तथैव नारकादिदुःखमपि व्यवहारेणेति । तदिष्टं भवतां चेत्तर्हि हिंसां कुरुत यूयमिति ॥ १२७ ॥

अथ निश्चयेन चिन्तारहितध्यानमेव मुक्तिकारणमिति प्रतिपादयति चतुष्कलेन—

आगे निश्चयसे चिन्तारहित ध्यानही मुक्तिका कारण है, ऐसा कहते हैं—

अर्धोन्मीलितलोचनाभ्यां योगः किं आच्छादिताभ्याम् ।
एवमेव लभ्यते परमगतिः निश्चिन्तं स्थितैः ॥ १६६ ॥

अर्धोन्मीलितलोचनपुटाभ्यां योगो ध्यानं किं भवति अपि तु नैव । न केवलमर्धोन्मीलिताभ्याम् । झंपिताभ्यामपि लोचनाभ्यां नैवेति । तर्हि कथं लभ्यते । एवमेव लभ्यते लोचनपुटनिमीलनोन्मीलननिरपेक्षैः । का लभ्यते । केवलज्ञानादि परमगुणयोगात्परमगतिर्मोक्षगतिः । कैः लभ्यते । ख्यातिपूजालाभप्रभृति समस्तचिन्ताजालरहितैः पुरुषैश्चिन्तारहितैः स्वशुद्धात्मरूपस्थितैश्चेत्यभिप्रायः ॥ १६६ ॥

भावार्थः—ख्याति (बड़ाई) पूजा (अपनी प्रतिष्ठा) और लाभ इनको आदि लेकर समस्त चिन्ताओंसे रहित जो निश्चिन्त पुरुष हैं, वेही शुद्धात्मस्वरूपमें स्थिरता पाते हैं, उन्हींके ध्यानकी सिद्धि है और वेही परमगतिके पात्र हैं ॥ १६६ ॥

अथ—आगे फिर भी चिन्ताका ही त्याग बतलाते हैं—

योगिन् मुञ्चसि चिन्तां यदि ततः त्रुटयति संसारः ।
चिन्तासक्तो जिनवरोऽपि लभते न हंसचारम् ॥ १७० ॥

हे योगिन् मुञ्चसि । काम् । चिन्तारहिताद्विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्परमात्मपदार्थाद्विलक्षणां चिन्तां यदि चेत् ततश्चिन्ताभावात् । किं भवति । नश्यति । स कः । निःसंसारात् शुद्धात्मद्रव्याद् विलक्षणो द्रव्यक्षेत्रकालादिभेदभिन्नः पञ्चप्रकारः संसारः । यतः कारणात् । छद्मस्थावस्थायां शुभाशुभचिन्तासक्तो जिनवरोऽपि लभते न । कम् । संशयविभ्रमविमोहरहितानन्तज्ञानादिनिर्मलगुणयोगेन हंस इव हंसः परमात्मा तस्य आचारं रागादिरहितं शुद्धात्मपरिणाममिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षप्रभृतिसमस्तचिन्ताजालं त्यक्त्वापि चिन्तारहिते शुद्धात्मतत्त्वे सर्वतात्पर्येण भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥ १७० ॥

भावार्थः—हे योगी ! निर्मलज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मपदार्थसे पराङ्मुख जो चिन्ता-जाल उसे छोडेगा तभी चिन्ताके अभावसे संसार-भ्रमण टूटेगा । शुद्धात्मद्रव्यसे विमुख द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भावरूप पांच प्रकारके संसारसे तू मुक्त होगा । जबतक चिंतावान् है, तबतक निर्विकल्प ध्यानकी सिद्धि नहीं होसकती । दूसरोंकी तो क्या बात है, जो तीर्थंकरदेव भी केवल अवस्थाके पहले जबतक कुछ शुभाशुभ चिन्ताकर सहित हैं, तबतक वेभी रागादिरहित शुद्धोपयोगपरिणामोंको नहीं पासकते । संशय विमोह विभ्रम रहित अनन्त ज्ञानादि निर्मल गुण सहित हंसके समान उज्ज्वल परमात्माके शुद्ध भाव हैं, वे चिन्ताके विनाछोड़े नहीं होते । तीर्थंकरदेवभी मुनि होके निश्चिन्तव्रत धारण करते हैं, ऐसा व्याख्यान जानकर देखे सुने भोगे हुए भोगोंकी वांछा आदि समस्त चिन्ताजालको छोड़कर परम-निश्चिन्त हो, शुद्धात्मकी भावना करना योग्य है ॥ १७० ॥

अथ—आगे श्रीगुरु मुनियोंको उपदेश देते हैं, कि मनको मारकर परब्रह्म का ध्यान करो—

योगिन् दुर्मतिः का तव भावकारणे व्यवहारे ।
ब्रह्म प्रपञ्चैर्यद्रहितं तज्ज्ञात्वा मनो मारय ॥ १७१ ॥

हे योगिन् दुर्मतिः का तवेयं भवरहितात् शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपव्यवहारविलक्षणाच्च स्वशुद्धात्मद्रव्यात्प्रतिपक्षभूते पंचप्रकारसंसारकारणे व्यवहारे। तर्हि किं करोमीति चेत्। ब्रह्मशब्दवाच्यं स्वशुद्धात्मानं ज्ञात्वा। कथं भूतं यत्। प्रपञ्चैर्मायापाखण्डैः यद्रहितम्। तं निजशुद्धात्मानं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन ज्ञात्वा। पश्चात्किं कुरु। अनेकमानसविकल्पजालरहिते परमात्मनि स्थित्वा शुभाशुभविकल्पजालरूपं मनो मारय विनाशयेति भावार्थः ॥ १७१ ॥

भावार्थ--वीतराग स्वसंवेदनज्ञानसे शुद्धात्माको जानकर शुभाशुभ विकल्प-जालरूप मनको मारो। मनके विना वशकिये निर्विकल्प ध्यानकी सिद्धि नहीं होती। मनके अनेक विकल्प-जालोंसे जो शुद्ध आत्मा उसमें निश्चलता तभी होती है, जब कि मनको मारके निर्विकल्प दशाको प्राप्त होवे। इसलिए सकल शुभाशुभ व्यवहारको छोड़के शुद्धात्माको जानो ॥ १७१ ॥

अथ--आगे यही कहते हैं, कि सब विषयोंको छोड़कर आत्मदेवको ध्यावो हे प्रभाकर भट्ट--

सर्वैः रागैः षड्भिः रसैः पञ्चभिः रूपैः गच्छत्।
चित्तं निवार्य ध्याय त्वं आत्मानं देवमनन्तम् ॥ १७२ ॥

चिन्तय त्वं हे प्रभाकरभट्ट। कम्। स्वशुद्धात्मानम्। कथं भूतम्। वीतरागपरमानन्दसुखेन दीव्यति क्रीडति इति देवस्तं देवम्। पुनरपि कथं भूतम्। केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाधारत्वादनन्तसुखास्पदत्वादविनश्वरत्वाच्चवानन्तस्तमनन्तम्। किं कृत्वा पूर्वं। चित्तं निवार्य व्यावृत्य। किं कुर्वन् सन्। गच्छत्परिणममानं सत्। कैः करणभूतैः। वीतरागात्स्वशुद्धात्मद्रव्याद्विलक्षणैः सर्वशुभाशुभरागैः। न केवलं रागैः। रसरहिताद्वीतरागसदानन्दैकरसपरिणतादात्मनो विपरीतैःगुडलवणदधिदुग्धतैलघृतषड्रसैः। पुनरपि कैः। अरूपात् शुद्धात्मतत्त्वात्प्रतिपक्षभूतैः कृष्णनीलरक्तश्वेतपीतपञ्चरूपैरिति तात्पर्यम् ॥ १७२ ॥

भावार्थ--वीतरागपरमानन्दसुखमें क्रीड़ा करनेवाले केवलज्ञानादि अनन्तगुणवाले अविनाशी शुद्ध आत्माका एकाग्रचित्त होकर ध्यान कर। क्या करके? वीतराग शुद्धात्म द्रव्यसे विमुख जो समस्त शुभाशुभ राग, निजरससे विपरीत जो

दधि, दुग्ध, तेल, घी, लवण, गुड़, ये छह रस और जो अरूपशुद्धात्मद्रव्यसे भिन्न काले, सफेद, हरे, पीले, लाल, पाँच तरहके रूप—इनमें निरन्तर चित्त जाता है, उसको रोककर आतमदेवकी आराधना कर ॥ १७२ ॥

तथा योगसारेऽपि कथितम्—

और योगसागरमें भी आत्मस्वरूपका कथन किया है—

कालः अनादिः अनादिः जीवः भवसागरः एव अनन्तः ।
मिथ्यादर्शनमोहितः नैव सुखं दुःखमेव प्राप्तवान् ॥ ४ ॥

अर्थ—काल अनादि है, जीव अनादि है और भवसागर अनन्त है। उसमें मिथ्यादर्शनसे मोहित जीवने दुःखही दुःख पाया है, सुख नहीं पाया।

यदि भीतः चतुर्गतिगमनात् ततः परभावं त्यज ।
आत्मानं ध्याय निर्मलं यथा शिवसुखं लभसे ॥ ५ ॥

अर्थ—हे जीव ! यदि तू चतुर्गतिके भ्रमणसे भयभीत है तो परभावका त्याग कर तथा निर्मल आत्माका ध्यानकर, जिससे तू मोक्ष-सुखको प्राप्त कर सके।

इच्छारहितः तपः करोषि आत्मन् आत्मानं जानासि ।
ततः लघु प्राप्नोषि परमगतिं स्फुटं संसारं न आयासि ॥ १३ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! यदि तू इच्छारहित होकर तप करे और आत्माको समझे, तो तू शीघ्रही परमगतिको पाजाय तथा तू निश्चयसे फिर संसारमें न आवे।

आत्मदर्शनं एकं परं अन्यत् न किमपि विजानीहि ।
मोक्षस्य कारणं योगिन् निश्चयेन एतत् जानीहि ॥ १६ ॥

अर्थ—हे योगिन् ! एक परम आत्मदर्शनही मोक्षका कारण है, अन्य कुछ भी मोक्षका कारण नहीं, यह तू निश्चय समझ।

गृहि व्यापारप्रतिष्ठिताः हेयाहेयं जानन्ति ।
अनुदिनं ध्यायन्ति देवं जिनं लघु निर्वाणं लभन्ते ॥ १८ ॥

अर्थ—जो गृहस्थीके धंधेमें रहते हुएभी हेयाहेयको समझते हैं और जिन भगवान्‌का निरन्तर ध्यान करते हैं, वे शीघ्रही निर्वाणको पाते हैं।

जिनं स्मरत जिनं चिन्तयत जिनं ध्यायत सुमनसा ।
तं ध्यायतां परमपदं लभ्यते एकक्षणेन ॥ १९ ॥

अर्थ--शुद्ध मनसे जिनका स्मरण करो, जिनका चिन्तवन करो और जिनका ध्यान करो; उनका ध्यान करनेसे एक क्षणभरमें परमपद प्राप्त होजाता है ।

शुद्धात्मनां च जिनवराणां भेदं मा किमपि विजानीहि ।
मोक्षस्य कारणे योगिन् निश्चयेन एतद् विजानीहि ॥ ॥२० ॥

अर्थ--हे योगिन् ! मोक्षप्राप्त करनेमें शुद्धात्मा और जिन भगवान्में कुछभी भेद न समझो--यह निश्चय मानो ।

यः जिनः स आत्मा (इति) जानीत एषः सिद्धान्तस्य सारः ।
इति ज्ञात्वा योगिनः त्यजत मायाचारम् ॥ २१ ॥

अर्थ—जो जिन भगवान् हैं वही आत्मा है--यही सिद्धान्तका सार समझो । इसे ससझकर, हे योगीजनो ! मायाचारको छोड़ो ।

यः परमात्मा स एव अहं यः अहं स परमात्मा ।
इति ज्ञात्वा योगिन् अन्यत् मा कुरुत विकल्पम् ॥ २२ ॥

अर्थ—जो परमात्मा है वही मैं हूं, तथा जो मैं हूं वही परमात्मा है—यह समझकर, हे योगिन् ! अन्य कुछभी विकल्प मत करो ।

यावत् न भावयसि जीव त्वं निर्मलं आत्मस्वभावम् ।
तावत् न लभ्यते शिवगमनं यत्र भाव्यते तत्र यांत ॥ २७ ॥

अर्थ--हे जीव ! जबतक तू निर्मल आत्मस्वभाकी भावना नहीं करता, तबतक मोक्ष नहीं पासकता । अब जहाँ तेरी इच्छा हो वहाँ जा ।

यः त्रिलोकस्य ध्येयः जिनः स आत्मा निश्चयेन उक्तः ।
निश्चयनयेन एवं भणितः एतत् जानीहि निर्भ्रान्तिम् ॥ २८ ॥

अर्थ--जो तीनों लोकोंके ध्येय जिन भगवान् हैं, निश्चयसे उन्हेंही आत्मा कहा है--यह कथन निश्चयनयसे है। इसमें भ्रान्ति नहीं करनी चाहिये ।

है, उसे ही जिनेन्द्रदेवने धर्म कहा है। वह धर्म पंचमगति (मोक्ष) को लेजाता है।

आयुः गलति नैव मनः (मानः ?) गलति नैव आशा खलु गलति।
मोहः स्फुरति नैव आत्महितं एवं संसारं भ्रमति॥ ४९॥

अर्थ–आयु गलजाती है, पर मन नहीं गलता और न आशाही गलती है। मोह स्फुरित होता है, परन्तु आत्महितका स्फुरण नहीं होता–इस तरह जीव संसारमें भ्रमण किया करता है।

यथा मनः विषयाणां रमते तथा यदि आत्मानं जानाति।
योगी भणति भो योगिनः लघु निर्वाणं लभ्यते॥ ५०॥

अर्थ–जिस तरह मन विषयोंमें रमण करता है, उस तरह यदि वह आत्माको जाननेमें रमण करे, तो हे योगिजनो! योगी कहते हैं कि जीव शीघ्रही निर्वाण पाजाय।

यथा जर्जरं नरकगृहं तथा बुध्यस्व शरीरम्।
आत्मानं भावय निर्मलं लघु प्राप्नोषि भवतीरम्॥ ५१॥

अर्थ–हे जीव! जैसे नरकवास सैकड़ों छिद्रोंसे जर्जरित है, उसी तरह शरीरकोभी (मलमूत्र आदिसे) जर्जरित समझ। अतएव निर्मल आत्माकी भावनाकर, तो शीघ्रही संसारसे पार होगा।

धान्धे (?) पतिताः सकलाः जगति नैव आत्मानं खलु जानन्ति।
तस्मिन् कारणे एते जीवाः स्फुटं न खलु निर्वाणं लभन्ते॥ ५२॥

अर्थ–सबलोग संसारमें अपने अपने धंधेमें फँसेहुए हैं और अपनी आत्माको नहीं पहिचानते। निश्चयसे इसी कारण ये जीव निर्वाणको नहीं पाते, यह स्पष्ट है।

रत्नं दीपः दिनकरः दधि दुग्धं घृतं पाषाणः।
सुवर्णं रूप्यं स्फटिकं अग्निः नव दृष्टान्तान् जानीहि॥ ५७॥

अर्थ–रत्न, दीप, सूर्य, दही, दूध, घी, पाषाण, सोना, चाँदी, स्फटिकमणि, और अग्नि ये (जीवके) नौ दृष्टान्त जानने चाहिये।

देहादिकं यः परं जानाति यथा शून्यं आकाशम् ।
स लघु प्राप्नोति ब्रह्म परं केवलं करोति प्रकाशम् ॥ ५८ ॥

अर्थ–जो शून्य आकाशकी तरह देह आदिको पर समझता है, वह शीघ्रही परब्रह्मको प्राप्त करलेता है और वह केवल प्रकाश करता है ।

नासाग्रेण अभ्यन्तरे (?) ये पश्यन्ति अशरीरम् ।
लज्जाकरे जन्मनि न सम्भवन्ति पिबन्ति न जननीक्षीरम् ॥ ६० ॥

अर्थ–जो नासिकापर दृष्टि रखकर अभ्यन्तरमें अशरीरको (आत्माको) देखते हैं, वे इस लज्जाजनक जन्मको फिरसे धारण नहीं करते और वे माताके दूधका पान नहीं करते ।

आत्मना आत्मानं जानतां किं न इह फलं भवति ।
केवलज्ञानं अपि परिणमति शाश्वतसुखं लभ्यते ॥ ६२ ॥

अर्थ–आत्माको आत्मासे जाननेमें यहां कौनसा फल नहीं मिलता ? और तो क्या इससे केवल-ज्ञानभी होजाता है और जीवको शाश्वत-सुखकी प्राप्ति होती है ।

ये परभावं त्यक्त्वा मुनयः आत्मना आत्मानं जानन्ति ।
केवलज्ञानस्वरूपं लात्वा (लब्ध्वा ?) ते संसारं मुञ्चन्ति ॥ ६३ ॥

अर्थ–जो मुनि परभावका त्यागकर अपनी आत्मासे अपनी आत्माको पहिचानते हैं, वे केवल-ज्ञान प्राप्तकर संसारसे मुक्त होजाते हैं ।

धन्याः ते भगवन्तः बुधाः ये परभावं त्यजन्ति ।
लोकालोकप्रकाशकरं आत्मानं विमलं जानन्ति ॥ ६४ ॥

अर्थ–उन भगवान् पण्डितोंको धन्य है, जो परभावका त्याग करते हैं और जो लोकालोक-प्रकाशक निर्मल आत्माको जानते हैं ।

सागारः अपि अनगारः कः अपि यः आत्मनि वसति ।
स लघु प्राप्नोति सिद्धिसुखं जिनवरः एवं भणति ॥ ६५ ॥

अर्थ–गृहस्थहो या मुनिहो, जो कोईभी निजआत्मामें वासकरता है, वह शीघ्रही सिद्धि-सुखको पाता है, ऐसा जिन भगवान्ने कहा है ।

एषः परिजनः न खलु मदीयः एषः सुख-दुःखयोः हेतुः ।
एवं चिन्तयतां किं क्रियते लघु संसारस्य छेदः ।। ६७ ।।

अर्थ–यह कुटुम्ब परिवार निश्चयसे मेरा नहीं है, यह मात्र-सुख दुःखकाही हेतु है—इसप्रकार विचार करनेसे शीघ्रही संसारका नाश किया जासकता है ।

यथा लोहमयं निगडं बुध तथा सुवर्णमयं जानीहि ।
ये शुभं अशुभं परित्यजन्ति ते अपि भवन्ति खलु ज्ञानिनः ।। ७२ ।।

अर्थ–हे पण्डित ! जैसे लोहेकी साँकलको तू साँकल समझता है उसी तरह तू सोनेकी साँकलकोभी साँकलही समझ । जो शुभ अशुभ दोनों भावोंका परित्याग करदेते हैं, निश्चयसे वे ही ज्ञानी होते हैं ।

यदा मनः निर्ग्रन्थः जीव तदा त्वं निर्ग्रन्थः ।
यदा त्वं निर्ग्रन्थः जीव ततः लभ्यते शिवपन्थाः ।। ७३ ।।

अर्थ–हे जीव ! जव तेरा मन निर्ग्रन्थ होगया तो तूभी निर्ग्रन्थ होगया; और जव तू निर्ग्रन्थ होगया, तो उससे मोक्षमार्ग मिलजाता है ।

यद् वटमध्ये बीजं स्फुटं बीजे वटं अपि खलु जानीहि ।
तं देहे देवं अपि जानीहि यः त्रिलोकप्रधानः ।। ७४ ।।

अर्थ–जैसे वड़के वृक्षमें बीज स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, वैसेही वीजमें भी वड़वृक्ष रहता है । इसी तरह देहमेंभी उस देवको विराजमान समझो, जो तीनों लोकोंमें मुख्य है ।

यः जिनः स अहं स एव अहं एतद्भावय निभ्रान्तम् ।
मोक्षस्य कारणं योगिन् अन्यः न तन्त्रः न मन्त्रः ।। ७५ ।।

अर्थ–जो जिनदेव हैं वह मैं हूं, वही मैं हूं—इसकी भ्रान्ति रहित होकर भावनाकर । हे योगिन् ! मोक्षका कारण कोई अन्य मन्त्र तन्त्र नहीं है ।

आत्मानं दर्शनं ज्ञानं जानीहि आत्मानं चरणं विजानीहि ।
आत्मानं संयमं शीलं तपः आत्मानं प्रत्याख्यानम् ।। ८१ ।।

अर्थ–आत्माकोही दर्शन और ज्ञान समझो; आत्माही चारित्र है और संयम, शील, तप और प्रत्याख्यानभी आत्माकोही मानो ।

रत्नत्रयसंयुक्तः जीवः उत्तमं तीर्थं पवित्रम् ।
मोक्षस्य कारणं योगिन् अन्यः न तन्त्रः न मन्त्रः ॥ ८३ ॥

अर्थ—हे योगिन् ! रत्नत्रययुक्त जीवही उत्तम पवित्र तीर्थ है और वही मोक्षका कारण है । अन्य कुछ मन्त्र तन्त्र मोक्षका कारण नहीं ।

यत्र आत्मा तत्र सकल गुणाः केवलिनः एवं भणन्ति ।
तेन(?)कारणेन योगिनः स्फुटं आत्मानं विमलं जानन्ति ॥ ८५ ॥

अर्थ--जहाँ आत्मा है वहाँ समस्तगुण हैं—ऐसा केवलियोंने कहा है । इसलिये योगी लोग निश्चयसे निर्मल आत्माको पहिचानते हैं ।

एकाकी इन्द्रियरहितः मनोवाक्कायत्रिशुद्ध्या ।
आत्मन् आत्मानं जानीहि त्वं लघु प्राप्नोषि शिवसिद्धिम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू एकाकी इन्द्रियरहित और मन-वचन-कायकी शुद्धिसे आत्माको जान ! उससे तू शीघ्रही मोक्ष-सिद्धिको पावेगा ।

यदि बद्धं मुक्तं मन्यसे ततः बध्यसे निर्भ्रान्तिम् ।
सहजस्वरूपे यदि रमसे ततः प्राप्नोषि शिवं शान्तम् ॥ ८७ ॥

अर्थ—यदि तू बद्धको मुक्त समझेगा तो निश्चयसे तू बँधेगा । तथा यदि तू सहज-स्वरूपमें रमण करेगा तो शान्त-निर्वाणको प्राप्त होगा ।

सम्यग्दृष्टिजीवस्य दुर्गतिगमनं न भवति ।
यदि याति अपि तर्हि(ततः?)दोषः नैव पूर्वं कृतं क्षपयति ॥ ८८ ॥

अर्थ--सम्यग्दृष्टि जीव कुगतियोंमें नहीं जाता । यदि कदाचित् वह जाताभी है तो इसमें सम्यक्त्वका दोष नहीं । इससे वह पूर्वकृत कर्मका ही क्षय करता है ।

आत्मस्वरूपे यः रमते त्यक्त्वा सर्वं व्यवहारम् ।
स सम्यग्दृष्टिः भवति लघु प्राप्नोति भवपारम् ॥ ८९ ॥

अर्थ--जो सर्वव्यवहारको छोड़कर आत्मस्वरूपमें रमण करता है, वह सम्यग्दृष्टि जीव है और वह शीघ्रही संसारसे पार होजाता है ।

यः सम्यक्त्वप्रधानः बुधः स त्रिलोकप्रधानः ;
केवलज्ञानमपि लघु लभते शाश्वतसौख्यनिदानम् ॥ ९० ॥

अर्थ--जिसके सम्यक्त्वका प्राधान्य है वही पण्डित है और वही त्रिलोकमें प्रधान है। वह जीव शाश्वत-सुखके निधान केवल-ज्ञानको भी शीघ्र ही प्राप्तकर लेता है।

अजरः अमरः गुणगणनिलयः यत्र आत्मा स्थिरः तिष्ठति।
स कर्मभिः न बद्धः सञ्चितपूर्वं विलीयते ॥ ९१ ॥

अर्थ--जहाँ अजर अमर तथा गुणोंकी आधार भूत आत्मा स्थिर होजाती है, वहाँ जीव कर्मोंसे बद्ध नहीं होता और वहाँ पूर्वमें संचित किये हुए कर्मोंकाही नाश होता है।

यथा सलिलेन न लिप्यते कमलिनीपत्रं कदा अपि।
तथा कर्मभिः न लिप्यते यदि रतिः आत्मस्वभावे ॥ ९२ ॥

अर्थ--जिस तरह कमलिनीका पत्र कभीभी जलसे लिप्त नहीं होता, उसी तरह यदि आत्मस्वभावमें रति हो तो जीव कर्मोंसे लिप्त नहीं होता।

यः शमसौख्यनिलीनः बुधः पुनः पुनः आत्मानं जानाति।
कर्मक्षयं कृत्वा स अपि स्फुटं लघु निर्वाणं लभते ॥ ९३ ॥

अर्थ--जो शम और सुखमें लीन हुआ पण्डित बार-बार आत्माको जानता है, वह निश्चयही कर्मोंका क्षयकर शीघ्रही निर्वाण पाता है।

पुरुषाकारप्रमाणः जीव आत्मा एषः पवित्रः।
दृश्यते गुणगणनिलयः निर्मलतेजः स्फुरन् ॥ ९४ ॥

अर्थ--हे जीव! पुरुषाकार यह आत्मा पवित्र है, यह गुणोंकी राशि है और यह निर्मल तेजको स्फुरित करती हुई दिखाई देती है।

यः आत्मानं शुद्धं अपि जानाति अशुचिशरीरविभिन्नम्।
स जानाति शास्त्राणि सकलानि शाश्वतसौख्ये (?) लीनः ॥ ९५ ॥

अर्थ--जो शुद्ध आत्माको अशुचि शरीरसे भिन्न समझता है, वह शाश्वत सुखमें लीन होकर समस्त शास्त्रोंको जान जाता है।

वर्जितं सकलविकल्पेन परमसमाधिं लभन्ते।
यद् विन्दन्ति सानन्दं किं अपि तत् शिवसौख्यं भणन्ति ॥ ९७ ॥

अर्थ--जो समस्त विकल्पोंसे रहित होकर परम समाधिको प्राप्त करते हैं, वे आनन्दका अनुभव करते हैं, वह मोक्षसुख कहा जाता है।

सर्वे जीवाः ज्ञानमयाः (इति) यः समभावः ज्ञायते।
तत् सामायिकं जानीहि स्फुटं जिनवरः एवं भणति ॥ ९९ ॥

अर्थ--समस्तजीव ज्ञानमय हैं, इसप्रकार जो समभाव है, उसे निश्चयसे सामायिक समझो, ऐसा जिन भगवान्ने कहा है।

हिंसादिकपरिहारं कृत्वा यः आत्मानं खलु स्थापयति।
तद् द्वितीयं चारित्रं जानीहि यत् पञ्चमगतिं नयति ॥ १०१ ॥

हिंसादिकका त्यागकर जो आत्माको स्थिर करता है, उसे दूसरा चारित्र (छेदोपस्थापना) समझो--यह पंचमगतिको लेजाने वाला है।

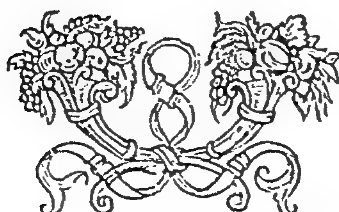
एवं हि लक्षणलक्षितः यः परः निष्कलः देवः।
देहस्य मध्ये स वसति तयोः न विद्यते भेदः ॥ १०६ ॥

अर्थ--इन लक्षणोंसे युक्त परम निष्कलदेव जो देहमें निवास करता है, उसमें और आत्मामें कोईभी भेद नहीं है।

ये सिद्धाः ये सेत्स्यन्ति ये सिध्यन्ति जिनोक्तम्।
आत्मदर्शनेन ते अपि स्फुटं एतत् जानीहि निर्भ्रान्तिम् ॥ १०७ ॥

अर्थ--जो सिद्ध हो चुके हैं, भविष्यमें होंगे और वर्तमानमें होते हैं, वे सब निश्चयसे आत्मदर्शनसेही सिद्ध हुए हैं--यह भ्रान्ति रहित समझो।

॥ तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥



❀ श्रीसर्वोदयतीर्थेऽयं पूर्वार्धग्रन्थः समाप्तः ❀

शुद्धि-पत्र

पेज नम्बर	अशुद्ध	शुद्ध
प्रस्तावना—		
६ पञ्चवी पंक्ति में	था	तथा
२६	अवएत	अतएव
३१ पंक्ति २५ में	इसाका	इसीका
३१ पंक्ति ८ में	परमागस्वरूपी	परमागमस्वरूपी
४	याचानार्जित	याचनार्जित
२३ एवं २२ श्लोक में	दिव्ययथाऽद्भूतया	दिव्ययाऽद्भुतया
५१	आत्मकल्शाणकेलिये	आत्मकल्याणकेलिये
७०	प्रोषद्योपवास	प्रोषधोपवास
७७	गमत	गमन
९३ पंक्ति २३	लिंजयोरपि	लिंगयोरपि
९४ (८२) गाथाके अर्थ में	उत्सर्गलिगकास्वरूप	उत्सर्गलिंगकास्वरूप
९८ अन्तिम पंक्तिमें	अज्जासंसग्गोए	अज्जासंसग्गीए
१०३ अन्तिम पंक्तिमें	सधुओंको	साधुओंको
१०४ श्लोक ५५ में	हस्ताच्च्चयुते	हस्ताच्च्युते
१२१	व्यप्ति	व्याप्ति
१२३	वर्नमान	वर्तमान
१२६	प्रपाणकेसमान	प्रमाणकेसमान
१३० अन्तिम पंक्तिमें	विव्पक्षका	विपक्षका
१३३ पंक्ति १५ में	दाहययुक्त	दाह्ययुक्त
१३३ एवं २२ पंक्ति में	विपययें	विपयमें
१४२ पंक्ति ३ में	अर्हत्परमण्ठीमें	अर्हत्परमेष्ठीमें
१४४ पंक्ति ६ में	रागादयो त्वा	रागादयो वा
१५१	पङिभ प्रमाणै:	पड्भि: प्रमाणै:
१५५	शब्दापशब्दयां	शब्दापशब्दयो:
१५६	मवाप्यते	मवाध्यते
१५७	स्याज्प्रामाण्यम्	तज्ज्ञानस्यात्प्रामाण्यम्

पेज नम्बर	अशुद्ध	शुद्ध
१५७	तग्राह्य	तद्ग्राह्य
१६०	कस्यचिप्रत्यक्षत्वे	कस्यचित्प्रत्यक्षत्वे
१६३	परुस्पर	परस्पर
१६४	त्तस्यादोशोयम्	त्तस्यादोषोयम्
१७२	सामग्रीविज्ञेष	सामग्रीविशेष
१७६	चरित्रसे	तथा चारित्रसे
२०४ श्लोक २ के नीचे के अर्थ में	वेभवशाली	वैभवशाली
२०५ श्लोक ७ में	कार्थण्यं	कार्पण्यं
२१० श्लोक २६ में	मेघावी	मेधावी
२१५ श्लोक ५२ में	ओषधसे	औषधसे
२२२ श्लोक ८४ में	आत्मार्थ	आत्मार्थं
२३३	ओर	और
२४७ श्लोक २०७ में	ओर	और
२५४ श्लोक २३७ में	आहवै	आहवे
२६६ श्लोक ३१४ में	लघुपूउन्नता	लघुपून्नता
२६२ श्लोक १७१ में	प्रपञ्चैर्यद्ररहितं	प्रपञ्चैर्यद्रहितं